जलते और उबलते प्रश्न

जलते और उबलते प्रश्न

मौलिक सैद्धान्तिक समीक्षात्मक निबन्ध



डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

रीडर—हिंदी विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर



बोहरा प्रकाशन, जयपुर-

प्रकाशक
सुशील बोहरा
बोहरा प्रकाशन
खजांची भवन
बोरडी का रास्ता
जयपुर—३

जुलाई १९६९

मूल्य १८.०० रुपये

मुद्रक
स्वदेश प्रिन्टर्स
तेलीपाड़ा जयपुर—३

तेजस्वी साहित्य-चिन्तक
श्री गोपाल कृष्ण कौल
को

प्राक्कथन

सवालो का सीधा मुकाबला, लेखक को न जाने कहाँ कहाँ भटकाता है। कोई एक दूकान नही है जहाँ हर मर्ज के इलाज का नुस्खा मिल सके। सवाल छोटा सा होता है लेकिन उसके जवाब किसी एक किताब एक विचारक या एक सर्जक के पास नही हैं। हर एक महत्वपूर्ण आलोक के नीचे एक अँधेरा भी होता है। एक धारणा एक जगह एक रूप मे है दूसरी जगह दूसरे रूप मे है। किसी भी प्रश्न और खास तौर पर धीमे धीमे जलते उबलते या फिर उबलते जलते प्रश्नो पर रोशनी तलाशने के लिये सिर्फ अपनी भीतरी बुनावट और जुगाली (ब्रूडिंग) काम नही दे सकती। इसलिये सच्चाई की खोज के लिये कोई न कोई "वस्तुगत" विधि अपनाना अनिवार्य हो जाता है।

इन निबन्धो मे मेरी पहुँच (एप्रोच) द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी है। मुझे, लम्बे सोच विचार के बाद द्वन्द्वात्मक दृष्टि सर्वाधिक बुद्धि सगत और उर्वर प्रतीत हुई है। अन्तर्मुखी चिंतन विधियो मे मजा बहुत आता है लेकिन अन्त मे, मैं पाता हूँ कि प्रश्न वही हैं जहा वे थे। जटिल वास्तविकता से टकराते हुए मन को, पूर्व कल्पित विश्वासो से चाहे दिलासा दीजिये या उसे एक निरन्तर तनाव मे रखकर जवाबो की आकस्मिक चमक का इन्तजार कीजिये लेकिन यह भी परितोष नही होता कि हम सही रास्ते पर हैं।

इसके विपरीत वस्तुगत विधि से किये गये ऊहापोह मे यह तसल्ली रहती है कि इससे सत्य के भाग को आलोकित किया जा सकता है प्राप्त निष्कर्षों का पुन परीक्षण किया जा सकता है।

साहित्य और उसमे प्रतिबिम्बित जिन्दगी की हकीकत किसी भी वस्तुगत विधि से पूरी तरह पकड मे नही आ सकती क्योकि प्रकृति की तरह एक श्रेष्ठ कृति और प्रतिभाशाली कृतिकार, नाप तौल से दो चार अगुल हमेशा इधर-उधर हो जाया करता है। इस 'अनिर्वचनीयता' के कारण ही, साहित्य चिंतन तरह तरह की पद्धतिया और दृष्टियो का विकास करता है मैं द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद को एक 'चतुष्कोटि' या 'संभव' के रूप में मानता हूँ जिसकी बुनियादी धारणाओं के विकास, परिशोधन, परिवर्धन के लिए अन्य अनेक अविरोधी पद्धतियों और दृष्टियों का सर्जनात्मक प्रयोग अनिवार्य है लेकिन इस चतुष्कोटि में उन धारणाओं को स्वीकार नहीं किया जा सकता जो मात्र व्यक्तिपरक, अंतर्मुखता या फिर सामाजिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी हैं। उदाहरण के लिए इस पुस्तक में विगतकालीन साहित्य सम्बन्धी प्रतिमानों और रचना प्रणालियों और प्रक्रियाओं का पुनर्परीक्षण किया गया है और वहीं से अतर्दृष्टियों के आकलन का भी प्रयत्न किया गया है, लेकिन पूरी सहानुभूति के साथ अपनी धरोहर" को प्रस्तुत करके भी, उसके रूढ़ साँचे को अस्वीकार कर दिया गया है।

इसी तरह 'आधुनिकता" की धारणाओं में, मेरा आग्रह वामपंथी आधुनिकता पर है क्योंकि मेरा विश्वास है कि पिछड़े हुए देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में हम उन सवालों से संग्राम करता पड़ रहा है जिनका सामना अतिसमृद्धसमाजों (एफ्लुएण्ट सोसाइटीज) को नहीं करना पड़ा है इसलिये समृद्ध समाजों की मनोदशाओं, स्वप्नों और साहित्य रूपों की सीधी नकल हम अपने परिवेश का सर्जक द्रष्टा या स्रष्टा न बनाकर, कल्पपूर्ण अमर बेल अथवा सूखे अधमूखे पौधों पर चिपटे कीड़ों या "परासाइटस" में बदल देनी है। इसलिये हमारे आधुनिक साहित्य की मुद्रा, 'आत्महारा नकारात्मकता तक ही सीमित नहीं रह सकती। दक्षिणपंथी या यथास्थितिपरक सर्जन और चिंतन के विरुद्ध जलते और उबलते हुए मेरे मन का आक्रोश अगर कहीं हमलावर या खूँखार रुख अख्तियार करता है तो उसे 'स्थापित व्यवस्था' के छद्म समर्थकों की मासूम सनक से भिन्न समझना चाहिये। लेकिन मेरा उबाल और तीखापन अपने भीतर एक 'सामाजिक दृष्टि' छिपाये हुए हैं वह किसी भी तरह की व्यक्तिगत कुत्सा और कचोट से परे हैं। कोई भी वास्तविक वामपंथी लेखक अपने और विरोधियों के प्रति बेलाग रहता है या उसे रहना चाहिये कम से कम मेरी कोशिश यही है। मुझे तो यह सारा वातावरण मुर्दघटे जैसा लगता है, जहाँ लोग फूँकने के लिये एकत्र हुए हैं लेकिन इस संग्रह मूलक छीना झपटी, और लाग डाँटी जहनियत से धीरे धीरे सड़ रही लाश में आग कौन लगाये, सवाल यह है ? इस लाचारी की हालत में कोई 'औघड़' या तो हर एक को लताड़ बताता है या फिर दल्दली गिजगिजाहट में सने-सहमे लेकिन कातर लोगों को देखकर वह अट्टहास करता है जो घर जारै आपणा, जो चलै हमारे साथ।

"जलते और उबलते प्रश्न" मे कई निबन्धों का स्वरूप "विवेचनात्मक" है लेकिन उनकी वस्तु या "कन्टेन्ट" गतिशील और सामयिक है। कभी "द्रविड़ प्राणायाम" भी आवश्यक होता है, क्योंकि सत्य तक पहुँचने की सडक सीधी नही होती और इस समय तो अपना साहित्य और जीवन, विश्व की प्रमुख जातियों की जीवन विधि, राजनीति कला दर्शन, साहित्य आदि की "घुसपैठ" का, अंग्रेज तमाशा बन गया है। इस स्थिति मे अपना वतन एक कढाई की तरह है जिसे सभी अपनी-अपनी आग से गरम कर रहे है और इसलिये सवाल जल रहे हैं उबल रहे हैं।

इस हालत मे अगर लेखक विकल्प प्रस्तुत नही करते तो उन्हें लेखक सिर्फ-निष्टतावश ही कहा जा सकता है। यह कतई जरूरी नही है कि साहित्य, विचारधारा या मूल्यांकन सम्बन्धी मान्यताओं के प्रत्येक पक्ष पर वह फतवे सुनाने लगे—लेकिन अब यह भी बरदाश्त नही होता कि हम एक गोल चक्कर में ही घूमते रहें और कहीं भी, निश्चित मत बनाने से लजाएं कि कहीं कोई हमें कुछ बुरे विशेषण फेंक कर न मार दे।

सन्देह युग में, पूर्व कल्पना (हायपोथीसिस के रूप मे ही सही, साहित्य चिन्तकों को अपना मत निर्भ्रान्ति रूप मे प्रस्तुत करना होगा अन्यथा हम ढलान की ओर लुढकने को ही मानव नियति माने बैठे रहेंगे और यह भी जरूरी है कि अपने विकल्प के विरोधी मतो की निर्भय होकर आलोचना की जाय। अपने मत की पुष्टि मे "ज्ञान को ज्ञान से काटने" के नियम का जितना ही अधिक पालन किया जायगा उतना ही पाठक का विश्वास जीता जा सकेगा। इस दृष्टि से ये निबन्ध एक खोज एक तलाश के रूप म ही देखे जाने चाहिए।

समय-समय पर लिखे गये और 'माध्यम', 'आलोचना' 'समालोचक' आदि पत्रो म प्रकाशित तथा परिसवादो मे पठित और चर्चित निबन्धो के अतिरिक्त कुछ निबन्ध यहा प्रथम बार ही प्रकाशित हो रहे हैं बाहरी क्रम का इनमे अभाव है।

इस सग्रह म कुछ निबन्ध एकदम 'असारस्वत' किस्म के है, शायद ऐसे ही कुछ स्थल और 'अनिबन्ध' निबन्धनुमा निबन्ध हैं।

अगर इन निबन्धो स कोई हिला या तिलमिलाया कोई हँसा या फँसा, कोई बिगडा या उखडा कोई जला या भुनसा कोई खिन्न या प्रसन्न हुआ—या यह सब एक साथ हुआ तो समझूँगा, मेहनत कामयाब रही, लेकिन अगर

पाठक म सजनाकुलता और सत्य के प्रति सही जिज्ञासा उत्पन्न हो सकी तो मैं अपने श्रम का सार्थक समझूँगा।

जलत और उबलते प्रश्न" का मुखपृष्ठ, जयपुर के प्रसिद्ध नवचित्रकार श्री प्रमचन्द्र गोस्वामी न तय्यार किया है। नवकथाकार श्री विनन शर्मा श्री हरिनारायण शमा "महर्षि" क सहयोग के बिना प्रश्न मेरे मन म ही जलत उबलते रहत वे पुस्तक रूप मे प्रकाशित और प्रसारित नही हो पाते, इसलिय ये मित्र मेरा कृतज्ञता के पात्र हैं।

जयपुर के "सर्वहारा" प्रकाशक श्री रोशनलाल जन इस पुस्तक का प्रकाशन कर रह हैं उनकी 'साहसिकता' सराहनीय है।

—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
२६ नवकथा साहित्य मे भारतीय सस्कृति	२०९
२७ सामयिक सकट और विद्रोह साहस	२१८
२८ रेखाचित्र और रिपोर्ताज	२२५
२९ कविता–अनुशसा की समस्या	२३६
३० हिन्दी मे अनुसन्धान एक प्रतिक्रिया	२४५
३१ रुचि का सामाजिक अध्ययन	२५७
३२ अकविता एक अनिबन्ध	२६५
३३ सप्तम दशक की कविता	२८९
३४ डा० जिवागो का रोगनिदान	२९९
३५ विद्रोह कविता के विरुद्ध	३०६
३६ पुराकथा और प्रतीक	३१६
३७ राष्ट्रभाषा का प्रश्न खतरे	३२२
३८ हिन्दी प्रदेश और आँकडे	३२६
३९ प्रतिबद्धता बनाम अप्रतिबद्धता	३२९
४० आधुनिकता के विषय म	३३३

साहित्यालोचन—धारणा और पद्धति[1]

काव्य की आत्मा 'रस' है," काव्य म बिम्ब नित्य-सम्बन्धी बन कर रहता है [2] वक्रोक्ति के बिना काव्य की सत्ता नहो होती काव्य या साहित्य जीवन का प्रतिबिम्ब होता है जैसे वाक्य धारणात्मक हैं। ये धारणाएँ वस्तु के स्वरूप का निर्देशित करने के लिए सश्लिष्ट अभिव्यक्तियाँ होती हैं। जैसे जनतन्त्र शब्द धारणात्मक है, जिसमें यह स्थिति निर्देशित है कि राज्य की यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसम साधारण जनता अपने प्रतिनिधियो द्वारा शासन करती है। ये धारणाएँ निष्कर्ष रूप मे, परिभाषा रूप में और सामान्यतः सिद्धान्तरूप म प्रस्तुत की जाती हैं।

धारणा और वर्ण्यविषय या परिस्थिति मे जब तक निकटतम सम्बन्ध होता है तब तक धारणाओ द्वारा वस्तु को समझने म सहायता मिलती है किन्तु वस्तु का स्वरूप, विशेषरूपेण आविष्कृत वस्तु का युगानुरूप परिवर्तन, धारणाओ म सशोधन की माग करता है। उदाहरणत हम आज के विज्ञान को प्राचीन विज्ञान की धारणा-व्यवस्था [3] द्वारा नही समझ सकते, अतएव आधुनिक विज्ञान की नवीनधारणा व्यवस्था की आवश्यकता हुई और विशेषीकरण से इस युग म आज स्थिति यह है कि प्रत्येक शोध-पद्धति की एक अपनी धारणा-व्यवस्था है जिसम रोज बरोज परिवर्तन परिशोधन चल रहा है। वास्तविकता की चुनौती का स्वीकार करते ही, बार-बार धारणाओ का परीक्षण एक स्वीकृत विधि है। साहित्यालोचन अथवा कलालोचन मे भी यही प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई है किन्तु साहित्य-कला के क्षेत्र मे यह प्रक्रिया धीमी रहती है।

इस प्रवृत्ति के अनेक कारण हैं, जिनमे एक प्रमुख कारण यह है कि प्राचीन युगो म भौतिकी और जीवविज्ञानादि की तुलना मे प्राचीनो की

---

१ इस निबन्ध म धारणा Concept के अर्थ म और पद्धति Methodology के अर्थ म प्रयुक्त हैं। —लेखक

2 The image is the constant in all poetry–The Poetic Image C Day Lewis T e Clark Lectures London, 1946, page 17

3 Conceptual frame work

पहुँच सामाजिक, सांस्कृतिक, कलात्मक क्षेत्रों में अधिक थी।[1] फिर भी इन क्षेत्रों में भी, आधुनिक युग में अंधानुकरण नहीं चल सकता। वास्तविकता तो यह है कि प्राचीनों की धारणा व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन आवश्यक है हाँ उनकी "पहुँच" और "पकड़" से लाभ उठाया जा सकता है।

आधुनिक साहित्यालोचन पद्धतियों में शास्त्रीय मतानुगतिकतावाद, शास्त्र संशोधनवाद,[2] द्वन्द्वात्मक भौतिकतावाद, प्रभाववाद[3] तथा मनोविश्लेषणवाद प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। इन पद्धतियों में अन्य पद्धतियों से भी यथास्थान सहायता ली जाती है यथा शास्त्रीय आलोचना में संशोधन संकेत" ही अधिक होते हैं। अभी तक शास्त्रीय आलोचना में इतिहासवाद मनोविश्लेषण और प्रभाववाद के मिश्रित रूप ही मिलते हैं, उसका कोई समन्वित निश्चित रूप सम्मुख नहीं आया है। इसी तरह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी धारणा व्यवस्था पर आधारित साहित्य-परीक्षण में भी मनोविज्ञान को भौतिक या यथायथवादी प्रयोग मानकर उसका यथा स्थान प्रयोग किया जाता है।[4] प्रभाववादी पद्धति भी सर्वथा शुद्ध रूप में नहीं मिलती। वह भी यत्र तत्र अन्य विधियों का यत्किंचित प्रयोग करती है।

द्रष्टव्य यह है कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण से उपर्युक्त पद्धतियाँ जुड़ी हुई हैं। धारणा और पद्धति का यद्यपि नित्य सम्बन्ध नहीं माना जाता क्योंकि आज जैसा कि हम आगे देखेंगे, साधक पद्धति को अपना लेते हैं

1 Whereas Aristotle's logic ethics, aesthetics politics and psychology were accepted as authoritative by subsequent periods his notions of astronomy physics and biology were progressively being relegated to the scrap heap of ancient superstitions

-Ideology and Utopia-Karl Mannheim Preface Louis Wirth P XVI London 1948

२ द्रष्टव्य—डा० नगेन्द्र का रस सिद्धान्त

३ 'अत्याधुनिक' समीक्षा का स्वरूप समग्रत प्रभाववादी है।

४ उदाहरणत मानव चेतना का समाज द्वारा परिवर्तन (पावलोव) भूतकालीन प्रभावों के अध्ययन के लिए युग का सामूहिक अवचेतन परम्परा और परिवार के अध्ययन के लिए—मनोविज्ञान की मान्यता आदि प्रवृत्तियाँ द्रष्टव्य हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण का भी प्रयोग कई प्रगतिवादी विचारकों ने किया है परन्तु यत्र तत्र ही। अब फ्रायड, एडलर, युग आदि का महत्त्व गौण होता जा रहा है।

धाराणाओ को या तो छोड़ देते हैं अथवा उनमे सशोधन कर लेते हैं। फिर भी धारणा और पद्धति का सम्बन्ध घनिष्ठ होता है और यदि किसी के केन्द्रगत धारणा विन्यास को परख लिया जाए तो उसके द्वारा प्रयुक्त पद्धति या पद्धतियो के प्रयोग के स्वरूप को केन्द्रगतधारणा के निकट पाया जायगा।

साहित्यसृष्टि की भाँति साहित्यालोचन भी अतदृष्टिपरकअधिक होता है। एक कवि अपने निष्कर्षों, सवेदनो, भावों और कल्पनाओ का किसी *कृति के रूप म क्षम प्रयोग करता है यह न कवि प्रयोग द्वारा प्रमाणित कर* सकता है न आलोचक, क्योकि साहित्य और कला द्रष्टा (भोक्ता) और वास्तविकता के 'द्वन्द्व' और सगति' का परिणाम हैं। कही साहित्य-कला मे जीवन की अनुकृति होती है, कही पुनसृजन, कही परिवर्तन कही समपण, कही सुधार, कहो मात्र ऐन्द्रिय सवेदनो का चित्रण। किन्तु इन सभी क्रियाओ म दो तत्व सामान्य हैं व्यक्ति और वास्तविकता। तीसरा तत्व है इन दोनो का आपसी सम्बन्ध। इस सम्बन्ध या सम्पर्क का स्वरूप जसा होगा, कला-पद्धति भी उससे अवश्य प्रभावित होगी। इसी प्रकार साहित्यालोचन म भी वास्त विकता के प्रति अनुसधानकर्त्ता की धारणा के अनुसार उसकी पद्धति प्रभावित होगी।

व्यक्ति की वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया साहित्य मे अन्तमु खी होकर ही व्यक्त होती है अत जब तक किसी ऐसे यन्त्र का आविष्कार नही हो जाता कि सृजन प्रक्रिया प्रारम्भ होते ही शरीर से सटे यन्त्र द्वारा अवयव *सस्थान या स्नायुमण्डल की पूण प्रतिकृति हमारे सम्मुख उपस्थित हो सके*, तब तक 'अन्तदृष्टिवादी पद्धति'[1] का प्रयोग अवश्य होगा। यदि इस विधि द्वारा अन्य व्यक्ति का चिंतन प्रक्रिया दिखाई नही जा सकती तो प्रत्येक की अन्तदृष्टि अपने अपने गतानुगतिक सस्कार परिस्थितियो आदि के कारण भिन्न होगी। अतएव सहमतियो के साथ असहमतियो का विकास भी साथ ही-साथ हुआ और यह प्रक्रिया यो चलती रहगी—सजन प्रक्रिया—सहमति + असहमति—सहमति—असहमति—सशोधन—सहमति—असहमति ।

साहित्यालोचन मे द्वितीय पद्धति 'अवयव विश्लेषणवादी" पद्धति है। यह पद्धति भी बड़ी पुरानी है। उदाहरणत भरत मुनि ने 'रस' की निष्पत्ति म विभाव, अनुभाव सचारी स्थायी की अलग अलग व्याख्या की है और इनके विशिष्ट समीकरण स 'रस' की निष्पत्ति सिद्ध की है।[2] आज भी साहित्य मे

---

१ Introspection

२ इस धारणा म 'भाव और वास्तविकता की अभिज्ञा (Cognition) के सम्बन्ध पर बिलकुल ध्यान नही दिया गया। वास्तविकता के प्रति एक

बुद्धितत्त्व, कल्पनातत्त्व, भावतत्त्व पर विचार होता है और फिर यह भी मान जाता है कि इन सबकी विशिष्ट सृष्टि ही साहित्य का सौन्दर्य है। रोचक तथ्य यह है कि ऐसे ग्रंथ इस अवयव विश्लेषणवाद के घोर विरोधी को भी प्रस्तुत किया जाता है, और साथ ही आग्रह सामान उद्धरण अवयवी जैसे अवयव विश्लेषणवादियों को भी। किन्तु अभी तक 'अवयवीवादी' पद्धति का प्रयोग भूमिका और उपसंहार में ही दिखाई पड़ता है। जहाँ प्राचीन आचार्य एक समग्रतावादी प्रारम्भ के बाद तुरन्त 'विभाजनवादी' अपना लेते हैं क्योंकि यह सुविधाजनक है उसी प्रकार 'अवयववादी पद्धति' का प्रयोग हमारी आलोचना में अधिक है। कला साहित्य सम्बन्धी सामान्य प्रश्नों (कला साहित्य के प्रयोजन, जीवन से इसका सम्बन्ध आदि) में भी अवयवीवादी दृष्टिकोण विकसित नहीं हो पाता। अवयववादी (Atomistic) विधि का ही अब भी अधिक प्रयोग होता है।

अवयवीवादी पद्धति की पृष्ठभूमि में धारणा यह है कि वस्तुनिरीक्षण में हम वस्तु के 'पूर्ण' रूप को देखते हैं अवयव विशेष को नहीं। साहित्यालोचन के शब्दों में हम 'काव्य' या कथा के समग्र-सौन्दर्य या सार्थकता या 'रूप' को सर्वप्रथम देखते हैं किसी अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति आदि को नहीं। इनकी ओर बाद में ध्यान दिया जा सकता है। धारणा की दृष्टि से यह बात पुरानी है। किन्तु इसको गस्टाल्ट मनोविज्ञान ने प्रायोगिक आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है इसलिए यह अधिक उपयोगी हो गया है।

गस्टाल्टमत अन्तर्दृष्टिवाद[1] का घोर विरोधी है पर वह व्यवहारवादियों की तरह जीवन को यान्त्रिक भी नहीं मानता। वह 'प्रत्यक्ष-अनुभव'[2] (सामान्य ज्ञान पर आधारित यथा यह कुर्सी है, यह पुस्तक है, मैं क्षुब्ध हूँ, वह रो रहा है आदि अनुभव) को भी मानता है। गस्टाल्ट मत तटस्थ अध्ययन

अपरिवर्तनवादी या यथास्थितिरक्षक दृष्टिकोण के कारण भारतीय काव्यशास्त्र केवल रसवाद के आधार पर अद्यतन कला और उससे प्रभावित नवीन काव्य का सही विश्लेषण नहीं कर सकता। क्योंकि इसमें वास्तविकता की अभिज्ञा" पर ही बल अधिक है अनेक संचारियों द्वारा किसी एक स्थायी भाव की रससिद्धि पर नहीं। हाँ ध्वनि' को कलाभाव की अनिवार्य प्रक्रिया माना जा सकता है।

1 It makes his introspection a mere defense of medieval darkness-Gestalt Psychology W Kohler Mentor Book New York 1959 P 11

2 Direct experience

और प्रयोग चाहता है जिसके लिए दृष्टि में अनुभूति की निजता और रुचि की विशिष्टता अथवा अतमुखी अंश को अपेक्षित करना आवश्यक है।

अतएव इस मनोविज्ञान के अनुसार अतदृष्टिपरक तथा अनुभव या वस्तु को अवयवों में विभाजित करने की पद्धति गलत है। हमारे आलंकारिकों की तरह प्रायोगिक मनोवैज्ञानिक भी प्रारम्भ में अनुभव को अवयवविभाजनवाद पर ही आधारित करके व्याख्यायित करने लगे थे। वुण्ड, टिचनर आदि अवयव से अवयवी की ओर चलते हैं, जबकि सही पद्धति यह है कि अवयवी से अवयव की ओर चला जाए। क्योंकि अवयवों का मुख्य योगदान 'पूर्ण' या 'अवयवी' की सृष्टि है।[1] साथ ही समग्रता से देखने पर ही कारण-कार्य समर्थित हो सकते हैं।

वर्दीमियर (Werthemer) ने आकृतियों की गति पर कार्य करके यह सिद्ध किया कि दृष्टि के विषयों में अंगी या अवयवी ही अवयवों को अनुशासित रखता है। अंशों या अवयवों (जैसे अलंकार, भाव, विचार, कल्पनादि) को भिन्न भिन्न प्रकार से प्रयुक्त करने पर भिन्न भिन्न अवयवी (सौन्दर्य या 'अभीप्स्य) प्राप्त होते हैं। संगीत में 'स्वर' अवयव हैं राग अवयवी है। इसी तरह ऋतुओं में विभिन्न 'वस्तु प्रारूप' उभरते हैं।

इस 'पूर्ण' या 'अवयवी' में अवयवों का परस्पर सम्बन्ध तथा अवयवों का अवयवी से सम्बन्ध समझना ही इष्ट है। कोई अवयवी निरपेक्ष नहीं है, कोई अवयव निरपेक्ष नहीं है। उदाहरणत संवेदन के विश्लेषण से पता चलता है कि "स्थानीय ऐन्द्रिय संवेदन" भी निरपेक्ष नहीं होते। इन संवेदनों के ज्ञान में भी अवयवीवादी पद्धति ही शरीर शास्त्र द्वारा प्रमाणित होती है।[2]

अतः रचना की स्थिति में पूर्ण चेतना क्षेत्र सक्रिय रहता है। स्मृतियाँ, वर्तमान के प्रति प्रतिक्रियाएँ, आशाआकांक्षाएँ (भविष्य), उत्साह आदि भाव और रूप निर्माणक्षम प्रज्ञा (कल्पना) अवयव या 'तत्व' जाने-अनजाने रूपों में प्रवृत्त होते हैं अतः रचना यान्त्रिक प्रक्रिया न होकर एक गत्यात्मक स्थिति है।

---

1 Contemporary Psychology R S Woodworth Asia Publishing House Bombay 1961 P 122

2 Instead of reacting to local stimuli by local and mutually independent events the organism responds to the pattern of stimuli to which it is exposed and that this answer is *Unitary process a functional whole* which gives in experience a sensory scene rather than a mosaic of local sensations —Wood worth 134

किन्तु जिसे हम 'अलौकिक तत्व या शक्ति'¹ समझते हैं वह वस्तुत भूतकाल कृत संस्कार या आत्मविश्वास प्राप्ति का मनोवैज्ञानिक उपाय मात्र है। अतएव गस्टाल्टमत प्राणवत्तावाद (Vitalism—रूपसी) को प्रामाणिक नहीं मानता।

इस प्रकार मानव व्यवहार "चेतनाक्षेत्रगामित" रहता है और इस क्षेत्र में अनेक अवयवों का आन्दोलन चलता रहता है। स्पष्टत इस मत में फ्रायड द्वारा कल्पित चेतन-अवचेतन के स्वतन्त्र क्षेत्र स्वीकृत नहीं हैं, क्योंकि आत्मजागरूक चेतन अनुभव तथा शेष मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में कोई निश्चित दीवाल नहीं प्रमाणित होती। चेतन अवचेतन दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और इनमें संगति भी बन जाती है। ये कोई परस्पर विरोधी और सर्वथा स्पष्ट तत्व नहीं हैं—

This dividing of the individual into distinct entities which are always warring against each other gives an *unreal picture of what actually goes on in thought feeling* and behaviour (Woodworth P 191)

इसका अर्थ यह नहीं है कि फ्रायड की उक्त धारणाओं का त्याग कर उसकी मनोविश्लेषण विधि का संशोधित रूप में प्रयोग नहीं होगा किन्तु उसका इतना अधिक संशोधन हो गया है कि अब उसे अनिर्देशित उपचार विधि" कहते हैं।² फ्रायड के मनोविश्लेषण से वही अधिक विश्वसनीय गस्टाल्ट मत का क्षेत्र सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव रचना (या व्यवहार) के विषय में विचार करते समय सभी सहअस्तित्ववान तथ्योंपर विचार आवश्यक है ये सभी सहअस्तित्वी तथ्य गत्यात्मक क्षेत्र' के सदृश हैं और इनमें प्रत्येक अवयव एक दूसरे के प्रभावक हैं। यह सिद्धान्त यह भी मानता है कि रचना और व्यवहार का कारण वर्तमान काल है भविष्य और भूतकाल नहीं जैसा कि अध्यात्मवादी तथा साहचर्यवादी (Associationist) मानते हैं। परन्तु वर्तमान को भूत और भविष्य के सन्दर्भ से अलग नहीं किया जा सकता।

---

१ उदाहरणत प्रेरणावादी पद्धति में कवि को अलौकिक शक्तियों से आविष्ट माना जाता है। सुकरात ने भी इस दिव्य आवेश की चर्चा की है।

२ फ्रायड अपने आरम्भिक सोपान में प्रत्येक स्नायुरोग का कारण बचपन की दमित ग्रन्थियों में खोजते थे। किन्तु अब इसके स्थान पर एक Non-directive उपचार विधि प्रचलित है। इसमें रोगी को आत्म विवेचन" का पूर्ण अवसर दिया जाता है। अब उपचारक फ्रायडवादियों की तरह रोगी

प्रौढ जीवन म दो ध्रुव हान है, अह और वातावरण। ये दो शीप चुम्बक शीप की तरह है जिनक मध्य म शक्ति या दवाव रहता है। ये सिरे निरन्तर एक दूसर का प्रभावित करत हैं। प्रारम्भ म शिशु 'स्व' और 'पर' मे भेद नही करता परन्तु फिर वह ' निजता" का अनुभव करने लगता है, इससे 'अलगाव', ' तनाव" और त्वष वढन लगता है। अह किसी वस्तु के शीप की तरह न हाकर एक सकुल और अनक उपव्यवस्थाओ (Sub systems) से सयुक्त रहता है। यह अह कभी पूणत वातावरण के साथ ' सतुलित" नही रहता, न वह कभी पूण विश्राम करता है यह सवदा कही न कही गमनशील रहता है। अत इस पूण स्थिति" (Gestalt) का दशन करना ही वस्तुत सही अतदृष्टि ' है। इस प्रकार यह मत अतदृष्टि" को एक नया अथ देता है— पूण-परिस्थिति का दशन" ।

पशुओ पर किये गये अनक प्रयोगा द्वारा प्राप्त अन्तदृष्टि की इस नयी व्याख्या स तथा उपयुक्त चेतना क्षेत्र क गस्टाल्ट को ध्यान मे रखने पर हम किसी कलाकृति द्वारा सकेतित परिस्थिति-दशन" करके, फिर हम ' जीवन की पूणता के साथ उसकी तुलना कर सकते हैं और इसी तरह किसी कृति म अह विशप आर वातावरण म टकराहट सगति, समाधान, आदि का क्या रूप है इस भी समझ सकते है।

इस प्रकार साहित्य शिक्षण मे भी छात्रो या श्रोताआ के सम्मुख समस्याओ को इस तरह प्रस्तुत करना होगा कि वे स्वस्थ "पूणपरिस्थिति" (To al situation) पर विचार कर सकें और उसक सदभ मे 'कलाकृति' का महत्व निश्चित कर सकें। इस पूणता की ओर अय मानव विज्ञान हमे ले

के सम्मुख उसकी किसी दमित ग्रन्थि को खोलकर उसे ग्रस्त नही करता, क्योकि इस 'ग्रन्थि' की मनमानी कल्पना या स्वप्न की केवल रतिपरक व्याख्या अवज्ञानिक मानी जाती है। वस्तुत इस नवीन 'आत्मविरेचन' विधि का प्रयोग रचनाकारो के ऊपर भी किया जा सकता है। पूण विश्वास उत्पन्न कर तथा वास्तविक सहानुभूति दकर, रचनाकार द्वारा आत्मविरेचन से हम मनमानी '*प्रतीकव्याख्या*' स कहा अधिक सत्य क निकट पहुँच सकते है। किन्तु इसके लिए आलोचक और रचनाकार क बीच घनिष्ठ मत्री भाव अपेक्षित है। मात्र सम्पक म रचनाकार ' सावधान" अधिक रहते है, उनकी घोषणाओं के वक्तो व्याघात की चिन्ता न कर, उनक अतमन की पठ कही अधिक उपयोगी हो सकती है। परन्तु इस काय मे आलोचक या शोधक म घोर तटस्थता की आवश्यकता है।

जाते हैं और उनका सर्वदा आग्रह इसी तथ्य पर रहता है कि कृति या अन्य किसी का भी अध्ययन "परिस्थिति-सापेक्ष" (Situational) हो।[1]

गस्टाल्ट मनोविज्ञान से परिचय के बिना भी बहुत से चिंतकों का ध्यान उक्त Totality या समग्रता पर गया है। कालरिज का प्रसिद्ध वक्तव्य इस सन्दर्भ मे पुन स्मरणीय है—

'Images however beautiful do not themselves characterise the poet They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominant *passion or by associated thought* or images awakened by the passion

यहाँ एकत्ववादी (Unitary) पद्धति ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार साहित्यालोचन मे साहित्य के अंगो को अलग अलग टुकडो मे बाँटकर किया गया अध्ययन रीतिकालीन प्रवृत्ति है। टुकडीकरण और असम्प्रथित दृष्टि पांडित्यप्रदर्शनपरक अंधी और मानसिक दासता विधि है।[2]

इस समग्रतावादी पद्धति और धारणा के बाद यह प्रश्न उठ सकता है कि अंतत गस्टाल्ट मत भी पूर्णत अंतर्मुखता पर विजय नही पा सका क्योंकि वह "प्रत्यक्ष अनुभव" को मान लेता है। तब क्या साहित्य का परीक्षण केवल प्रायोगिक हो सकता है?

सर्वप्रथम फ़ैक्नर[3]ने प्रायोगिक सौन्दर्य शास्त्र का प्रवर्तन किया था। उसने 'मडोना' के चित्रो की एक प्रदर्शिनी की और प्रत्येक दर्शक से अपनी प्रतिक्रियाओ को व्यक्त करने के लिए कहा। किन्तु ग्यारह हजार दर्शकों मे केवल ११३ व्यक्तियो ने अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की। इनमे भी फ़ैक्नर द्वारा निर्देशित पद्धति और प्रश्नो का अनुसरण नही किया गया। दूसरी कठिनाई यह रही कि दर्शको मे कुछ 'कला-आलोचको' ने भी अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की जो पूर्व से ही अपना निर्णय निश्चित कर चुके थे। फिर भी यह प्रयोग संभावनापूर्ण[4] माना जाता है। १८७६ ई० मे फ़ैक्नर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक, सौन्दर्य

१ कार्ल मनहीम द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का समाजशास्त्र इसी धारणा पर आश्रित है—द्रष्टव्य—Ideology and Utopia

2 The piecemeal attack is sometimes very pains taking but it is blind stupid slavish and pedantic —Woodworth P 147

3 Gustav Theodor Frechner (1801–1887)

4 'Nevertheless the idea had merit and has been looked upon as the method of imprrssion —A History of Experimental Psychology E G Boring P 275

शास्त्र के प्रायोगिक-परीक्षण और तत्सम्बंधित धारणाओं पर, प्रकाशित की। इसमे प्रथम बार 'प्रयोगात्मक सौंदर्यशास्त्र' का रूप स्पष्ट हुआ।[1] यह आश्चर्य का विषय है कि फ़क्नर के बाद इस प्रकार के अनुसंधान हुए ही नहीं। यत्र तत्र "प्रभाव" को लेकर जाँच पड़तालें अवश्य हुई हैं।[2]

यह एक तथ्य है कि प्रायोगिक सौन्दर्यशास्त्र की बड़ी संभावनाएँ हैं, इससे आलोचना और शोध के पिष्टपेषित तरीकों में वैविध्य आ सकेगा और साहित्य और समाज के सम्बन्ध, साहित्य के प्रभाव और सीमा तथा समाज की साहित्य के विषय में रुचि और प्रवृत्ति का प्रामाणिक विवरण मिल सकेगा। एक मनोविज्ञानवेत्ता ने 'आलोचना और शोध' पर यह आरोप लगाया कि आप लोग वास्तविक शोध के लिये "कच्चा माल" मान रहे हैं क्योंकि आप लोगों के पास कोई ऐसी वस्तुमुख पद्धति नहीं है जिससे वैयक्तिक तत्वों को निर्णयों में कम से कम बाधक होने दिया जा सके।

प्रायोगिक अध्ययन के क्षेत्र में समाज शास्त्र ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। 'संस्कृति के समाज शास्त्र' की शाखा में लोक-साहित्य और शिक्षितों के साहित्य के सम्बन्ध और स्वरूप पर प्रयोगों और विस्तृत जाँच पड़ताल के बाद निष्कर्ष प्राप्त किये गये हैं। 'रुचि"[3] के अध्ययन के लिए 'साहित्यिकों के समूहों या गुटों' का अध्ययन किया गया है। संस्कृति, समाज और साहित्य के सम्मिलित अध्ययन के लिए 'एकत्ववादी' दृष्टि से काम लिया गया है।[4] इसी प्रकार "अत्याधुनिक" बोधों और अनुभवों—यथा 'अलगाव", "भीड़" 'बौद्धिकों की स्थिति' आदि पर महत्वपूर्ण कार्य हो

---

१ Vorschule der Aesthetic

२ राजस्थान विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में उपन्यासों के प्रभाव का प्रायोगिक अध्ययन कार्य हो रहा है। इसके अतिरिक्त अब तक प्रयोगों के लिए वर्जित क्षेत्रों में भी इस ओर प्रयत्न हो रहा है, जैसे 'जैनेन्द्र के कथा साहित्य में प्रयुक्त उनकी शैली के मानसतत्वपरक अध्ययन' में एक शोधार्थी एक अध्याय प्रयोगों के आधार पर लिख रहे हैं। इन 'प्रयोगों' में शैली' के "प्रभाव" का अध्ययन होगा और इसके लिए समाज के कई समूहों पर प्रयोग होंगे।

३ द्रष्टव्य—Sociology of Literary Taste
—L L Schuking London 1950

४ —Culture and Crisis—Edited by F F Warnke New York, 1964

चुका है। किन्तु हमारी आलोचना में इन सबकी कोई चिन्ता नहीं की जाती। केवल "शुद्ध आलोचना क्षेत्र" में शताब्दियों पूर्व विकसित धारणाओं की टीका या व्याख्या ही पर्याप्त मानी जाती है और उसके 'संशोधन' भी वस्तुतः पिछड़ी हुई धारणा-व्यवस्था के ही अन्तर्गत होते हैं। फलतः 'पुरानी धारणावाद' नव्यतम साहित्य के स्वरूप, उसकी आकांक्षा, उद्देश्य आदि को स्पष्ट करने में बुरी तरह असफल हुआ है। इसमें दोष पुराने आचार्यों का नहीं, उनका वैज्ञानिक उपयोग न कर सकने वाली हमारी क्षमता का है।

सिद्धान्तवादी आलोचना की सीमाएं सम्भावनाएं

'कवित्वगत' बिम्ब (The Poetic Image) [1] नामक पुस्तक में सी० डी० लीविस ने लिखा है कि आलोचना, कवि को असम्बद्ध प्रतीत होती है क्योंकि आलोचकों के वाचारम्भण से लेखक उलझन में पड़ जाते हैं प्रत्येक नवीन सृष्टि एक सर्वथा नवीन शुरुआत और एक भिन्न प्रकार की असफलता होती है। आलोचना पूर्व आलोचना का विरोध कर सकती है किन्तु कविता पूर्व कविता का विरोध नहीं कर सकती आलोचना में कविता (अथवा नाटक, कथा आदि) से अमूर्त सिद्धान्तों का दोहन किया जाता है और फिर इनसे, इन्हीं के मुख्य स्रोत काव्य या साहित्य को आलोकित करने का प्रयत्न होता है। यह प्रयत्न तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक आलोचक 'रचना' के लिए अपने को समर्पित नहीं कर देता उस रचना की अन्तर्ध्वनियों (Undertones) को जब तक वह पकड़ने का प्रयत्न नहीं करता और जब तक वह उसी प्रकार की आत्मविस्मृति नहीं प्राप्त करता जैसी कि रचनाकार ने सृजन के क्षणों में प्राप्त की थी।

सारांश यह कि आलोचना लेखक की मनःस्थितियों में निमग्नता का प्रयत्न है, वह सृजन प्रक्रिया के साथ तादात्म्य और तत्पश्चात उसके उद्घाटन का कार्य है, सिद्धान्तों के आरोपण का नहीं। लेकिन वही लीविस महोदय उक्त कृति में "बिम्बवाद" के सिद्धान्त का प्रवर्तन करते हैं अलंकार और बिम्ब का अन्तर स्पष्ट करते हैं सम्पूर्ण कविता को एक बिम्ब मानते हैं और 'बिम्ब' और "भावावेग" (Feeling Imotion) का श्रेष्ठ कृति में नित्य सह अस्तित्व प्रमाणित करते हैं।

लीविस और आधुनिक कला काव्य को समझने का प्रयत्न करने वाले ऐसे ही अन्य विचारकों को यह प्रतीत होती है कि मनुष्य और उसकी

---

1 The Poetic Image C D Lewis The Clark Lectures London 1946

इस अनिश्चितता के कारण आधुनिक व्यक्ति पदार्थों के मूलरूप (Things themselves) की ओर जा रहा है, अतः वह पूर्वयुगों के आग्रहों और मूल्यों को अस्वीकार करता है-यीटस की एक रचना है —

> Now that my ladder's gone
> I must lie down where all ladders-Start
> In the foul rag and bone shop of the heart

इस स्थिति में पूर्वयुगीन सिद्धान्तों के आधार पर साहित्य समीक्षण कैसे होगा ? आधुनिक अनिश्चिततावादी सर्वसाधारण में विश्वास नहीं करता क्योंकि साधारण व्यक्ति की चेतना 'भूतनिर्मित' होती है। वह अपने अनुभवों को कहूतरखानों में बाँट कर रखता है। उसे आज की व्याधि का बोध नहीं है। वह कला से स्पष्टता की माँग करता है पर क्या उसे मानव जीवन का समस्यात्मक रूप कुछ भी स्पष्ट है ? क्या पुराने मूल्य उपयोगी हैं ? कैसे ? पुराना और नया 'मानववाद' और 'उन्नतिवाद' एक प्रवंचना है भ्रम है। आज की कला और कविता में मनुष्य की चेतना की गति को समानान्तर माना जाता है लम्बगामी (Vertical) नहीं उसमें भूत भविष्य एक ही क्षण में चित्रित होते हैं यथा 'यूलिसिस' और 'वेस्टलैण्ड' में, फाकनर के 'साउण्ड एण्ड फ्यूरी' में, एजरा पौंड के 'कैण्टोज' में। परन्तु पुरानी कला में एक वस्तु केन्द्र में रहती थी अन्य सब उसी के अधीन रहते थे (काव्य में स्थायी भाव केन्द्र में सचारी उसी के अधीन) इसके द्वारा जो चरमसीमा प्रस्तुत की जाती थी, वह आधुनिक कला में समाप्त हो गई है। चित्र और कविता में आज प्रत्येक स्थान (Space) या क्षण महत्त्वपूर्ण है। एक ही आदमी के शरीर के टुकड़े सारे 'स्पेस' पर फैलाए जा सकते हैं, इसी तरह साहित्य में क्षणों का—व्यतिक्रमपरक सृजन होता है अर्थात कला और काव्य का ढाँचा ज्ञानगम्य नहीं है उसी तरह जीवन ज्ञानगम्य नहीं है। जिसे 'कविता' कहा जाता है उसका अहसास प्रत्येक लेखक का अपना अपना है। अरस्तू के नियम 'यूलिसिस' पर लागू हो नहीं सकते। जहाँ कथा का क्रम है वहाँ भी उसे भंग कर दिया जाता है जैसे कि चित्रकला में बाहरी सादृश्य का नाश किया जाता है ताकि आंतरिक सादृश्य उत्पन्न हो सके।

जिस तरह बाह्य सृष्टि (Cosmos) अबुद्धिगम्य है, उसी प्रकार मनुष्य अबुद्धिगम्य है और उसकी कला भी। आज उदात्त और अनुदात्त का भेद नष्ट हो गया है सुन्दर असुन्दर का भाव लुप्त हो गया है वास्तविकता अनि-

जो धारणागत है, वह आधुनिक नहीं है।[1]

आलोचना के प्रचलित रूपों में—शास्त्रीय और मार्क्सवादी आलोचना मनुष्य को बोधगम्य मानकर चलती है, किन्तु मनोविश्लेषणपरक और दार्शनिक आलोचना जिस प्रकार सत्य के निकटतम बिन्दु को स्पर्श करने का प्रयत्न करती है, उसी प्रकार शास्त्रीय आलोचना, और मार्क्सवादी आलोचनाएँ भी मानवकार्यकलाप का अध्ययन कर सत्य के निकटतम बिन्दु को स्पर्श करने का प्रयत्न करती है। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह स्मरणीय है कि उक्त विभाजन आत्यंतिक नहीं व्यावहारिक है क्योंकि एक विधि के लिए दूसरे क्षेत्रों में बहुत सी सहमतियाँ मिल जाती हैं।

दूसरा तथ्य यह है कि आधुनिक कला कविता के अस्तित्ववादी चिंतकों के पूर्वरूप विवेकवादविरोधी स्वयप्रकाश्यज्ञानवादी-सम्प्रदायों में मिलते हैं। अस्तित्ववाद मूलतः सवंगान्यास्वाज्य दर्शन है शाश्वत दर्शन नहीं। विलियम बरिट ने अस्तित्ववाद की परम्परा हिब्रू परम्परा में खोजी है जबकि योरोपीय सभ्यता मूलतः ग्रीक विवेकवाद पर विकसित हुई है अतः जबकि भारत का प्राचीन साधना इतिहास साक्षी है विवेकविरोधी साधक सदैव 'प्रातिभज्ञान' का अवलम्बन लेकर ही चले थे तभी वे बाह्य व्यवस्था की असंगतियों का उग्र विरोध कर सके जैसा कि आज के 'आधुनिक' कर रहे हैं।

'प्रातिभज्ञानप्रधान' कला और काव्य सदैव आत्मनिष्ठतावादी होते हैं। बाह्यनियमों के आधार पर वस्तुतः उनका मूल्यांकन सम्भव नहीं होता। प्रातिभज्ञानप्रधान कला सदा सूक्ष्म और ध्वनिप्रधान होती है अतः अरस्तू के नियमों अथवा अलंकार रीति जैसे सम्प्रदायों द्वारा नहीं अपितु शास्त्रीय आलोचना में ध्वनिवाद द्वारा आधुनिक कला और साहित्य को मूल्यांकित करने में सहायता मिल सकती है। किन्तु युगानुरूपता की सिद्धि समाजशास्त्र और इतिहास (मार्क्स वेबर मनहीम आदि) द्वारा ही सम्भव है। उदाहरणतः प्रसिद्ध मार्क्सवाद तात्पर्य सिद्धान्त के द्वारा हम साहित्य के मन की स्थिति और उसके स्वरूप का ह्रास कर सकते हैं। यह सम्भव है अन्यथा आधुनिक साहित्य सहचिन्तन सहभावना जग सर्जना का प्रयाण नहीं कर सकते हैं। इस स्थान पर हम मनोविश्लेषण विधि से सहायता मिल सकती है वरन् हम इस तथ्य पर ध्यान रखें कि मनुष्य का अवचेतन और

---

1 Irrational Man William Barrett New York 1958 Page 1-37

उपचेतन केवल वर्जित कामभाव का अवशेष ही नही है अपितु उसमे अनक प्रकार की दमित इच्छाएँ सुषुप्त रहती है, और यह भी कि चेतन और उप चेतन म द्वद्वात्मक क्रिया प्रतिक्रिया चलती रहती है अत 'तादात्म्य' और साथ ही सावधान चिंतक की तटस्थता द्वारा हम स्रष्टा के मन की गहराइयो का स्वरूप समझ सकते हैं (तादात्म्यात न का सिद्धि —अभिनवगुप्त)।

प्रश्न होगा कि इस तादात्म्य विधि द्वारा परमनप्रवेश क क्षण मे, द्रष्टा के पूर्वाग्रह साथ रहेंगे या वे कम से कम कुछ समय के लिए निलम्बित रहेंगे ? इसका उत्तर यह है कि मानव चेतना किसी भी क्षण शून्यवत नही होती लेकिन शून्यताके क्षणो का अनुभव यह प्रमाणित करता है कि हम पूर्वाग्रहो स एक सीमा तक मुक्त होकर देख सकते है। यही मानव सामथ्य है, जिसके द्वारा यह कहा जाता है कि अपने नजरिए से नही, गरेनजरिए से देखा। साराश यह है कि दूसरे की दृष्टि से हम देख सकत हैं और उस दृष्टि से प्राप्त दशन पर हम बाद मे विचार कर सकते है अतएव मनुष्य भले ही पूणत बुद्धिगम्य न हो लेकिन—वह अपूणत अवश्य बुद्धिगम्य है। इस काय मे पूणता के लिए प्रयत्नशील बने रहना ही वज्ञानिक दृष्टि है, अपूणता का अहसास भी पूणता की ओर जाने का एक उपक्रम ही है। इसके सिवा 'बुद्धिगम्य' का अथ यह नही है कि बुद्धि से समझते समय चेतना की अन्य शक्तियाँ या स्तर सोये हुए रहते है उदाहरणत ज्ञानप्रक्रिया' म स्मृति, प्रातिभज्ञान और विवेचनात्मक शक्ति—नाना कायरत रहती हैं या रह सकती हैं। धारणावाद' के घोर विरोधियों को भी प्रेषणीयता के लिए धारणाओ का ही सहारा लेना पडता है इसका अथ यह नही है कि ज्ञानप्रक्रिया मे केवल 'धारणात्मकता ही सक्रिय रहती है।

तादात्म्यविधि से सजन के समय कलाकार की मन स्थितियो को अपने मनमे रखकर, हम कारणकायविधि' अपना सकत है। कारणकायविधि का अथ है, किसी अनुभव या भाव की पूर्वानुभव या पूवभावसपन्न के सा थ तुलना तथा उसकी युगानुरूपता का निणय। यहा समाजशास्त्र और इतिहास हमारी सहायता करता है। कलाओ और साहित्य मे मानवता की आतरिक छवि प्रस्तुत होती है, यह ता आधुनिक भी मानते हैं। ऐसा क्यो होता है ? प्रत्येक युग मे इनकी विशिष्टता क्या है, क्यो है ? आज रोमानी कला और कविता क्यो पसन्द नही की जाती ? द्विवेदीयुग मे रोमानी कविता क्यो नवीन और आधुनिक थी ? हजारो कवि और साधक भक्तियुग म हरिभजन क्यो करते रहे ? रीतिकाल म उन्ही कवियो की सतान— 'उमरदराज महाराज तेरी चाहिए" क्यो कहने लगी ? नए युग मे पुराने युगो के विषय और प्रतीक क्या

चलते है ? जवी दृष्टि से अत्यन्त शनै शनै परिवर्तित होने वाला मनुष्य अपनी जैवी-सम्पत्ति (Biological) का अपनी आवश्यकताओ और मूल्यों के द्वारा किस प्रकार नियमन उन्नयन करता है ? इस तरह के परिप्रेक्ष्यपरक प्रश्नो के उत्तर इतिहास परक दृष्टि से ही मिल सकते हैं। ये ही विचार कला को समसामयिकता और आधुनिकता का निर्णय करते हैं और सामाजिक प्रगति और अधोगति के साथ कला का सम्बन्ध स्थापन ये ही—इतिहासपरक विचार कर सकते है। 'दर्शन' यह कार्य "इतिहासदर्शन" द्वारा कर सकता है। जो आधुनिक लेखक आग्रह करे कि यह सब "असम्बद्ध" है, तो वह उपेक्षणीय है क्योंकि साहित्य और कला की वास्तविकता निरपेक्ष नहीं होती।

आलोचना के ततीय स्तर पर शास्त्र हमारी सहायता कर सकता है इसका अर्थ यह नही कि उपर्युक्त दो स्तरो पर शास्त्रों में विचार नही है। कम से कम भारतीय काव्यशास्त्र और कलाशास्त्र (शिल्प शास्त्र) कला को नियतिकृतनियम रहित परमस्वतन्त्र आदि विशेषण देकर भी उसे प्रयोजनहीन नही मानता और जहाँ प्रयोजन है वहाँ मूल्य है प्रयोजनहीनता की घोषणा के बावजूद आधुनिक कला का भी प्रयोजन है।

आधुनिक चित्रकला और काव्यादि में जिस बाह्यानुरूपता का विरोध है उसका प्रयोजन है। कलाकार 'ध्वनित करना चाहता है ध्वन्यालोक' का ध्वनिवाद' अपने युग तक के साहित्य पर आधारित था अत वहाँ पद पदांश वाक्य आदि को ध्वनियो का व्यंजक बताया गया है—आज की कला में ध्वनियो के अनेक रूप हैं जिनमे मुख्यत सम्भगत ध्वनियाँ हैं जो वर्ण, बाधा आदि के वशिष्ट्य द्वारा ध्वनित होता हैं—कला मूलत ध्वनि है यही बात 'लीविस इन शब्दो में कहते हैं—

Unless the critic has brooded over the poem Surrendered himself to it absolutely Strained his ears to catch its remotest undertones with the same absorption that the poet gave to the experience from which it was shaped ([1])

इस ध्वनन प्रक्रिया का आनन्दवर्धन और अभिनव ने विस्तार से समझाया है उसे यहाँ दुहराना व्यर्थ है परन्तु तात्पर्य यह है कि आनन्दवर्धन और अभिनव अपना 'ध्वनि' में अनुमानित थे क्योंकि भावकता प्रधान साहित्य

1 The poetic Image page—16

ही, इस देश की विशेष परिस्थितियों के कारण, श्रेष्ठ माना जाता था अत यह आज भी एक अखण्ड सिद्धान्त है, कला ध्वनि है, कथन नहीं। 'ध्वनित' मे कौन श्रेष्ठ है, इस पर विवाद हो सकता है। भारतीय आचार्य बहुमत से रसध्वनि' को श्रेष्ठ मानते हैं और यह सत्य है कि तब तक रसपरक काव्य ही सचमुच श्रेष्ठ था। आधुनिक कला और साहित्य ने सीधी-सादी रसविधि को समाप्त कर दिया और आधुनिक चित्रकला की तरह परम्परागत सभी विधियों प्रारूपों और विषयों को छोड़कर ध्वनित विषयों और ध्वनि स्वरूपों के नवीन अनुसंधान किये। चित्रकला में तो ध्वनि इतनी सूक्ष्म और स्रष्टा द्रष्टापरक हो गई कि शीर्षक न बताने पर विभिन्न दर्शक एक ही चित्र से विभिन्न ध्वनियों को ग्रहण करते हैं। इसी तरह कविताओं मे शीर्षक हटा देने पर बहुत सी रचनाओं में ध्वन्यार्थों का वैविध्य ग्रहण किया जा सकता है और वास्तविकता तो यह है कि 'एब्सर्डिटी' जैसी आधुनिक स्थितियों की व्यंजना में आज की कविताएँ इतनी अद्भुत हो गई हैं कि इन्हें आप "अद्भुत ध्वनि" भी कह सकते हैं।

भले ही 'रसध्वनि' की जगह वस्तु या बिम्बध्वनियों (अलंकार ध्वनि) का यह युग अपने को चाहे जैसा विलक्षण समझे किन्तु शास्त्रों ने काव्य का यह मर्म समझ लिया था कि वस्तु और बिम्बध्वनियों मे भी 'राग' या 'भाव' का स्पर्श अनिवार्य है क्योंकि "कवित्वगत बिम्ब" वही सार्थक होता है जहाँ मनुष्य की आतरिकता का वह स्तर भी कम्पित हो, जो मनुष्य की सक्रियता का मुख्य अवलम्ब है। लीविस ने भी इसीलिए कोलरिज की ये प्रसिद्ध पंक्तियाँ उद्धृत की हैं जो भारतीय शास्त्रों द्वारा भी समर्थित हैं क्योंकि यहाँ तो कला को भावना का क्षेत्र ही माना गया है —

Images however beautiful do not themselves characterize the poet They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominant passion or by associated thought or images awakened by the passion

इस संशोधित शास्त्रवाद (अलंकार की जगह 'बिम्ब' ग्रहण, बिम्ब केवल कविता में आगत बिम्ब ही नहीं होते अपितु पूरी कविता भी एक 'बिम्ब' होती है) के आधार पर लीविस ने अनेक उदाहरण देकर आधुनिक कविताओं का मूल्यांकन किया है और अंग्रेज आलोचकों के प्रसिद्ध "कामनसेंस" के कारण काव्य और जीवन की एकता स्वतः ही उनके विवेचन में आ गई है।

साराश यह है कि भारतीय ध्वनिवाद आज भी उपयोगी है परन्तु स्पष्ट शायद यह है कि हम किसी सिद्धान्त का अन्धानुकरण नहीं कर सकते।

मार्क्सवाद या भी नहीं, वास्तविकता के सन्दर्भ में 'सन्तुलन' ही एकमात्र उपाय है।

यह स्मरणीय है कि आधुनिकों में डा० जगदीश गुप्त ध्वनि सिद्धान्त को अधिक महत्व देते हैं।

इसके अतिरिक्त भारतीय काव्यशास्त्रों और शिल्पशास्त्रों में अनेक सूत्र ऐसे हैं ऐसे मधा-आलोक (Flashes) हैं जो हमारे विवेचन में सहायक हो सकते हैं। कारण यह है कि कश्मीरी काव्यशास्त्री अधिकांशतः सिद्धपरम्परा के साधक आचार्य थे कोरे बुद्धिवादी पण्डित नहीं। आधुनिकों की तरह आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त प्रातिभज्ञानवादी थे और भरत तो स्मृतियों और व्याकरणों की कट्टर परम्परा के घोर विरोधी थे। परम्परा के अन्ध विरोध के नाम पर आधुनिक नवयुवक सब को एक साथ जेल भेज देते हैं।

हिन्दी आलोचना में भी सभी तरह के आलोचक हैं। रसवादियों ने भी रस की शास्त्रीय धारणा में संशोधन प्रारम्भ कर दिया है किन्तु फिर भी रसाग्रह के कारण विश्वविद्यालयों में आलोचना की "आधुनिक विधि" का प्रयोग नहीं हो रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र की शिक्षा–दीक्षा में ही छात्र इतना आतंकित हो जाता है कि या तो वह परम्परा को छोड़कर ही चैन की साँस ले पाता है अथवा परम्परा की स्वस्थ प्रवृत्तियों की छानबीन न कर मम्मट द्वारा की गई समन्विति को आदर्श मान लेता है। अतः सैद्धान्तिक आलोचना में या तो जानकारी प्रदान होता है या फिर अन्धानुसरण। 'उद्धरणवाद' इसी दोष का फल है उद्धरण समर्थन या विरोध के लिए होते हैं प्रदर्शन के लिए नहीं।

व्यावहारिक आलोचना में आलोचना का भविष्य अधिक उज्ज्वल लगता है क्योंकि किसी कृति पर विचार करते समय आलोचक विभिन्न विधियों का प्रयोग कर सकता है अतएव रसवादी आलोचक मनोविश्लेषक भी हैं और मार्क्सवादी आलोचक शास्त्रों का भी अपनी दृष्टि से प्रयोग करते हैं और आधुनिक ज्ञान विज्ञान का भी (मनोविज्ञानशास्त्र समाजशास्त्र इतिहास दर्शन आदि)। अब तक प्राचीन धरोहर की जाँच पड़ताल भी पूरी नहीं हो पाई है पाश्चात्य सिद्धान्तों का अवतरण भी अभी तक पूरा नहीं हो पाया है अतः जो विद्वान इन क्षेत्रों में व्यस्त हैं वे ही प्राचीन-आधुनिक साहित्य पर व्यावहारिक आलोचनाएँ लिखते समय एक मिश्रित प्रणाली का आविष्कार कर रहे हैं। पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से यह विधि धीरे धीरे जागरूक छात्रों और अध्यापकों द्वारा कालेजों विश्वविद्यालयों में भी अंकुरित—पल्लवित हो रही है। कालजयी कृतियों को ही आधार बनाने वाले विद्यालयों में दिन प्रतिदिन की

नवीन प्रतिक्रियाओं को शीघ्र स्वीकृति नहीं मिल पाती अतः "अध्यापकीय" आलोचना की उग्र आलोचना हो रही है, दूसरी ओर अध्यापक 'अराजकता' की शिकायत करते हैं।

ऐसी स्थिति में विद्यालयीय वातावरण और पत्र-पत्रिकाओं-स्वतन्त्र गोष्ठियों और दलों में निरंतर नकटय की आवश्यकता है। व्यक्ति स्तर पर अनेक अध्यापक और छात्र इन कटघरों को काट रहे हैं किन्तु संस्थागत स्तर पर यह नकटय बढ़ना चाहिए ताकि सृजन और आलोचन परस्पर विरोधी स्थितियों में न पड़ जाएं।

इसके साथ ही आलोचना के प्रति सैद्धान्तिक घृणा से स्वयं साहित्य की ही हानि होगी क्योंकि सृष्टि स्वयं अपने में जीवन की एक प्रकार की आलोचना भी है। आलोचना में मात्र प्रतिक्रिया व्यक्त कर देने से श्रेष्ठता के स्तर धूमिल पड़ जाते हैं अतएव अपने समय तक के साहित्य और कला के श्रेष्ठ अंशों के आधार पर व्यापक निष्कर्षों की प्राप्ति अवाछनीय नहीं हैं। अवाछनीय स्थिति तब आती है जब निबन्ध के प्रारम्भ में कथित 'तादात्म्यविधि' की उपेक्षा होती है और सिद्धान्तों का मनमाना आरोप होने लगता है। ऐसा नहीं हुआ है या हो रहा है यह कहना उतना ही गलत है जितना यह कहना कि आलोचना में सर्वत्र ऐसा ही हुआ है अथवा यह कि सैद्धान्तिक आलोचना का अस्तित्व ही असम्भव है। भारतीय परम्परा को तो "अविवेकी मनुष्य" के लेखक ने आधुनिकता के लिए अधिक अनुकूल माना है। यहां सृष्टि के प्रत्येक रूप का स्वागत हुआ है जीवन की सुन्दरता और असुन्दरता के विषय में भारतीय दृष्टि पश्चिमी दृष्टि से अधिक स्वस्थ और व्यापक है —

These (modern) are ideas that might be easily understood by an oriental For the oriental opposites have never been put into separate water tight compartments as with the westerner as it is above so it is below In the east the small is equal to the great for amid the endless expanse of countless universe each individual universe is but a grain of sand on the shores of Ganges and a grain of sand is equal of a universe The lotus blooms in the mud and generally the oriental is as willing in his indifference to accept the ugly dross of existence as he is to its beauty where the Westerner might very well gag at the taste (1)

---

(1) Irrational man page 51

भारतीय कला में बाह्य अवयव-अनुरूपता की कभी चिंता नहीं की गई, जैसे व्यूववादी कला में ध्वनि पर ही ध्यान रहता है इसी प्रकार हमारी मूर्तिकला में आतरिक मन स्थितियों की व्यंजना पर ही ध्यान रहा है। जिस प्रकार पाश्चात्य चित्रकार "पूर्वी" कला और काव्य से लाभ उठाते हैं उसी तरह हम अपने देश और एशिया के अन्य देशों की परम्परा को टटोलना चाहिए। जुंग ने 'यूलिसिस' में 'पूर्वी आत्मा" के अस्तित्व को लक्षित किया था और 'यूलिसिस' "आधुनिकतम" उपन्यास माना जाता है। इसी तरह "भारतीय संगीत" में इ० एम० फोस्टर ने आधुनिकता का संकेत पाया था।[1] इसी तरह भारतीय काव्यविधान में ध्वनिसिद्धांत, कला-आस्वादन प्रक्रिया के लिए साधारणीकरण सिद्धांत, भाषा शक्ति के लिए शब्दशक्ति सिद्धांत और सौंदर्य विवेचन के लिए रस रमणीयता सिद्धांत आदि वे प्रधान सूत्र हैं, जिनकी सहायता से हम निश्चित रूप से आलोचना को समृद्ध बना सकते हैं।

---

(१) वही, पृष्ठ, ४८

मूल्य और संदर्भ

मूल्य चिन्तन के नाम पर मूल्य-अवमूल्यन और अवमूलित चेतना की व्याप्ति और वृद्धि देखकर पुनः मूल्य प्रतिष्ठा की प्रक्रिया इस देश की तरह अन्य देशों में भी मिलती है। श्री मिल्टन आर० कोनविटज ने मूल्य अवमूल्यन के लिए जासफ वुड और क्रुच जैसे लेखकों की कठोर आलोचना की है। जिस निराशा और रिक्तता का वर्तमान वस्तुगत परिस्थितियों का व्यक्तिगत प्रतिबिम्ब न समझ कर दिग्भ्रम और निषेधवादिता को समाधान के रूप में पेश किया जाता है वह अपनी अन्तिम व्याख्या में पलायनवृत्तियों को संतुष्ट करती है।[1]

श्री कोनविटज ने सामयिक जीवन की प्रवृत्ति को टी० एस० इलियट की इस कविता द्वारा स्पष्ट किया है —

I grow old　　　　I grow old
I shall wear the bottoms of my trousers rolled

यह उदासी, अवसाद या ऊब ही आज की वास्तविक स्थिति है।

साहित्य में यह स्थिति सर्वत्र नहीं है इसके विरुद्ध स्वर भी है, फिर भी विधि परक मूल्यों और मानसिक स्थितियों को उतना महत्व नहीं दिया जाता और साथ ही ये विधि परक (पाजिटिव) स्थितियाँ जिन विचार-व्यवस्थाओं द्वारा उत्पन्न हुई थी उन्हें भी न मूल रूप में और न संशोधित रूप में ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति है अतः मूल्यगत अस्पष्टता, स्थिरता और दिग्भ्रम की दशाएँ तक व्यापक उलझन के रूप में प्रस्तुत हो रही हैं।

मूल्य, जीवन और चेतना की तरह पुरानी धारणा है। बुद्धिवादी और यथार्थवादी विचारक मूल्य को गुण न मानकर उस वास्तविकता का एक अनोखा रूप मानते हैं क्योंकि मूल्य' हमारे वास्तविक जीवन के सन्दर्भ में ही विकसित होते हैं। डार्विन ने वास्तविक जीवन का जीव शास्त्र के आलोक में अध्ययन प्रस्तुत किया था। उसके अनुसार मूल्य' की धारणा 'अस्तित्व' से

---

1 on the Nature of Value—मिल्टन आर कोनविटज न्यूयार्क, 1946, पृष्ठ 4–6

सम्बन्धित है—वह 'शिव' को पारिभाषित करता हुआ कहता है कि 'शिव' वह है जो जीवित रहने मे—वृद्धि और विकास मे योग देता है' इसी तरह 'सत्य' और 'सौन्दर्य' की व्याख्या, जिजीविषा, उसके विकास और वृद्धि के सन्दर्भ म ही सम्भव है।

सैमुअल अलेक्जेंडर के अनुसार मनुष्य प्रकृति के बाहर का प्राणी नही है, वह प्रकृति के भीतर जीता है। इसके अतिरिक्त वह प्राचीन मानववादियो की तरह मनुष्य को विश्व का केन्द्र भी नही मानता। वह प्रकृति म मनुष्य की वास्तविक स्थिति का समझ कर, उसी सन्दर्भ को मन्व दृष्टि के सम्मुख रख कर मूल्य पर विचार करता है। अत शिव और अशिव की धारणाए मानव कृत हैं।

उदाहरण के लिए अलेक्जेंडर शिव की धारणा का अर्थ करता है—मानव स्वभाव या मानव अस्तित्व अपने सर्वोत्तम रूप म शिव कहलाता है उसी तरह, जिस तरह, मानव सर्वोत्तम रूप म सत्य कहलाता है। वह नाथ किसी स्वयप्रकाश्यमान या निरपेक्ष विश्वगत नही है बल्कि अस्तित्व के लिये किये गये मानव सघर्षों के मध्य, इस सत्य या मूल्य की प्राप्ति होती है अत मूल्य अधिकतम तृप्ति (सर्वोत्तम रूप) को प्राप्त करने का उपाय है इसीलिये उसका निरपेक्ष अध्ययन सम्भव नही है।

मूल्यो का उदभव और विकास बाह्य और निश्चित सन्दर्भो म विभिन्न जीव वर्गों के प्रयत्नो द्वारा होता है अत प्राकृतिक चुनाव (योग्यतम का अस्तित्व बचता है) के साथ मूल्यो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह वस्तुत अपने को स्थितियो के अनुसार विकसित कर सकने की योग्यता से युक्त तत्वो की उन तत्वो पर विजय है जो जड' या आवश्यक परिवतन के अयोग्य है अत इस विकास विजय के सन्दर्भ म ही विकसित मूल्यो को 'अभीप्सित' की सज्ञा प्राप्त होती है। मूल्य अवयव-सस्थान और बाह्य वातावरण या सन्दर्भ के सघर्ष और सगति के परिणाम होते हैं।

एक टायप वातावरण और अस्तित्व म दूसरे टायप स अधिक सगति बना लेता है अर्थात वह ऐसे मूल्यो का विकास कर लेता है जो उस टायप' के अस्तित्व और विकास म अधिक सहायक हो सकते है परन्तु वे मूल्य किसी युग के लिए प्रतिनिधि मूल्य बन जाते हैं। इस तरह अलेक्जेंडर इस तथ्य पर पहुँचा है कि मूल्य चिन्तन वस्तुत प्रतिक्षण उपस्थित चुनौतियो को स्वीकार कर उनके अनुकूल अपने टायप बदलने का उपाय मात्र है।

मार्क्स-एंगिल्स काडवेल प्लेखानोव आदि विचारक भी मूल्य का जीव अस्तित्व और वातावरण (द्रव्य, विषय आदि) के सम्बन्ध का प्रतिबिम्ब मानते

हैं। साहित्य म जीवन की तरह, व ही मूल्य आगे चलते हैं जो उस 'जाति' या समूह क लिए अतिम व्याख्या मे कल्याण कारक होते हैं।

इस दृष्टि स भी मूल्यगत चितन, प्रयाग या उद्देश्य स अलग करके नही किया जा सकता। इसीलिए 'मूल्य' व्यक्ति विशेष द्वारा प्रतिपादित होने पर भी व्यक्तिगत' नही हो सकते। मूल्य न पूणत वस्तुगत होते हैं और न पूणत व्यक्तिगत ये वस्तु व्यक्ति के परस्पर सम्बन्धो, क्रिया प्रतिक्रियाओ, सघर्षों सगतियो के फल होते है।

इनमे प्रवत्तिगत मूल्य भी होते ह यथा शिशु द्वारा माता के स्तनो की खोज। इसी प्रकार मनुष्य स्वच्छता और स्त्री के हाव भाव को पसन्द करता है, क्योकि ये उसकी जाति' या 'टायप' का निरन्तरता देते हैं। इन्ह नतिकता का रूप दिया जा सकता ह कि तु ये नतिकता क कारण स्वीकृत नही होते।

इसी तरह आर्थिक मूल्य प्रवत्तिगत मूल्यो और नतिक मूल्यो के मध्यवर्ती होते हैं। नतिक मूल्यो से कोई समह यह नणय करता है कि उसका स्वरूप क्या होगा? आर्थिक मूल्य इस स्वरूप स्थिति को सम्भव बनाते हैं, उदाहरण के लिये समाजवादी देशो म नतिक मूल्य मानव शोषण के विरोधी हैं अत वहा के आर्थिक मूल्य इस शोषण रहित समाज की स्वरूप स्थिति को सम्भव बनायगे—यदि व अपने प्रयत्न म उक्त नतिक मूल्यो के विपरीत स्वरूप को सम्भव बनाने लगेंगे तो मनुष्य उनम परिवत्तन की माग करेगा, अर्थात् सब नये आर्थिक मूल्यो की माग उठ खडी होगी। अत आर्थिक मूल्य उच्चतर मूल्यो के साधन होते है जिन समाजो म व साध्य बनन लगते है वहाँ उच्चतर मूल्यो का ह्रास प्रारम्भ हो जाता है।

सापेक्षतावादी दृष्टि से नही बल्कि दुनिया और जिन्दगी को एक अजनबी या बेगाने क नजरिए से देखन पर 'मूल्य' भ्रम प्रतीत होते है क्योकि वे मानव के आविष्कार है। सन्दभ स निगाह हटते ही, मूल्यो की सत्ता केवल आदमी क मन की वहक जसी लगने लग जाती है किन्तु स्पष्टत यह अजनबी दशन है। जीवन म भाग लेने वाले और इसलिए बाहर भीतर ही नही, चारो ओर स सोचने वाले भोक्ता का यह दशन नही है।

क्या एकाकी मूल्य चितन सम्भव है? प्रियता-अप्रियता, सत्य-असत्य आदि मानव मानसो क परस्पर सम्बन्धो क सन्दभ म निर्णीत होत हैं अत 'अ' का मूल्यगत चितन सही है या गलत इसके लिए उसके अतिरिक्त अन्य मस्तिष्को की जरूरत होती है। वस्तुत मूल्य का अहसास भी तभी सम्भव है जब 'अ' क विरुद्ध अन्य व्यक्ति धारणाएँ रख और व्यवहार म यह साबित हो जाए कि अ की धारणाएँ व्यथ या अपूण प्रमाणित हो चुकी हैं अत जब हम दूसरो की दृष्टि स अपने 'स्व' पर विचार करत ह तभी मूल्य और सही होन

की सम्भावना बनती है। अत सही रूप म चितन के लिए अय चितको और व्यवहार की आवश्यकता है। इस प्रकार अनेक उद्देश्यो विचारो और इच्छाओ के सदभ म मूल्यो का उद्भव और विकास होता है। मूल्य एक प्रकार का निणय होता है—प्रशसापरक निणय और इसम सबका कोई सामाजिक सुभाव निहित रहता है अत मूल्य निणय हमेशा सामाजिक होता है व्यक्तिगत नही।

कलागत और साहित्यिक सौदय या साथकता का निणय या प्रशसात्मक मूल्य मीमासा ही है क्योकि उसके निणयो म भी सामाजिक सुभाव निहित रहते हैं, इसलिए इन निणयो म अय लोग भी भाग लते ह। यदि कोई कह कि अनिणय वास्तविक स्थिति है, और उसका दशन और भाग एक मूल्य है तो उसे स्पष्ट भाषा म यह कहना चाहिए कि अनिणय निणय करन क लिए आवश्यक प्रक्रिया है किन्तु निणय उसका अवश्यम्भावी परिणाम है। यदि निणय गलत साबित होगा तो पुन अनिणय सन्देह की प्रक्रिया स निणय किया जायगा अत निणय ही वरण्य है प्रक्रिया क रूप स अनिणय आवश्यक हो सकता है।

अतमु खता के स्तर पर सत्य का दूसरा छोर बहिमु खता—वास्तविकता के स्तर पर होता है। इसके सम्ब ध का स्वरूप समझना ही मूल्यगत चितन है।

यह स्मरणीय है कि हिन्दी के लेखको और कवियो न मूल्यचितन की आवश्यकता अनुभव की थी। समष्टिवाद द्वारा बहिमु ख मूल्यो पर अनापशनाप आग्रह किये जाने क कारण, व्यक्ति की निरपक्ष नियति निरपक्ष मूल्य तथा साहित्य और निरपेक्ष मूल्यचितन का अनुसधान हुआ। पश्चिम क व्यक्तिवादियो ने हिन्दी के अनेक तरुणो की मूल्यचेतना का निरपक्षतावादी बनाया और उसके साथ कुछ ऐसी हवा चली कि विवेक ही कापूर हो चला जिसके बल पर भारतेन्दु युग स अब तक मध्यकालीन सामन्ती मूल्यो को उखाड़ फेंका जान लगा था। यह विवेक राजनीति म कल्याणकारी जनतत्र जनतात्रिक समाजवाद, समाज म मानव न्याय पर आधारित मानव सम्बन्ध नियामक शिक्षा क क्षेत्र म वैज्ञानिक दृष्टि का विकास और अतमु खी सत्यो या मूल्यो की वैज्ञानिक अनुसधान तथा कला-साहित्य क क्षेत्र म कला साहित्य को धम क क्षेत्र स मुक्त कर, व्यापक मानव हित के लिए उसके प्रयोग आदि प्रवृत्तियो म प्रतिफलित हुआ था। इसी विवेकवाद क आधार पर आधुनिक वैज्ञानिक तकनीकी सभ्यता आधारित है किन्तु यारोपीय विवेकवाद को विश्व-युद्ध म जो आघात पहुँचा, उसम स्वय विवेकवाद पर ही प्रश्न चिह्न लगाया गया और सभी विचार-व्यवस्थाओ (कार्ल डार्विन, मार्क्स आदि) का अनादर किया जाने लगा। अन्तत्र्च

और अनुभव व सामने विवेक की निन्दा हान लगी और व्यक्तिगत मूल्यो के सम्मुख 'सामाजिक मूल्यो' का हिकारत की नजर से देखा जाने लगा क्योंकि इन्ही का दुरुपयोग विश्व-युद्ध (द्वितीय) म सभी विचारको ने देखा। अत युद्ध और मरण की आशका ही आज के मूल्यचिंतन मे सबसे बडी चुनौती बन गई और इस सन्दभ म पुराने समाधान और पुनर्जागरण (रिनेसा) युग के आशा उत्साह मूर्खतापूर्ण प्रतीत होने लगे।

लेकिन इस मूल्यचिंतन के विकास स यह साबित नही हुआ कि मूल्य चिंतन निरपेक्ष होता है। आज की अवरुन्धित स्थिति भी वस्तुगत व्यक्तिगत कारणा से ही है। रसल और सार्त्र जस चिंतक इसलिए नए नही है कि वे मानव का विश्व स्थिति को कमजोर और निरथक समझते ह, बल्कि वे आज इसलिए नए है क्योकि वे मूल्यचिंतन की जिस कमजोरी स यह युद्ध का सव विनाशक सकट उपजा है उसके विरुद्ध सक्रिय ह और कास म युद्धकामी राष्ट्र-नायका की बबरता पर मुकदमा चला रह हैं।

दूसरी ओर समष्टिवादियो के वनानिक दशन के नियम स्वय समष्टि वादिया की व्यवस्था पर लागू किये जा रहे है और रूस चीन आदि के अंतर्विरोधो का पता लगाया जा रहा है। यह माना जान लगा है कि जहाँ मनुष्य है वहाँ सवथा आदश स्थितिया नही ह लेकिन आदर्शो और मूल्यो के बिना आदश स्थिति की ओर मानवता का उन्मुख नही किया जा सकता। इस प्रकार मानव जीवन और मानव मूल्या वास्तविकता और आदश एक द्वद्वात्मक स्थिति म गतिमान हैं और वे प्रारम्भ स ही इस स्थिति म ही रह हैं। इस द्वद्व का समझना ही वास्तविक मूल्यचिंतन है, क्योकि तभी इन द्वद्वो से निद्वद्वता की आर बढा जा सकता है। इसका अथ यह नही है कि सवथा निद्व [redacted] स्थिति सम्भव है, फिर भी इस क्रम मे मनुष्य बहुत से द्वद्वो पर विजय पाता है उदाहरण के लिये वह आदिम युग से अब तक अनेक प्रवृत्तिगत, आर्थिक, सामाजिक असगतिया पर विजय प्राप्त कर चुका है और फिर भी वह नये द्वद्वा की सष्टि कर वठा है। अब नवमूल्यचिंतन के लिये ये नए द्वद्व ही चुनौतिया है जिन्ह दूर करने के क्रम म वह फिर नये अन्तर्विरोधो का विकास करगा और इस तरह उसका यह अनवरत क्रम अनन्त काल तक चलेगा, बशर्ते कि दिग्भ्रम म ग्रस्त मानव चेतना सामूहिक आत्महत्या (ततीय विश्वयुद्ध) नही कर लेती। इस खतरे का महसूस करने पर भी विश्व के चितक और साहित्यकार अभी तक रसल और सार्त्र की तरह सक्रिय नही हो सके और इस तरह की विविध स्तरा पर सक्रियताओ के अभाव म उनका मूल्यचिंतन निरपेक्ष, दिग्भ्रामक और पलायनवादी होता जा रहा है।

जिस तरह 'मूल्य' एक अस्पष्ट शब्द है और उसे उद्देश्यों, बोधनीयताओं, आवश्यकताओं, जिज्ञासा और प्रयोजनों से सर्वथा भिन्न करके देखना कठिन है, उसी तरह नवीनता भी एक अस्पष्ट स्थिति है। उसे 'प्राचीन' के प्रसंग में ही व्याख्यायित किया जा सकता है और 'प्राचीन' और 'नवीन' की धारणाएं परिवर्तनशील होती हैं।

साहित्यिक सन्दर्भ में नवीनता केवल कालगत धारणा न होकर, अपूर्वता-बोधात्मक धारणा है। 'अपूर्व' शब्द कालपरक भी है किन्तु अपूर्वता का यहाँ यह मतलब लिया जाता है कि इस रूप में यह कृति पूर्वकाल में विद्यमान नहीं थी अतः अपूर्वता की धारणा में यह तथ्य शामिल है कि 'पूर्व' या 'विगत' का उपकरण रूप में उपयोग करके भी अपूर्व कृति की सृष्टि सम्भव है। अतः नवीनता का मतलब गुणात्मक दृष्टि से सर्वथा विलक्षण या अभूतपूर्व सृष्टि से होता है, न कि यह कि उसकी सृष्टि में भूतकालीन तत्वों या उपकरणों का उपयोग नहीं होता।

चेतना के स्तर पर भी यह विचार सही लगता है। नवीन चेतनायुक्त स्रष्टा के मन का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी चेतना विगत, वर्तमान और भविष्य से सम्बन्धित उपकरणों से निर्मित होती है। अतः कोई एक 'क्षण' भी 'असंश्लिष्ट क्षण' नहीं हो सकता। क्षणविशेष में अथवा क्षणप्रवाह की स्थितियों में स्रष्टा जागरूक होकर जिस 'अपूर्वता' को प्राप्त करता है उसमें 'विगत' उसी प्रकार रूपान्तरित हो उठता है जिस प्रकार किसी भी नूतन पदार्थ की सृष्टि में अदृश्य उपकरण नए रूप धारण कर लेते हैं। वस्तुतः अचेतन और चेतन स्तरों और उपकरणों में 'विगत' और 'वर्तमान' में एक द्वन्द्व और संगति की प्रक्रिया कार्यरत रहती है। प्रत्येक नवीनता एक दृश्यअदृश्य द्वन्द्व और अन्त में एक नवीन संगति का ही परिणाम हुआ करती है और यह द्वन्द्व इकहरा नहीं होता क्योंकि स्रष्टा की चेतना में इकहरी स्थिति नहीं होती।

नवीन छायावाद भी था और सर्वकायाकल्पधारी प्रगतिवाद भी किन्तु नई कविता में नवीनता के प्रति आग्रह अधिक मिलता है। केवल आइडियालाजी या विचार व्यवस्था की दृष्टि से इसे नहीं परखा जा सकता क्योंकि 'तारसप्तक' से अब तक प्रत्येक विचारधारा के व्यक्ति नवीनता की प्राप्ति में तत्पर हैं और सन ६० के पश्चात तो कुछ नवयुवकों ने यह भी घोषित कर दिया है कि वे किसी आइडियालाजी को नहीं मानना चाहते और न ही परिवर्तन करना चाहते हैं। इस स्थिति में नवीनता प्राप्ति एक

आत्मपरिचय की प्रक्रिया बन रही है, यो अनजान ही कोई न कोई विचार व्यवस्था इन्हे प्रभावित करती है। प्रतिबद्धता जागरूक भी होती है और 'अबोध प्रतिबद्धता' भी होता है और प्रतिबद्धता चाहे घोषित हो या अघोषित किसी न किसी परिणाम की ओर अवश्य उन्मुख होती है।

किन्तु इन अन्तिम परिणतियो के प्रति पिछले २० वर्षों के बहुत कम हिन्दी लेखक जागरूक हैं। उनमे अधिकाश का ध्यान केवल नवीनता पर ही अधिक है जबकि नवीनता की उपलब्धि मे 'परिणाम-बोध' की भूमिका निर्णायक हो सकती है।

परिणाम बोध रहित नवीनता का प्रथम उपलब्धि यही है कि देश के आधुनिकीकरण के इस सोपान मे हमारा साहित्य और कला नवीनो मुख हैं। काव्य और गद्य मे एक सर्वथा नवीन अभिव्यक्ति सम्मुख आई है और इस उपलब्धि मे प्रचलित अधविश्वास के विपरीत सत्य यह है कि स्थानीय, कम प्रसिद्ध नवलेखको की भूमिका अतिप्रसिद्ध' और प्रतिष्ठित' कवियो और लेखको से कम महत्वपूर्ण नही रही है। अभी तक हिन्दी मे बम्बइया फिल्मों का प्रसिद्धनायकवाद" ही अधिक प्रचलित है जब कि अभिव्यक्ति के नवीनीकरण मे छोटे कहे जाने वाले कवियो और लेखको की भूमिका बहुत अधिक महत्वपूर्ण होती है। और वश्विक स्तर पर प्रचलित आधुनिकीकरण की विराट प्रक्रिया को ध्यान मे रख कर देखने पर बडे और प्रतिष्ठित" नवीन लेखक और कवि अभी तक छोटे ही प्रतीत होगे और उनकी तुलना मे बहुत से छोटे माने जाने वाले लेखक बडे प्रमाणित हो उठेगे क्योकि अतिप्रसिद्ध हिन्दी लेखको मे विदेशी प्रारूप' सम्मुख रखकर लिखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है और विदेशी साहित्यकार भारतीय नवीनता" चाहते हैं अपनी नवीनता की पुनरावृत्ति से वे ऊब उठते है। अज्ञेय जी मे इधर जो भारतीयता पर अत्यधिक बल मिलने लगा है, प्राचीन दर्शन (नूतन रहस्यवाद–'आँगन के पार द्वार") की छायावादी ध्वनियाँ सुनाई पडने लगी हैं, उसका एक कारण शायद यह है कि वे विदेशो मे किस तरह की नवीनता की माग है यह औरो से अधिक अच्छे जानते हैं। फाकनर, स्टैनबग जसे लेखको की नवीनता की 'सृजन प्रक्रिया' मे स्थानीय रग रूपो और उनके सदर्भ मे भी वश्विक समस्याओ के समाधान का सकेत है। अज्ञेय जी ने हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर मे एक व्याख्यान मे कहा था कि मेरे उपन्यासो विशेषकर 'अपने अपने अजनबी' मे पश्चिमी योरोप के मृत्युबोध का विरोध है। अर्थात उन्होंने पश्चिमी योरोप की दृष्टियो और मानसिक स्थितियो का अनुकरण नही किया उनका विरोध किया है।।

[illegible]

अब [illegible] [illegible] विचार [illegible] है अथवा आज [illegible] आवश्यकताओं के लिए [illegible] उपयुक्त है? इत्यादि

वस्तु और अभिव्यक्ति की नवीनता का मूल्य केवल वास्तविकता के आधार पर ही कायम हो सकता है और वास्तविकता मूल्यविचार का स्रोत है। इसी वास्तविकता से भयभीत होकर और अपनी प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति को स्वीकार करने के लिए मुष्टिबद्ध युवा तरुण लेखक यह कहने लगे हैं कि साहित्य मूलतः मूल्यनिरपेक्ष होता है। इस प्रकार की नवीनता स्पष्टतः मूल्यनिरपेक्ष नवीनता होगी और मूल्यनिरपेक्ष वस्तु कभी वांछनीय नहीं हो सकती क्योंकि मूल्यों के बिना (वे चाहे जो हों) मानव जीवन के अस्तित्व की ही कल्पना संभव नहीं है। एक ही स्तर ऐसा है जहाँ मूल्यनिरपेक्षता संभव हो सकती है, यह स्तर है तृतीय विश्वयुद्ध में सर्वनाश का भय।

सर्वनाश के क्षण में मूल्य अथवा शाश्वतीय आदर्शों, सत्यों, प्रयोजनों, मर्यादाओं, शुभ परम्पराओं, कलागत उपलब्धियों और सिद्धान्तों आदि का कोई अर्थ नहीं रहता और विश्वविनाश की आशंका कृत्रिम नहीं है एवं [illegible] है। किन्तु इसे भी एक 'जीवनदर्शन' के रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति

स्थायी नवीनता की सष्टि नही कर सकती क्योंकि विश्वविनाश की आशका समाप्त होने पर चीन-पाकिस्तान युद्ध के समय लिखी गई रचनाओ की तरह उनका मूल्य भी अस्थायी होगा। अत आज की स्थितियो और आज के जीवन दशन को एक करके देखना गलत है। स्थितियो का तीव्रता और गहराई से चित्रण होना चाहिए कुछ हो भी रहा है किन्तु जीवन किसी भी आशका, त्रास या भय स बडा है मृत्यु जीवन को कभी परास्त नहीं कर सकती, यह तो वनानिक भी प्रमाणित करते हैं।

वाछनीयता के निकष पर ही हम नवीन भाषा और सवेदना आदि का मूल्यांकन कर सकते हैं। इस सम्बध म अनक रूपगत उपलब्धियो के अतिरिक्त एक बहुत बडा भ्रम यह फला हुआ है कि कथ्य और अभिव्यक्ति का सम्प्रेषण विधियो स कोई आतरिक सम्बध नही है, सम्प्रेषण सकट का एक कारण यह भी है। वस्तुत विशषीकरण के कारण यह सकट हुआ है। आज का कवि अपने को व्यक्त करता है उसे कोई सुन समझे, यह उसके सम्मुख गौण प्रश्न है।" अकविता गुट के कवि जगदीश चतुर्वेदी का यह कथन एक नवीनता की सष्टि अवश्य करेगा क्योंकि पुरान ढग के कवि विनेवीकृत काव्य म विश्वास नहा करते थे वे उस एक सावजनिक कला मानते थे, अत उनकी सजन प्रक्रिया म नवीनता पर कम सवद्यता पर अधिक बल होता था। भाव विचार और अदाजेबया स वह प्रभावित करना चाहते थे किन्तु आज नवीन कविता उपयास और कहानी का अथ ही बदल गया है प्रयाजन और प्रक्रिया बदल गई हैं, अत उसका मूल्य भी बदल गया हैं। सनाएँ पुरानी चल रही हैं अथ नये आ गये हैं। अत नवीनता के मूल्याकन म पुरानी सनाओ का यह नया अथ समझना अनिवाय हो गया है।

नई कविता नया उपयास, नयी कहानी (तथाकथित नयी कविता, नयी कहानी नही) समग्रत विशेषना क लिए अथवा समानधर्माओ के लिए प्रस्तुत होती हैं भीड के लिए नही। अत सावजनिक दृष्टि से अथवा बहत्तर समाज के लिए उनका मूल्य तभी हो सकता है जब समाज उन समानधर्माओ के स्तर पर अनुभव कर सके जो असभव है। अत अभूतपूवता की सष्टि मे सुविधा भी है क्योंकि साधारण जनता आज के नाटक कथा या काव्य-साहित्य को नही पढती। इस कला का वही रूप होता जा रहा है, जो अमूत चित्रकला का होता जा रहा है जिसे देखकर दशक उस कृति म मनमाने सवेदन, अनुभूतियाँ और दृष्टियाँ पा सकता है यानी एक ही कृति का अपने म अथ अस्पष्ट होता है। वह एक निराकार विधि पर जटिल स्थितियो का सकुल विम्ब

होती है। उससे प्रत्येक दर्शक अपनी मानसिक स्थिति, रुचि, विचार, संस्कार आदि के अनुरूप प्रभाव ग्रहण कर सकता है। कलाकार अपने मंतव्य का सम्प्रेषण कर ही नहीं सकता क्योंकि उसकी चेतना एक संकुल और अस्पष्ट प्रक्रिया में रहती और व्यक्त होती है। इस स्थिति में आज की नवीनतम कविता या कथा का विश्लेषण, विवेचन, अध्यापन सम्प्रेषण आदि कठिन है। इसका मूल्य यही है कि आज की जटिल स्थितियों के ये सांकेतिक चित्रण हमारी संवेदना कल्पना भावना के लिए (बुद्धि के लिए नहीं क्योंकि वह धारणाओं में ही बाँधकर निर्णय कर सकती है) उत्तेजक उत्प्रेरक होते हैं और उन्हें देख कर या पढ़ कर (ठोस कविता में दोनों कार्य एक साथ होते हैं) हम एक निर्बाध उड़ान में या एक अस्पष्ट किन्तु गहरे उलझे हुए सांकेतिक अनुभव में डूबते हैं और इस माध्यम से इस बोध पर भी पहुँच सकते हैं कि जीवन मूलतः ऐसा ही अबौद्धिक (इर्रेशनल) संश्लिष्ट निष्प्रयोजन और निमूल्य होता है। इस तरह के कलात्मक अनुभव में स्पष्टतः नवीनता अवश्य है और उसके पूर्व रूप विशेषकर चित्रकला में, आदिम चित्रकला और प्राचीन मिथ में कुछ सादृश्य भी पा सकते हैं किन्तु यह नवीनतम सृष्टि अति के स्तर तक पहुँच कर पुनः सरलता की माँग को अपने गर्भ से प्रकट करेगी। यह भी कि यह संक्रमणकाल हमेशा नहीं चल सकता और न विवेकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रियावश उत्पन्न प्रचलित अविवेकवाद ही सदा चल सकता है।

किन्तु यह तो कलात्मक दृष्टि से मूल्यांकन हुआ। सम्प्रति नवीनतम 'एब्सर्ड' और अकविताओं आदि की वांछनीयता क्या है? स्वयं नवीनता ही इनकी वांछनीयता है। ये ध्यानाकर्षण कर सकती हैं अतः चर्चित भी हो सकती हैं। वैविध्य स्वयं अपने में एक बड़ा मूल्य है क्योंकि वह एकरसता और अभिन्नता को समाप्त कर समृद्धि देता है किन्तु जिस तरह पश्चिमी योरोप और अमरीका में आज अति के स्तर तक पहुँच कर साहित्य में नवीनता सन्तुलित होती जा रही है और [illegible] उस [illegible] आलोचक भी वर्णित उस कविता को (कल्पित समाज) दूसरे दर्जे का काव्य मानते हैं उसी तरह जब सब नवीन स्वर और कवि प्रतिष्ठित हो लेंगे और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया प्रत्येक स्तर पर पूरी हो लेगी तब सही मूल्यांकन हो सकेगा क्योंकि तभी वांछनीयता का बोध निर्विवाद रूप में जगेगा। तब तक विवाद इस रूप और सन्तुलित विवाद का यह द्वन्द्व गतिमान रहेगा और प्रियता और अप्रियता के स्वर, तर्कों और आशाओं-प्रत्याशाओं का संगम हम सभी काफ़ी समय तक सुनने को मिलता रहेगा।

भारतीय काव्यशास्त्र की सामयिक सार्थकता

क्या नवीन या आधुनिक साहित्य के विवेचन में प्राचीन काव्यशास्त्र की कोई उपयोगिता है अथवा प्राचीन धारणाओं का उल्लेख सिर्फ ऐतिहासिक महत्व रखता है—यह प्रश्न वस्तुतः महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह पता चलता है कि अभी हम इस संक्रमणकाल में द्वन्द्वों (प्राचीन नवीन देश विदेश, धर्म विज्ञान आदि) के मध्य संगति खोजना चाहते हैं। यदि द्वन्द्व है तो किसी न किसी प्रकार की संगति की तलाश अनिवार्य होगी।

मुझे लगता है कि प्राचीन का सवाल विज्ञान के क्षेत्र में जल्द ही तय हो जाता है। नए आविष्कार के बाद पुराने आविष्कार सिर्फ ऐतिहासिक महत्व के रह जाते हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि के पूर्व का यान्त्रिक भौतिकवाद आज 'असम्बद्ध' हो गया है क्योंकि उसके प्रयोग से पिष्टपेषित या गलत उत्तर मिलेंगे। शुद्ध विज्ञान में 'सापेक्षता और अनियतिवाद' (Principle of Indeterminacy) के सूत्रों में पहले के स्थूल नियतिवादी सूत्र अब 'असम्बद्ध' हो गये हैं विज्ञान के क्षेत्र में न्यूटन' का फार्मूला आज कौन प्रयोग में लाता है?

किन्तु विज्ञान की 'प्राचीन' के प्रति इस तरह की बेलाग दृष्टि मानविकी क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ती। सबब यह है कि मानविकी 'मनुष्य' से सम्बन्धित है 'पदार्थ' से नहीं। पदार्थ के विषय में नया फार्मूला पुराने को अपदस्थ कर देता है किन्तु 'मनुष्य' के विषय में पुराने फार्मूले भी दो स्तरों पर मुख्यतः उपयोगी रहते हैं—(१) मनुष्य में प्राकृतिक स्तर' बहुत कम बदलता है। यह स्तर आधुनिक युग में भी सक्रिय है और उम्मीद यह है कि अगर मनुष्य के प्राकृतिक गठन में रसायनिक परिवर्तनों द्वारा उसे 'अमानव' या 'मानवेतर' नहीं बना दिया गया तो यह प्राकृतिक स्तर रहेगा और इस स्तर की, इसके 'स्वभाव' की पहचान प्राचीन काल में ही हो चुकी थी। (२) मानव के सर्जन (काव्य दर्शन, धर्म मिथ, नीति या मूल्य) के सम्बन्ध में चिंतन सर्जन के स्वरूप और उसकी विशिष्टताओं' का ज्ञान। इस क्षेत्र में प्राचीनों ने पर्याप्त श्रम किया था।

इनमें जो निष्कर्ष तात्कालिक सर्जन की विशिष्टता' का मनन कर, सामान्यीकरण प्रक्रिया द्वारा प्राप्त किये गए हैं, उनका आधुनिक युग में परि

शोधन (और पूर्ण त्याग भी) करना पड़ता है क्योंकि आधुनिक सृजन (काव्य, कला, दर्शन आदि) प्राचीन सृजन से, बहुत भिन्न हो गया है। उदाहरणतः आज की अमूर्त कला और काव्य अथवा अतियथार्थवादी कला या काव्य की व्याख्या रससिद्धांत की शब्दावली में करना दुःसाध्य है क्योंकि रससिद्धांत मुख्यतः नाट्य के सन्दर्भ में विकसित हुआ था और भारतीय रूपकों का मुख्य उद्देश्य *मौलिक चरित्र चित्रण या मूल्यान्वेषण का वर्णन नहीं था न उनकी रचना* संक्रमणशील सभ्यता में हुई थी। उनकी रचना का सन्दर्भ ब्राह्मणवादी संस्कृति और सामन्ती समाज संघटना का सन्दर्भ था जिसमें नाट्य का उद्देश्य मनोरंजन और श्रोताओं को 'प्राकृतिकस्तर' से सीधे जुड़े स्थायी भावों (रति, हास, क्रोधादि) में निमग्न करना था अतः नाट्य लेखक नाट्य उत्पादक (भरत) और प्रेक्षकों के लिये 'अविरोध' (मूल्यों और मानसिक स्थिति की दृष्टि से) की हालत में रहना स्वाभाविक लगता था। नाट्यकला का आधुनिक कला और साहित्य की तरह उद्देश्य 'परिवर्तन' नहीं था। उसी स्थिति में रहकर—स्वीकृत मान्यताओं के आधार पर कुछ समय के लिये कला में तन्मय होना ही उसका उद्देश्य था।

यही स्थिति भरत के बाद रचे गए संस्कृत में लिखित उस काव्य की थी जो पाठकों या श्रोताओं में किसी एक स्थायीभाव को संचारी आदि से पुष्ट कर, रसमग्नता जाग्रत कर देता था। कालिदास अश्वघोष माघ भारवि श्रीहर्ष, अमरुक वगैरह सभी रचनाकारों में चमत्कृत करने की रुचि होने पर भी *मुख्य प्रवृत्ति भाव विशेष में पाठकों को 'तन्मय' करना ही था।* भावों के विषय में एक खास दृष्टि स्वीकृत थी जिसमें एक प्रमुख भाव के साथ दूसरों की संगति पर ध्यान अधिक था विरोध पर नहीं।

अतएव इस भावात्मक सृजन का कारण विशिष्ट संस्कृति, विशिष्ट समाज संपन्न और विशिष्ट रचना प्रक्रिया थी। इससे 'रससिद्धांत' एक विशिष्ट प्रकार के काव्य या नाट्य के [illegible] उससे प्राप्त निष्कर्ष के रूप में प्रस्तुत हुआ था।

प्राचीन [illegible] में भी भावनाओं का वर्णन है किन्तु वहाँ निर्विघ्न रस प्राप्ति क्या [illegible] होता? कारण यह है कि उस साहित्य में सारे विघ्नों को दूर कर रस प्राप्ति उत्पन्न करने पर बल नहीं है बल्कि जीवन में [illegible] विरोधों आदि का ही साधा सामना किया गया है। उन्हें समझने का प्रयत्न किया गया है अतः पाश्चात्य सृजन द्वंद्वमय है मुख्यतः रसमय नहीं। यह 'रुचि' का अन्तर [illegible] का [illegible] के अन्तर का [illegible] है। यहाँ सवाल है कि [illegible] प्रश्न [illegible] आधुनिक युग में सारे [illegible] अधिक [illegible] प्रतीत

होते हैं, और भारतीय नाटकों को देखकर हृदय में हाय उठती है, कितने भाग्यशाली थे वे प्राचीन लोग कोई प्रश्न नहीं, असन्तोष नहीं, विरोध नहीं। साथ ही यह भी मन में आता है कि वे पूर्वज कितने सरल थे। अब निर्द्वन्द्व होकर रस भोगने का वह अवसर कहाँ है ? यह सम्भव है कि निर्द्वन्द्व उत्तर युग" (यह प्रश्न युग है) में पुनः रससाहित्य 'सम्बद्ध' लगने लगे, लेकिन कौन जानता है क्या होगा ? फिर प्रश्न सिर्फ प्रश्न !

लेकिन तात्कालिक सृजन के आधार पर, उस समय तक विकसित, बौद्धिक अस्त्र-शस्त्रों (न्याय, मीमांसा, वेदान्त, बौद्धदर्शन, कामसूत्र आदि) की सहायता से, पूर्वजों ने 'काव्यमात्र' की प्रकृति की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इसके सिवा काव्य कला आदि के स्वरूप, प्रयोजन, हेतु प्रभाव, कवि-श्रोता कवि पाठक, कवि-अभिनेता–प्रेक्षक आदि के सम्बन्धों (सम्प्रेषण की समस्या) वगैरह पर प्राचीनों ने करीब-करीब सभी व सवाल पूछे हैं, जिनसे हम आज पीड़ित हैं। इस प्रकार काव्य और कला की तात्त्विक' या सैद्धान्तिक चर्चा के लिये प्राचीन काव्य शास्त्र की उसी प्रकार उपेक्षा असम्भव है, जिस प्रकार इतिहास दर्शन' के लिए प्राचीनों की धारणाएँ ('काल' और इतिहास' का चक्रसिद्धान्त ह्रासवाद'–इतिहास की मिथ रूप में प्रस्तुति' आदि) आधुनिक इतिहास दर्शन के लिए अनिवार्य है। उनमें यत्र तत्र इतनी 'अन्तर्दृष्टियाँ' हैं कि हमारी अपनी आधुनिक अन्तर्दृष्टियों में कभी-कभी तो अद्भुत साम्य दिखाई पड़ता है। अतएव प्राचीन काव्यशास्त्र के किसी सम्प्रदाय को यथावत नहीं अपनाया जा सकता न किसी सिद्धान्त को काव्यनिकष बनाया जा सकता है लेकिन काव्य और कला में सम्बन्धित प्रत्येक सामान्य' प्रश्न पर (कविता क्या है कला क्या है प्रयोजन क्या है, प्रभाव कैसे होता है वगैरह) प्राचीन-काव्य शास्त्र (प्लेटो, अरस्तू की तरह भरत, वामन अभिनवगुप्त आदि) में ऐसे बीजमन्त्र हैं, ऐसे आलोक (क्षण) हैं कि गम्भीर विदेशी कला तत्ववेत्ता भी चकित रह जाते हैं।

इस सम्बन्ध में प्राचीन और आधुनिक दोनों ने जल्दबाजी और अतिवाद से काम लिया है। परम्पराप्रियता का अर्थ यह नहीं है कि पिकासो, टी० एस० इलियट, जेम्स ज्वायस या अज्ञेय की कृतियों में 'रस' सिद्धान्त का प्रयोग कृति की श्रेष्ठता के निर्णय के लिए किया जाए क्योंकि इन रचनाकारों में स्रष्टा का ध्यान पाठक को भावविभोर करना नहीं तन्मय करना नहीं–जीवन को समझने के लिए प्रेरित करना है। आधुनिक जीवन बहुत उलझा हुआ जीवन है, उसमें दुःख और सुख ने उन्मादक, दर्दें के पीछे छिप

रहते हैं और यहां वे भी विदेश से लगते हैं। प्रयोगी युगों, परिवर्तनप्रिय सभ्यता में स्थिरता न स्थान की है न मान्यताओं की, न सम्बन्धों की अतः कलाकार या तो इस भ्रमविनाशक यथार्थ की उलझन की ओर ध्यान आकर्षित करे या फिर वह पाठक को झकझोर उस चिन्तन तक कि वह अनाधुनिक मोह निद्रा (ईश्वर, धर्म, स्थायी सम्बन्ध राष्ट्रप्रेम जातिप्रेम परिवारप्रेम प्रेमी प्रेमिका का प्रेम, सफलता प्रेम, महत्वाकांक्षाएँ वगैरह) से जगे। लेकिन इसके लिए वह उद्बोधन का मार्ग भी नहीं अपना सकता क्योंकि उद्बोधन तब सम्भव है, जब लक्ष्य स्पष्ट हो। आधुनिक कला इसीलिए पेचीदगी से भरी हुई है लेकिन जब रचनाकार साफ कह नहीं पाता तब वह इशारे करता है। अजीबोगरीब तरीके अपनाता है पुराने शिल्प को तोड़ता है फलतः 'रस सिद्धान्त' से नहीं, आधुनिक रचना प्रक्रिया को ध्वनि के आधार पर कुछ समझा जा सकता है।

यह स्मरणीय है कि ध्वनि' के लिए संकेत आनन्दवर्धन को भरत के रससूत्र से ही मिला होगा क्योंकि नाट्य के सन्दर्भ में प्रयुक्त रस सूत्र को काव्य मात्र के लिए प्रयुक्त कर परवर्ती आचार्यों में ध्वनिकार ने उसमें यह संकेत लिया था कि काव्य कथित नहीं होता विभावानुभावादि द्वारा कवि की चित्तवृत्ति संकलित ही हो सकती है। यदि रससूत्र को आप इतने 'सामान्य' रूप में ग्रहण कर सकें तो ध्वनि सिद्धान्त के जनक होने का भी उसे ही गौरव मिल सकता है।

किसी सर्जन में पात्रों परिस्थितियों और उनकी प्रतिक्रियाओं का ही वर्णन होता है। जैसे किसी भोज्यपदार्थ में अनेक [illegible] के विशेष संयोजन से एक विशेष आस्वाद (रस) उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार कला और काव्यादि की सृष्टि के 'आस्वाद' (या उसे आप जो भी नाम दें) का रहस्य कला के द्रव्यों के विशिष्ट संयोजन में है। इस तरह रससूत्र आपको काव्यमात्र की रचना प्रक्रिया का रहस्यदर्शक लग सकता है। इसी तरह ध्वनिकार ने उसमें कला की व्यंग्यात्मकता का संकेत ग्रहण किया था।

अतः आधुनिक कला के परीक्षण के लिए रस सिद्धान्त की प्रचलित कोटियों को नहीं अपनाया जा सकता किन्तु कला या काव्य मात्र के स्वभाव के परीक्षण में प्राचीनों से सूत्र और संकेत आप पा सकते हैं। आगे का काम स्वयं आप को ही करना होगा क्योंकि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र, काव्य का शास्त्र है आलोचना की पुस्तक नहीं। 'शास्त्र' की उपयोगिता इस बात पर निर्भर है कि आप किस दृष्टि से उसे देखते हैं शास्त्र को 'कामधेनु' इसी अर्थ में कहा गया है।

यह देखने योग्य तथ्य है कि काव्य शास्त्र मे क्या है, यह अभी तक अधिक समझाया गया है। ऐसे इशारे भी किये गये हैं कि इस तरह शास्त्र से लाभ उठाया जा सकता है। उसे 'आधुनिक' शब्दों म भी प्रस्तुत करने की कोशिश हुई है। इस कार्य की प्रशसा होनी चाहिए लेकिन निन्दा का कारण यह है कि पूर्व सर्जन पर आधारित सिद्धान्त, उससे भिन्न स्वभाव वाले सृजन पर फार्मूले की तरह लागू कर दिये जाते हैं। यह शास्त्र के प्रति अन्याय है, परम्परा का दुरुपयोग है। इससे चिढकर आधुनिक उस शास्त्र या परम्परा का ही निषेध कर देता है न बास रहेगा न बासुरी बजेगी।

लेकिन यह भी अतिवाद है। कला और काव्यादि के विषय मे 'सामान्य चिन्तन' प्रकारान्तर से सामयिक कला का भी हित करना है। यह स्वय एक शास्त्रीय चर्चा ही है कि परम्परा की आधुनिकता के लिये क्या सम्बद्धता है?

'सामान्य चिन्तन के रूप मे अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, अनुमति, शब्दशक्ति गुण दोष (विभाजनवाद को छोडकर) आदि की धारणाएँ आधुनिक कला-काव्य-दर्शन के लिये अनिवार्य हैं। इनमे प्राचीनो ने रस के आधार पर सगति स्थापित की थी, आप इस तरह की सगति को अस्वीकार कर सकते हैं। रसपरक काव्य को रुचि विशेष मान सकते हैं लेकिन काव्य की तत्व चर्चा के लिये अलकार सम्प्रदाय म जो 'सादृश्य और विरोध' की मनोवैज्ञानिक धारणा है, जिसके बिना म उसकी कैसे उपेक्षा करेंगे? शैली पर निबन्ध लिखते समय अगर वामन शैली का सम्बन्ध गुण (चित्त वृत्ति स्वभाव, व्यक्तित्व) म स्थापित करके आपको शैली का मर्म उद्घाटित करने म मदद देते है तो आपको उसी धारणा के लिये किसी विदेशी के सम्मुख वामन को उद्धृत करने म क्या लाज लगती है? इसी तरह काव्यप्रक्रिया सकेतात्मक होती है इस प्रकार म आप यदि किसी सफल रचना' का विश्लेषण करें और देखें कि किस तरह के प्रभाव के लिए किस शब्द को चुना गया है उसकी गूँजें कहाँ तक ले जाती हैं, कवि का इरादा क्या है 'अनकहा' क्या रह गया है इन प्रश्नो पर ध्वनिवाद मदद कर सकता है। और काव्य की अर्थ प्रक्रिया के लिये शब्द शक्तियो का विवेचन तो आधुनिक अर्थ विज्ञान की एक पूर्वशाखा सा लगता है यह रिचर्ड्स की पुस्तक 'अर्थ का अर्थ' पढकर जाना जा सकता है।

भारतीय काव्य शास्त्र म सूत्र अधिक गर्भीले हैं क्योंकि वर्षों किसी बात पर अधिकाधिक मनन के बाद उनकी रचना होती थी अत जो आधुनिक विचारक, किसी सूत्र को पढ़कर, अपनी सृजनात्मक कल्पना के बल पर चर्चित

समस्या के सारे पक्षो, शकाओ, समाधानो की पुन सष्टि नही कर सकता, शास्त्र उसके लिये नही हैं। यह अजीब विडम्बना है कि जो स्वतन्त्र चिन्तन कर सकते है, वे तो परम्परा के प्रति निषेध का रुख अपनाते हैं और जो सिर्फ 'टीकाकार' या मात्र भाष्यकार हैं उन्हे शास्त्र का सर्जनात्मक प्रयोता कहा जा रहा है। अब समय आ गया है कि साहित्य चिन्तक 'समस्यामुख' रुख अपनाएँ। जो समस्या लें, उस पर प्राचीन, नवीन जहा जो कुछ आलोक मिले, उसे अकुण्ठ भाव से ग्रहण करें। मसलन 'सम्प्रेषण' की समस्या पुरानी भी है, आधुनिक भी है। अब इस पर साधारणीकरण के सिद्धान्त से अगर कुछ बोध मिलता है तो ठीक अन्यथा समाज मनोविज्ञान के पास जाइए। उसे उलट कर कहने पर मन्तव्य यह होगा कि न केवल साधारणीकरण का सिद्धान्त पर्याप्त है, न मात्र समाज मनोविज्ञान।

साहित्यिक आलोचना का सकट यही है कि हम केवल काव्य शास्त्री, 'इकहरे' आधुनिक (परम्परा के निषेधकर्ता) अथवा कोरे मनोविश्लेषक या कोरे समाजशास्त्री हो जाते हैं। विशेषज्ञता के इस युग में मानव सम्बन्धित किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय न तो प्राचीन को छोड़ा जा सकता है और न उसी के निकष पर नवीन रचनाओ का वरण किया जा सकता है लेकिन इस 'सवसमट' अथवा 'इन्टीग्रेटिड' चिन्तन के लिये न प्राचीन आचार्य प्रस्तुत हैं और न अत्याधुनिक। लेकिन सही रास्ता यही है।

सृजन-प्रक्रिया में सापेक्षतावाद

भारतवर्ष में काव्य सृजन प्रक्रिया का उल्लेख सर्वप्रथम भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरतपूर्व आचार्यों के संक्षिप्त उद्धरण भी नाट्य शास्त्र में ही मिलते हैं। सृजनप्रक्रिया के संबंध में भरत के मत को 'वस्तुवादी' और 'व्यक्तिवादी'—दो दृष्टियों से समझाया गया है। प्राचीन आचार्यों की व्याख्याएँ भी या तो वस्तुवादी हैं या व्यक्तिवादी। सापेक्षतावादी दृष्टि से की गयी व्याख्याएँ बहुत कम मिलती हैं इससे अनेक भ्रमों की सृष्टि हो गयी है।

संपूर्ण कलाओं का प्रयोजन आनंद है— यह दृष्टि उपनिषद काल से ही इस देश में स्वीकृत रही है। यह अवश्य है कि इस आनंद के कारण कभी 'हित' और कभी 'अंतःप्रकृति' माने गये हैं। कलाओं से प्राप्त इस आनंद को ही यहाँ 'रस' की संज्ञा दी गयी है, यह 'रस' का व्यापकतम प्रयोग है। नाट्यशास्त्र में मुख्यतः रस नाट्य के संदर्भ में ही चर्चित हुआ है इसलिए कुछ विद्वान अब यह मानना चाहते हैं कि रस का संबंध नाट्य से ही है, अन्य कलारूपों के साथ उसका साक्षात अथवा नाट्य के सदृश यथावत संबंध नहीं है। किन्तु अब भी अनेक विद्वान यह मानते हैं कि भरत का नाट्यशास्त्र वस्तुतः कलाशास्त्र या सौंदर्यशास्त्र है जो प्रमुखतः नाट्य पर इस विधि से प्रकाश प्रक्षिप्त करता है कि उसके साथ-साथ कलामात्र पर भी प्रकाश पड़ता चलता है। जिस प्रकार अरस्तू का काव्यशास्त्र, काव्यशास्त्र होने के साथ-साथ कलाशास्त्र भी है उसी प्रकार नाट्यशास्त्र कलाशास्त्र भी है। यह आवश्यक नहीं है कि भरत ने नाट्य पर विचार करते समय कला और काव्य पर ध्यान ही न दिया हो, क्योंकि नाट्य एक समन्वित कला है। नाट्य में संगीत, स्थापत्य, चित्र, काव्यादि सभी कलाओं का प्रयोग होता ही है।

अतः सृजन प्रक्रिया के लिए भी भरत के नाट्यशास्त्र का अनुसंधान व्यर्थ नहीं है। भरत की दृष्टि वस्तुमूलक थी—इस मत की स्थापना डा० सुरेंद्र बारलिंगे ने की है। इस मत के अनुसार, रस आस्वाद्य पदार्थ है। वह आस्वादस्वरूप न होकर आस्वाद्यस्वरूप है। जिस प्रकार नाना व्यंजन-औषधि आदि द्रव्यों के संयोग से रस निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना 'भावों' के उद्गम से नाट्य में रस निष्पत्ति होती है। भरत ने 'भाव' शब्द को केवल मनोविकार अर्थ में ग्रहण नहीं किया है, भाव शब्द में मानसिक स्थितियों के

अतिरिक्त समस्त विचारों और पदार्थों की भी गणना कर दी गयी है। अतः विभिन्न पदार्थों के योग से जब 'पाकरस' बनता है वैसे ही नाना भावों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है। द्रव्य गुण रहता है। जो विद्वान 'रस' को 'गुण' मानते हैं, वे रस के आस्वादरूप का उल्लेख करते हैं।

इसके विपरीत, आचार्य अभिनवगुप्त ने रस को आस्वादरूप ही माना है 'चर्वणा' या भोग के अतिरिक्त रस की कहीं वास्तविक स्थिति नहीं रहती। यह रस के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। आधुनिक भाषा में प्रथम व्याख्या दृश्यगत (ऑब्जेक्टिव) और द्वितीय व्याख्या द्रष्टागत (सब्जेक्टिव) है।

यह कहना आवश्यक है कि भरत से पूर्व कतिपय आचार्य रस को 'द्रव्य' ही मानते थे। अभिनवगुप्त ने एक सांख्यमतानुयायी मत को उद्धृत भी किया है जो रस को वस्तुमूलक ही मानता था। यह आचार्य स्पष्टतः बाह्य विषय-सामग्री को ही 'रस' कहते हैं। क्योंकि यह सामग्री सुख-दुःख के जागरण के समय होती है अतः 'प्रस्तुत सुख दुःख जननशक्तियुक्त विषय-सामग्री ही रस है।'

यह विवाद उसी प्रकार का है जैसा हम आज के सौन्दर्यशास्त्र में देखते हैं। सौंदर्य को द्रष्टागत या दृश्यगत मान कर ही यह सारा विग्रह चल रहा है। कई विचारक इन परस्पर विरोधी मतों में समन्वय स्थापित करना चाहते हैं किन्तु उनका समन्वय उक्त दोनों मतों का मिश्रण बन जाता है। सौंदर्य या रस वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य का, अथवा व्यक्ति और परिस्थिति के द्वंद्व का समन्वय है। वह द्रष्टा और दृश्य का साधारण समन्वय नहीं है अपितु द्वंद्वात्मक समन्वय है।

क्या भरत इस द्वंद्वात्मक समन्वय से परिचित थे? उन्होंने रस की सृजन प्रक्रिया को जिस प्रकार समझाया है उससे तो यही प्रतीत होता है कि वह इस द्वंद्वात्मक समन्वय से परिचित थे। निस्सन्देह भरत की यह प्राप्ति जीवन निरीक्षण के माध्यम से हुई थी किसी वाद या दर्शन के माध्यम से नहीं। न तो भरत मनोविज्ञान के विशेषज्ञ थे, न आधुनिक इतिहास के सिद्धांतों से परिचित थे, अतः उनकी उपलब्धि का आधार मानव जीवन का विभिन्न परिस्थितियों में अध्ययन ही था तभी उन पर आधुनिक मतों का आरोप असंभव है। किन्तु कोई वाद या दर्शन भी जीवन निरीक्षण से ही प्राप्त होता है। प्रायः किसी दार्शनिक के किसी वाद की पुष्टि किसी ऐसे लेखक के ग्रन्थों से हो जाती है जो वैज्ञानिक अर्थ में दार्शनिक नहीं होता है। प्रायः साधारण व्यक्ति और विशेषज्ञ एक ही निर्णय पर पहुँचते हुए दिखायी पड़ते हैं यद्यपि उनके निर्णय पर पहुँचने की विधि में बहुत अन्तर होता है। अतः

यदि भरत की सृजन प्रक्रिया म सापेक्षतावाद मिलता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहा है।

कला और साहित्य म दो तत्व क्रिया प्रतिक्रियात्मक सघर्ष म आते हैं– मानव और प्रकृति तथा मानव और समाज। मानव जब स्वय मानव की अत प्रकृति का विश्लेषण करता है तब भी वह सर्वथा तटस्थ व्यक्ति की तरह नहो हो सकता। उसका तटस्थ विचार एक ऐसे व्यक्ति का होता है जो आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया म भोक्ता' और तटस्थ' दोनो होता है, अत 'सापेक्ष तटस्थता और 'सापेक्ष' भोग की स्थिति म ही विचार और विश्लेषण होता है। मनुष्य न तो स्व स भाग कर कही जा सकता है, और न 'वाह्य' से। उसका स्व' बाह्य का ही एक अश होने अथवा 'वाह्य प्रवाह का ही बिन्दु होने के कारण निरपेक्ष स्व की धारणा ही अवज्ञानिक है। तभी भरत ने सजन प्रक्रिया म बाह्य विभावादि नाट्य विषयो की कलापूर्ण प्रस्तुति को 'रस' कहा है और साथ ही उन्हे सुखदुखात्मक' भी माना है क्योंकि विभावादि के प्रति हमारा रागात्मक सबध एक सहज स्वीकृत तथ्य है। 'पात्र' कहते ही हमारी चेतना के सस्कार अनुभूत उठने हैं एक विशेष मूर्ति स्वत हमारी चेतना म उदित हो उठती है अत द्रष्टा और दृश्य दो सर्वथा निरपेक्ष वग नही है। सम्पूर्ण दृश्य हमारी चेतना स साक्षात सम्पर्कित होने के कारण 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानने वाले विद्वान सहज ही इस भ्रम म पड गये कि कला एक परम स्वतन्त्र क्रिया है और वह प्रयोजन रहित है, उसका प्रयोजन वह स्वय है। यह सिद्धान्त स्पष्टत मनुष्य पर सामाजिक प्राकृतिक प्रभाव को अस्वीकार करता है। जब कोई अनुभूति कोई प्रतिक्रिया सदर्भहीन नही होती तब सन्दर्भरहित सिद्धान्त स्पष्टत भ्रम है, अत भरत के अनुसार रस न तो केवल वस्तुमूलक या द्रव्यमूलक है और न अभिनवगुप्त के अनुसार केवल अपनी वासनाओ का भोग है। कला नाट्य और काव्यादि का रस वस्तुत सापेक्षता वादी आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है। केवल विषयगत या विषयी दृष्टि अवज्ञानिक है।

भरत न सामान्य जीवन स एक उदाहरण चुना था। ओदनादि भोजन म दाल चावल गरम मसाले, दधि दुग्ध आदि अनेक पदार्थों का प्रयोग इस प्रकार होता है कि भोजन म एक विशेष रस की सृष्टि हो जाती है। यह रस उसकी तयारी म प्रयुक्त किसी एक पदार्थ म नही होता, न सब पदार्थों के मनमाने प्रयोग स ही उत्पन्न होता है। वह तो अनेक पदार्थों के विशिष्ट प्रयोग म निहित होता है। किन्तु केवल पदार्थों के विशिष्ट प्रयोग स भी रस की सृष्टि नहा होगी क्योंकि स्वाद के लिए भोक्ता की मानसिक स्थिति आवश्यक

है । रोगी व्यक्ति छप्पन प्रकार के राजसी व्यंजनों में भी आस्वाद या रस प्राप्त नहीं कर सकता । सामान्य व्यक्तियों में भी रुचि का प्रश्न रहता ही है और यह रुचि भी निरपेक्ष नहीं होती । उसका विकास पूर्व काल में प्राप्त भोजन पर आधारित होता है, अन्य परिस्थितियाँ भी रुचि के विकास में सहायक होती हैं । रॉबिंसन क्रूसो की रुचि का विकास उसकी आरण्यक परिस्थिति पर निर्भर था । वही क्रूसो जब समाज में आता है तब उसकी रुचि में भी परिवर्तन हो जाता है । अतः रंग रुचि भाग प्रियता, अप्रियता आकर्षण विकर्षण—यह सब रागात्मक परिस्थिति के सन्दर्भ में ही परीक्षित हो सकते हैं । द्रष्टा और 'दृश्य' पर अलग-अलग विचार भरत को अभिप्रेत नहीं हो सकता था ।

इसी प्रकार कला-प्रक्रिया में सापेक्षतावाद दिखायी पड़ता है । लेखन या अंकन या चित्रण कल्पनाशक्ति का चमत्कार है—सृजनात्मक कल्पना' का । किन्तु यह सृजनात्मक कल्पना जिसे हमारे काव्यशास्त्र में 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' ठीक ही कहा गया है जिन विभाव भाव अनुभावों के संयोग से रसनिष्पत्ति करती है उन्हें इस रूप में ग्रहण नहीं करती जैसे वे अनुभूति क्षेत्र से बाहर के सर्वथा निरपेक्ष पदार्थ हों । सृजनात्मक कल्पना विभावादि को 'रागरंजित' रूप में स्वीकार करके ही उन्हें कला सामग्री बनाती है अन्यथा कला का नहीं शास्त्र का निर्माण होगा । कवि के लिए राम अशोक दमयंती सीता गंगा हिमालय आंगन का वृक्ष वन सरोवर आदि विभाव रागरंजित पदार्थ हैं । डा० सुरेन्द्र बारलिंगे ने इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया । कला-साहित्य का कार्य ही यह है कि वह सृष्टि की सामग्री को हमारी चेतना परिधि में समेट कर उन्हें उसका अंग बना देता है । हिमालय—पत्थरों, मिट्टी और हिम का पुंज न रह कर सुन्दर, उदात्त आकर्षक रक्षक पिता शिवधाम, मेरा भूधर मेरा विशाल बन जाता है । वस्तुतः यह भावना बहुत कुछ सृजन के पूर्व भी जन मानस में रहती है । पदार्थों पात्रों आदि के विषय में जन मानस में जो रागात्मक सम्बन्ध बने रहते हैं उनसे कलाकार लाभ उठाता है कभी वह पुराने रागात्मक संबंधों को जगाता है और कभी नये सम्बन्ध स्थापित करता है । पात्रों के विषय में भी यही मत ठीक है । भरत ने विभावादि के विवरण में इतिहास या पुराण से कथाएँ और पात्र चुनने पर बल दिया है । इतिहास या पुराण का अर्थ यह है कि कुछ पात्रों और परिस्थितियों से हमारा विशेष रागात्मक सम्बन्ध है । कलाकार अपने युग की धारणाओं के अनुकूल उस रागात्मक संबंध में परिवर्तन, परिशोधन करता है । आधुनिक साहित्य में पौराणिकता या मिथ का प्रयोग

भी अनजाने ही इसी दृष्टि पर आधारित है। क्योकि कलाकार या कवि अन्य मनुष्यो से विपरीत प्राणी नही होता, अत उसकी सृष्टि' के साथ अन्य व्यक्ति शीघ्र रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। यदि वैचारिक भिन्नता से अथवा मूल्य सम्बन्धी विरोध से लेखक के साथ पाठक का तादात्म्य नही भी हो पाता तो भी संवेदना और अनुभूति के स्तर पर पाठक प्रत्येक सफल कृति से 'रस' प्राप्त कर सकता है।

भरत के द्वारा प्रस्तुत व्यजन प्रक्रिया' और सृजन प्रक्रिया' मे एक बात अत्यन्त महत्व की है जिसकी अब तक उपेक्षा ही हुई है। हमने ऊपर द्वन्द्वात्मक समन्वय' की चर्चा की है अर्थात कला-सामग्री के विभिन्न अगो की सगति रस' है किन्तु यह रसात्मक समन्वय' अगो के द्वन्द्व का समन्वय है मात्र काव्यागो का मिश्रण नही है। केवल विभावादि का नाम ले देना अथवा रस का कथन आनन्ददायक नही होता वरन पाय परस्पर विरोधी स्वाद के पदार्थों को विशेष अनुपात मे मिलाने से जिस प्रकार एक विलक्षण रस' की सृष्टि होती है, उसी प्रकार कला और साहित्य मे परस्पर विरोधी भावो की विशिष्ट सगति ही सौदर्य-सृष्टि है।

इसीलिये शृगार रस को प्रमुखता दी गयी थी। उसके—सयोग और विप्रलम्भ—दो भेद बन जाने से उसमे अधिकाधिक भावनाओ की सगति बन जाती है। रति और शोक परस्पर विरोधी भाव हैं, प्रथम सुखकर और द्वितीय दुखकर भाव है। किन्तु विप्रलम्भ शृगाररस मे इन दोनो का समन्वय होता है तभी विप्रलम्भ को श्रेष्ठ माना गया है। भारत मे ही नही ग्रीस, रोम और योरोप के अन्य देशो मे भी दुखान्त को ही श्रेष्ठ माना गया है क्योकि उसमे परस्पर विरोधी भावो की सगति सर्वाधिक रूप मे प्राप्त हो सकती है। दुखान्त या सुखान्त का निर्णय इसी आधार पर होना चाहिए। जिसमे परस्पर विरोधी भावो की सगति सर्वाधिक हो, चाहे उसका अन्त सुखमय हो या दुखमय वही साहित्य श्रेष्ठ है। भारतवर्ष मे वाल्मीकि रामायण और महाभारत सुखान्त हैं या दुखान्त ? सीता की मृत्यु (या आत्महत्या ?) के बाद रामायण का अन्त सुखान्त कैसे माना जायगा ? इसी प्रकार, धरती को वीरविहीन कर विधवाओ पर पाडवो के राज्य को दुखान्त माना जाय या सुखान्त ? महाभारत मे तो पाण्डवो की मृत्यु तक दिखायी गयी है। हिमालय मे महाभारत युद्ध के विजयी पाडव जब अवश्यभावी मृत्यु के सम्मुख निर्बल साबित होते हैं तब महाभारत की सृष्टि का उद्देश्य सुखान्त या दुखान्त न रह कर मानव जीवन की उस यथार्थ दशा का चित्रण हो जाता है जो परस्पर विरोधी भावो धारणाओ का समन्वय है। अत कला का परायण 'फामूले' धारणाओ पर नही हो सकता। दसना यह

होगा कि क्या सृजन प्रक्रिया में उक्त 'द्वंद्वात्मक समन्वय' का सिद्धांत प्रयुक्त हुआ है ?

कालिदास के 'रघुवंश' और 'शाकुंतल' तथा 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवध', 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'कामायनी' और श्रेष्ठ विश्व साहित्य इसीलिए महान हैं क्योंकि इनमें जीवन का यह सिद्धांत स्वीकृत हुआ है कि प्रत्येक वस्तु असंगतियों का समन्वय है—वह चाहे 'भय' और 'तरस' नामक भावों का विवेचन हो अथवा विभावादि के संयोग से 'आनंद सृष्टि'। किंतु सभी कलारूपों की सफलता का रहस्य ही यह है कि उनमें जीवन में प्राप्त संगति दिखायी पड़ती है—वह संगति, जो अपने गर्भ में असंख्य तरंगाकुल विरोधों या प्रतिक्रियाओं को छिपाये हुए है उसी प्रकार जिस प्रकार वृक्ष का फल वृक्ष के बीज, खाद, मिट्टी, प्रकाश, जल आदि के परस्पर संघर्ष या प्रतिक्रियाओं को छिपाये रहता है। साहित्य और कलाओं में इसीलिए मात्र मनोरंजन या साधारण हास्यरस को कभी वह गौरव नहीं मिल सकता जो गंभीर साहित्य को प्राप्त होता है। व्यंग्य का महत्व भी साधारण मजाक से इसलिए श्रेष्ठ है क्योंकि वह जीवन की असंगतियों की ओर हमारा ध्यान बड़े कौशल के साथ आकर्षित करता है।

भरत ने व्यंजन निर्माण का इसलिए उदाहरण दिया है ताकि काव्य पक्षों के परस्पर विरोधों के योग की ओर हम ध्यान दें। व्यंजन बनाते वक्त अनेक स्वाद वाले तत्वों को एक विशेष अनुपात में मिलाया जाता है। पानक रस में चीनी, नमकीन मिर्ची और खट्टी चीजों का प्रयोग होता है किंतु पानकरस इन सब की भ्रांति होता है। इसीप्रकार प्रत्येक कला में यही सिद्धांत मिलता है। मेघदूत में रति संयोग के मधुर स्मृतिचित्रों और वियोग के [illegible]

एक्सी होती है। वीर, रौद्र, वीभत्स आदि मे यह द्वद्व स्पष्ट होता है अधिक होता है किन्तु सौंदय वणन म यह चेतना की भीतरी पर्तो मे उतर कर कलाकार को सक्रिय करता है। सौन्दय की अनुभूति ही वस्तुत असौंदय स आधारित चेतना का प्रतिक्रिया है। धूप के बिना छाया का दुख के बिना सुख का, कुरूपता क बिना सौंदय का अस्तित्व सभव ही नहीं है। प्रकृति के सौंदय का अथवा मानवी सौंदय का मुग्ध होकर वणन करत वाले कवि और पाठक यह सकेत देत हैं कि उन्हें जीवन म बहुत कुछ कुरूप कुत्सित दखन या भोगन को मिला है। जगत के प्राणिया म क्रिया क बिना प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया क बिना क्रिया सभव नहीं है। हम सौंदय रस और आनद की भूख स पीडित ही इसलिए है क्योकि जीवन सुखदु खात्मक है यहा अमिश्रित आनद का अस्तित्व ही नहीं है।

जीवन के इस स्वरूप को भरत समझत थे, इसीलिए परवर्ती आचार्यों न उन्हे स्वीकृति दी किन्तु उस अमिश्रित आनन्द की खोज के लिए उन्ह सर्वातीत आनन्द या ब्रह्मानन्द की कल्पना करनी पडी। काव्य जीवन का कलापूण स्मरण है। सजनात्मक कल्पना के स्तर पर वास्तविक जीवन की कटुता जो हमारे व्यक्तिवाद का परिणाम है समाप्त हो जाती है और हम दिक्-काल-विच्छिन्न एक अलौकिक प्रतीत होन वाले आनन्द का लाभ करत हैं। कांटियो और विरोधो से भर जीवन के चित्रण स जन्य आनद को परवर्ती दार्शनिको न ब्रह्मानन्द सहोदर कह कर उस कलागत आनन्द की गौरववृद्धि की है किन्तु भरत ने इस गौरव वृद्धि की, चिंता नहीं की, न उन्होन 'रस' को वस्तुमूलक या व्यक्तिवादी दृष्टि स देखा। उन्होंने अपनी अद्भुत अतह ष्टि क बल पर कला क उक्त स्वरूप का साक्षात्कार किया था जिसम काव्य ब्रह्मानन्द सहोदर' नहीं, जीवनानन्द सहोदर' प्रमाणित होता है। केवल विषयीगत या विषयगत दृष्टिकोण से देश विदेश म कला की व्याख्याएँ आंशिक सत्य को प्रस्तुत कर सकी हैं पर कवल भरत की सापक्षतावादी दृष्टि ही कलाओ और काव्य के मम को उद्घाटित कर सकती हैं।

सौन्दर्यशास्त्र की समाजशास्त्रीय व्याख्या

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र यह मान कर चला कि मनुष्य की भावभूमि सामान्य है। राग द्वेष सब कालों और देशों में सामान्य हैं। सौन्दर्य की सृष्टि के लिए इस सामान्य भावभूमि का स्पर्श अनिवार्य है। इस कार्य में बाधक हैं हमारे दैनिक जीवन के राग और द्वेष जो नाना भेदों की सृष्टि करते हैं। यह भेदभूमि चेतना का उपरिधरातल है इस कार्य संगीत स्थापत्य आदि ललितकलासमूह तोड़ता है और इस उपरिधरातल के अंतरस्थित सामान्य भावभूमि को प्रसूत कर देता है। एक प्राकृतिक सुन्दर दृश्य देखने के पूर्व हमारी चित्तवृत्ति भेदभूमिग्रस्त रहती है किन्तु प्राकृतिक दृश्य पर दृष्टि पड़ते ही चेतना का उपरिधरातल कट कर छिन्न भिन्न होने लगता है और हम सहसा आनन्द भूमि में अथवा रसदशा में प्रविष्ट कर जाते हैं और मुख से स्वत 'अहा! कितना सुन्दर दृश्य है' निकल पड़ता है। काव्य पढ़ने चित्र देखने संगीत सुनने अथवा ताजमहल देखने के समय भी हम इसी रसदशा में पहुँच जाते हैं। शायद उक्त तथ्य का खण्डन किसी ने नहीं किया तब विवाद का विषय क्या है?

विवाद का विषय यह है कि क्षण विशेष में अथवा रसदशा में प्राप्त 'अनुभव' का स्वरूप क्या है? भारतीय काव्यशास्त्र इसे अद्भुत और अलौकिक आनन्द का अंग मानता है और इस सौन्दर्यानन्द को सृष्टि में व्याप्त मूल चेतना से सम्बद्ध कर देता है अर्थात दार्शनिक दृष्टि से वह इस सौन्दर्यजन्य अनुभव की व्याख्या करता है। यूरोप के विचारकों ने भी दार्शनिक दृष्टि से इस अनुभव की व्याख्या की जिसकी चरम सीमा हीगेल की व्याख्या में सुरक्षित है। इधर मनोविज्ञान के प्रकाश में इस अनुभव की व्याख्या हुई है। इस प्रयत्न में एक स्वतन्त्र शास्त्र या विज्ञान का जन्म हुआ जिसे 'नवसौन्दर्यशास्त्र' कहा जाता है। इस शास्त्र का कथन यह रहा है कि सौन्दर्यजन्य अनुभव स्वच्छन्द अनुभव है अन्य अनुभवों से अलग और इसका अध्ययन अन्य अनुभवों से अलग करके ही होना चाहिए। आर० ए० रिचर्ड्स ने इस सौन्दर्यशास्त्र का

"भ्रम" कहा है क्योंकि ऐसा मान लेने से ही 'कला के लिए कला' जैसे भ्रम पूर्ण सिद्धांत सम्मुख आए हैं—

Almost from the beginning of Scientific aesthetic the insistence upon the aesthetic experience as an experience, peculiar complete and capable of being studied in isolation, has received prominence 1

रिचर्ड्स ने यह भी बताया है कि यह वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण था कि एक समय में एक वस्तु का अध्ययन होना चाहिए अतः सौंदर्य जन्य अनुभव को सवतन्त्रस्वतन्त्र अनुभव मानकर सौंदर्यशास्त्र में अध्ययन होने लगा। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप कलावाद को बल मिला जिसमें शब्दसंगति या शब्द क्रीड़ा को ही कला का चरम उद्देश्य मान लिया गया अथवा कला के क्षेत्र से नीति (Ethics) अथवा सामाजिक हित की भाव को निकाल बाहर कर दिया गया।

यह मानकर भी कि सौंदर्यजन्य अनुभव विचित्र और स्वतंत्र प्रतीत होने पर भी अन्य अनुभवों से सम्बद्ध है, और इस अनुभव विशेष का जन्म भी अन्य अनुभवों के कारण ही होता है, रिचर्ड्स मनोवैज्ञानिक पद्धति को ही अधिक अपनाता है समाजशास्त्रीय पद्धति को नहीं।

समाजशास्त्रीय पद्धति सौंदर्य जन्य अनुभव की व्याख्या के कुछ कुछ प्रश्न प्रस्तुत करती और उनके उत्तर अन्य पद्धतियां से नहीं मिल सकते, यह साबित करती है। सौंदर्य-जन्य अनुभव क्या उत्पन्न होता है? भारतीय काव्यशास्त्र पूर्व जन्म के संस्कारों की शरण लेकर कहेगा कि यह मनुष्य का स्वभाव है नैसर्गिक प्रवृत्ति है। मनोविज्ञान भी नैसर्गिकता अथवा मूलप्रवृत्तियों (Instincts) की शरण लेता। जन्तुविज्ञान (Biology) भी मूलप्रवृत्ति की शरण लेता है। किन्तु इनमें जन्तुविज्ञान यह भी बताता है कि सौंदर्यबोध का मनुष्य में शनैः शनैः विकास हुआ है। पशुओं, पक्षियों और अन्य मनुष्येतर जन्तुओं में यह प्राकृतिक है किन्तु मनुष्य में रंग, गन्ध स्पर्श आदि का आनन्द प्राकृतिक होने पर भी उसका अधिकतर सौन्दर्यबोध विकसित हुआ है, 'विकसित जातियों में सौन्दर्यबोध एक संकुल और विचार मिश्रित अनुभव के रूप में दिखाई पड़ता है।' २

1 Principles of Literary Criticism—Page 73

2 "With cultivated men such (aesthetic) sensations are however, intimately associated with complex ideas and

इसका तात्पय यह हुआ कि पशु पक्षियो म सौन्दयबोध का अध्ययन केवल जन्तुविज्ञान की सहायता स हो सकता है कि तु मानवीय सौन्दय बोध का अध्ययन चूकि सभ्यता के क्रमिक विकास स सम्बधित है अत 'सभ्यता' के अध्ययन से ही उसम रचित ललितकलाजन्य अनुभवो का अध्ययन सम्भव है। मनोविज्ञान इस विकास" की समस्या को नही सुलभा सकता न सुलभा सका है। फ्राइड, युङ्ग एडलर आदि किसी मनोविज्ञानविद ने सभ्यता के इतिहास क अध्ययन के आधार पर सौन्दय का अध्ययन नही बताया। मनोविज्ञान अनुभव को 'देशकालातीत' मानकर मनुष्य के अतरग का अध्ययन तो करता है किन्तु यह नही बताता कि उसका अतरग बाह्य ठोस परिस्थितियो से भी बनता है और बाह्य परिस्थितियाँ ही मन' के अध्ययन मे अधिक सहायक हो सकती है। इस प्रकार 'सौन्दयशास्त्र की समाजशास्त्रीय याख्या आवश्यक हो जाती है।

हम ऊपर कह चुके है कि पशु पक्षियो और मनुष्य के इद्रिय बोध को जन्तुविज्ञान प्राकृतिक' मानता है मूल प्रवत्तियो को भी प्राकृतिक', माना जाता है परन्तु किस अथ म ? पशु पक्षियो और मनुष्यो आदि जीवो का जब विकास हुआ है तब यह मानना होगा कि उनके सौन्दय-बोध की 'अत प्रवत्ति' का भी विकास हुआ है। उदाहरण के लिए हम इस प्रश्न का उत्तर नही दे सकते कि आकाश का नीला रग क्यो अच्छा लगता है। आज नीला रग हमे अच्छा लगता है इस अत प्रवत्ति' कह दिया जा सकता है किन्तु बात ऐसी नही है। यह सत्य है कि नील रग को भी जीव धीरे-धीरे ही समभने लगे होगे क्योकि रग वही प्रिय लगता है जिसकी प्रतिक्रिया हमारे या अन्य जन्तुओ क तन और मन पर सुखद होती है अत रातानी के चारों ओर भ्रमर का भ्रमण मादा के सम्मुख नर पक्षी का गायन अथवा मादा कीट के सम्मुख नर कीट का भुनभुनाना भी एक दीघ विकास की शृङ्खला का परिणाम है। इस प्रकार समाज बनने क पूव शताब्दियों के दौरान प्राकृतिक" समझे जान वाले "सौन्दय-बोध" का भी विकास हुआ है। इस अथ म "अत प्रवत्ति' भी स्थायी प्रवत्ति नही है उसम बराबर परिवतन हो रहा है किन्तु अत प्रवत्ति का यह परिवतन इतना धीमा है कि उसे शताब्दियों क बाद जान पात हैं। क्योकि अत प्रवत्ति' म परिवतन अत्यधिक शन शन होता है अत उसे

---

trains of thought " (Darwin The Descent of Man quoted by G Plekhanov in his Unaddressed letters, moscow, 19.7 page, 14)

प्रकृतिप्रदत्त या स्थायी तत्व मान लिया जाता है। इस दूसरे अथ मे ही भारतीय काव्यशास्त्र रति क्रोध भय जुगुप्सा आश्चय उत्साह हास और ईर्ष्या आदि को स्थायीभाव" कहता है। पाश्चात्यकाव्यशास्त्र मे भी इन्हे स्थायी माना गया है इसी उक्त द्वितीय अथ मे। किन्तु जन्तुविज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि अत प्रवत्तियाँ स्थायीतत्व नही हैं। बाह्य परिस्थितियो मे आमूलचूल परिवतन हो जाने पर अत प्रवत्तियो म भी आमूल परिवतन हो सकता है।

किन्तु मूल अत प्रवत्तिया के विकास की कहानी, प्राकृतिक युग की कहानी है, सामाजिक युग की नही। समाज जब स शुरू होता है, तब स हम यह स्पष्ट रूप से पाते हैं कि मनुष्य म राग है द्वेष है। वह भूख से पीडित होकर व्याकुल होता है रूप देख कर प्रसन्न होता है। बादलो की गरज सुनकर आल्हादित होता है और शत्रु को देखकर उस पर टूट पडता है। सगीत नत्य और चित्र कला आदिम से आदिम समाज मे थे इसके प्रमाण मिलते हैं किन्तु इनके सगीत नत्य चित्र और काव्य का स्वरूप इनकी सभ्यता के विकास के अनुरूप है। फिर यह भी पता चलता है कि जसे जसे समाज का विकास होता गया है, उत्पादन के साधनो म परिवतन होता गया है वसे वसे शासन विधि न्याय नीति धम और कला म परिवतन होता गया है।

कला मे परिवतन या विकास का कोई विरोध नही करता परन्तु प्रश्न तो यह है कि रति, क्रोध भय ईर्ष्या द्वेष, घणा उत्साह हास ग्लानि आश्चय आदि स्थायी मनोवत्तिया आज भी है, और आदिम समाज म भी थी तब क्या साहित्य कला म परिवतन केवल इन मनोवृत्तियो के विषय और प्रयोग तथा अभिव्यक्ति मे ही हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि समाज शास्त्र यह नही कहता कि य मनोवत्तियाँ मूलत बदल गई हैं। कहना यह है कि युग विशेष के अनुरूप इनके प्रयोग इनकी मात्रा और इनके प्रभाव म बराबर विकास दिखाई पडता है। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था मे मनुष्य के सौंदयबोध भाव और आनन्द म बराबर अन्तर दिखायी पडता है इस अन्तर या विकास की व्याख्या समाजशास्त्र द्वारा ही हो सकती है मनोविज्ञान अथवा जन्तुविज्ञान द्वारा नही न दाशनिक विधि हमारी यहाँ सहायता कर सकती है।

इस बिन्दु को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। मनोविज्ञानवादियों का समाज शास्त्रियो, और मुख्यत मार्क्सवादियों पर आक्षेप यह है कि ये लोग सौंदयजन्य अनुभव के कारणो की व्याख्या के चक्कर म पड जाते हैं अत आलोचनापुस्तक समाजशास्त्र या इतिहास की पुस्तक बन जाती है। भार

तीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों का भी यही आशय है। किन्तु मार्क्सवादी समाजशास्त्र का यह दोष नहीं है दोष है प्रमाताओं का जो तुलसीदास द्वारा सीता के सौंदर्य-वर्णन की व्याख्या करते समय सम्पूर्ण मध्यकालीन इतिहास को पुस्तकों में भर देते हैं। समाजशास्त्र का कथन यह है कि किसी भी अनुभव की व्याख्या के लिये यह देखना चाहिए कि किन परिस्थितियों के कारण यह अनुभव उत्पन्न हुआ है? इन परिस्थितियों में आर्थिक परिस्थिति मुख्य है किन्तु उत्पादन के साधनों और विनिमय के आधार पर विकसित, किसी युगविशेष की 'संस्कृति' के अनुसार ही उस युग की मानसिकता (Mentality) का जन्म होता है। अतः यह सम्भव है कि किसी अनुभवविशेष का आर्थिक क्षेत्र से सम्बन्ध न हो या बहुत दूर का हो और सांस्कृतिक क्षेत्र अथवा "सुपरस्ट्रक्चर" से उसका घनिष्ट सम्बन्ध हो। सीता के सौंदर्यबोध अध्ययन के लिये इसी सुपरस्ट्रक्चर का अध्ययन आवश्यक होगा किन्तु यह भी स्मरणीय है कि अन्तिम व्याख्या के लिये उत्पादन के साधनों और विनिमय पर विचार किये बिना सुपरस्ट्रक्चर का अध्ययन पूरा नहीं होगा।

मैंने इस समस्या को इंग्लैंड के प्रसिद्ध मार्क्सवादी मौरिस कानफोर्थ के सम्मुख पत्र द्वारा प्रस्तुत किया था उनका पत्र मुझे मिला है उसमें उन्होंने यह लिखा है कि कला मनुष्य की सामान्य प्रेरणाओं की उत्पत्ति है जो सभी सामाजिक व्यवस्थाओं में सामान्यतः मिलती है किन्तु इन प्रेरणाओं का प्रयोग सामाजिक व्यवस्था विशेष के अनुरूप होता है—

On the question of sensibility sentiment and pleasure I would myself think it is very vital to bear in mind that art is a product of impul es common to all humanity operating in every social system certain features of the mode of operation only being modified by the character of each Social System

उदाहरण के लिए सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन द्वारा ही इस तथ्य की व्याख्या की जा सकती है कि संस्कृत साहित्य और प्राचीन कला में विषय राजा और रानी क्यों रहे अथवा ईश्वर का इतना महत्व क्यों रहा? अथवा इनकी अभिव्यक्ति इतनी अलंकृत क्यों है? किन्तु समाजशास्त्र या मार्क्सवाद इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं कर सकता कि रति का वर्णन हम आज भी कर रहे हैं। तब रति का विषय ईश्वर राजा प्रिया प्रकृति आदि थे अब जागरूक लेखक अपनी रति या आसक्ति या प्रेम का विषय प्रकृति और प्रिया के साथ साथ सामान्य जन को अधिक बनाता है। क्यों? क्योंकि इतिहास

यह बताता है कि हम सामान्य जन को सगठित और शिक्षित करके ही वग हीन समाज की रचना कर सकते है। उसी प्रकार सस्कृत साहित्य की राज-भक्ति या ईश्वर भक्ति अब प्रिय नही लगती किन्तु मेघदूत अब भी प्रिय लगता है। राम को ईश्वर मानने वाले तुलसी की भक्ति प्रिय नही लगती किन्तु राम का चरित्र, सीता का पातिव्रत कौशल्या का स्नेह भाइयो का प्रेम और अन्याय के विरोध म राम के प्रयत्न की प्रवत्ति प्रिय लगती है क्योंकि ये मूल्य हम आज भी प्रिय हैं। रामायण की अभिव्यक्ति पुरानी है किन्तु इन मूल्यो का नइ अभिव्यक्ति दी जा रही है अत आदिम मनुष्यो के विकास के पूव तक जिन वासनाओ या मूलप्रवत्तियो का विकास हो चुका था उनका हम रूप बदल सकते है उनका क्षेत्र बदल सकते हैं उनकी मात्रा कम या अधिक कर सकते है किन्तु उन्हें समाप्त नही कर सकते क्योंकि अभी तक प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था म इतना परिवतन नही हुआ है कि मूल-प्रवत्तियो का स्वरूप ही बदल जाय। शताब्दियो से वगवादी समाज म मनुष्य म प्रदशन, असहयोग, इर्ष्या, द्वेष, घणा, लोभ क्रोध आदि वत्तियो का विकास हुआ है, उन्ह रूस और चीन भी समाप्त नही कर पाया क्योंकि अभी परिवतन आर्थिक क्षेत्र म हुआ है और वह भी विश्व के एक भाग मे। इन बुराइयो का या दुष्ट अ प्रवत्तियो का नाश तब होगा जब शताब्दियो तक मनुष्य वगहीन समाज म रहेगा और वगहीन समाज के लिये, ऐसी कला और काव्य की निरन्तर सष्टि होगी जिसम इन अमानवीय वत्तियो को आदर न मिले। किन्तु प्रतियोगिता पर आधारित समाज म ऐसे साहित्य का जन्म सम्भव नही है। पाश्चात्य देशो म जो साहित्य आ रहा है प्रमाण है। और हमारे नवयुवक इस व्यापक और दूरदर्शी दृष्टि के अभाव म उसी का अन्धानुकरण अपना उद्देश्य समझ रहे हैं।

किन्तु इसका अथ यह नही कि हास, भय, आश्चय, रति आदि मानवीय वत्तियो का नाश हो जायगा। इसका जो अमानवीय और असामाजिक रूप आज प्रयोग म आ रहा है, केवल उसका नाश होगा। प्रेम होगा, पर असामाजिक नही, भय होगा, कि तु अकल्याणकारी काय से घणा होगी, पर अवाछनीय से आश्चय होगा, पर प्रकृति के रहस्योद्घाटन अथवा असीम सौन्दर्य को देखकर हास होगा परन्तु निमल, ग्लानि होगी किन्तु भूल पर। इस प्रकार समाज शास्त्र और मावसवाद मूल अन्त प्रवत्तियो का विकास युगावस्था के अनुरूप मानता है।

इसी प्रकार समाज शास्त्र का यह भी कथन है कि नई अन्त प्रवृत्तियो का जन्म भी होता है। वगवादी समाज म प्रतियोगिता तथा हीनता और

उच्चता की प्रवृत्ति स्वाभाविक लगती है वर्गहीन समाज में इसके स्थान पर सहयोग, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप में उन्नत हो सकता है। आदिम समाजों में सहयोग एक स्वाभाविक प्रवृत्ति रह चुकी है। मध्ययुग में प्रभुभक्ति या जातिभक्ति या राजभक्ति स्वाभाविक थी आज राष्ट्रभक्ति स्वाभाविक लगती है। किसी युग में बहुविवाह स्वाभाविक था, कवि इसका गायन करते थे, अब इसे अस्वाभाविक कहा जा रहा है। किसी युग में बहुसतति प्रशसा और गौरव का विषय थी अब यह भविष्यवाणी हो रही है कि इस सभ्यता का अन्त 'पूरिलियर' अस्त्रों से नहीं जन सख्या की वृद्धि से होगा। इस प्रकार परिस्थिति बदल जाने पर, मानसिकता बदलती है और नवीन मानसिकता नई अन्त प्रवृत्तियों को जन्म देती है। अत काव्य और कला को निरुद्देश्य नहीं माना जा सकता।

पुन प्रश्न होगा कि यह सब तो ठीक है किन्तु काव्य को तो हम आनन्द के लिये पढ़ते हैं। सगीत सुनते समय हम यह नहीं सोचते कि हमें वर्गहीन समाज बनाना है। समाज शास्त्र इसका उत्तर यह देता है कि कला भोग के समय जो आनन्द देती है वह आनन्द अनजान में ही हममें परिवर्तन कर देता है। भरवी' और दादरा सुनते समय आनन्द आता है किन्तु दादरा का वही प्रभाव नहीं होता जो भरवी का होता है इसी प्रकार बिहारी के विपरीत रति का वर्णन वही प्रभाव उत्पन्न नहीं करता जो रामायण की चौपाई करती है। बाजारू गजल और गालिब की गजल का प्रभाव भिन्न है। क्यों ? क्योंकि कला में विचार का तत्व हमें प्रभावित करता है जबकि हम समझते यह हैं कि कला में विचार प्रभावित नहीं करते केवल अभिव्यक्ति प्रभावित करती है। विचार ही भाव को दिशा देता है विचार ही अभिव्यक्ति में परिवर्तन उपस्थित कर देता है जबकि हम समझते यह हैं कि हम मात्र प्रयोग कर रहे हैं। प्रयोगवाद के पीछे एक विचारधारा है एक विशेष दृष्टिकोण है हालांकि प्रयोगवादी कहते यही हैं कि हम प्रयोग के लिये प्रयोग कर रहे हैं। समाज शास्त्र इन विचारों की परीक्षा करता है। वह बताता है कि इनमें अमुक विचार समाज के लिये हानिकर हैं अमुक लाभप्रद हैं किन्तु कलावादी समझते हैं कि यह हमारे क्षेत्र में हस्तक्षेप है।

वीरगाथाकाल के बाद भक्तिकाल की विचारधारा भिन्न है तभी नया युग आया नई अभिव्यक्ति आई और नया भाव आया। रीतिकालीन दृष्टिकोण भिन्न है अत कला भिन्न हो गई। भारतेन्दु युग में विचार बदला अत कला का स्वरूप और आनन्द भी बदल गया। द्विवेदी युग का विचार भारतेन्दु युग से भिन्न है अत द्विवेदीयुगीन कला भिन्न है। छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोग

वाद—ये आन्दोलन विचार के आदोलन हैं मात्र शैली के नही। जीवन और जगत के प्रति दृष्टिकोण भिन्न होने से नया आदोलन साहित्य और कला मे चल पडता है। पुनरुत्थान भी इसलिये होता है कि हमे नये युग म प्राचीन दृष्टिकोण की आवश्यकता पडती है अत सौंदय की समाज शास्त्रीय व्याख्या कला और काव्य को युग विशेष की सामाजिक व्यवस्था बाह्य और आतरिक प्रभाव आदि तत्वो का विश्लेषण करके 'सौंदयजन्य अनुभव" का स्वरूप समझाती है। उसके सम्मुख सदा यह प्रश्न रहता है कि आज समाज, विकास के किस सोपान म है, उसकी क्या आवश्यकता है और कला उसम क्या और कसे सहयोग कर सकती है इस प्रकार कला और काव्य मात्र मनोरजन न रहकर, एक साधक क्रिया बन जाती है कलाकार और लेखक समाज के वतमान और भविष्य के कणधार के रूप म प्रतिष्ठित होता है। वह कोरा नट' 'भाण' या भाट' के रूप म नही अपितु 'ऋषि" के रूप म आदृत होता है।

पुन प्रश्न होगा कि कला प्रक्रिया मे विचार का इतना महत्व होता तो 'दशन' की पुस्तको म आन द आता। इसका उत्तर तो भारतीय काव्य शास्त्रियो न ही दिया है और यह उत्तर शुद्ध समाजशास्त्रीय है। मम्मट के अनुसार काव्य या कला का उद्देश्य वही होता है जो धम या दशन' का होता है। किन्तु काव्य या कला 'कान्तासम्मत वचन' है जबकि वेद-शास्त्र आदि गुरु या प्रभुसम्मत वचन' है अत काव्य या कला अपनी विशिष्ट पद्धति के कारण, धम और दशन स भिन्न है उद्देश्य की दृष्टि स नही। आज के युग म धम और दशन का स्थान इतिहास और समाजशास्त्र ने ले लिया है अत समाजशास्त्र का जो उद्देश्य है (अर्थात समाज म आवश्यक परिवतन) वही काव्य और कला का भी उद्देश्य है। माँग यह है कि काव्य और कला ऐसी हो जिसम मनुष्य आनन्द ले किन्तु साथ ही वह अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को बदल भी दे उसके भाव की दिशा निश्चित करे उसके अनुभव को सामूहिक हित के विरुद्ध न जाने दे। ऐसी 'कला प्रचार नही हो सकती क्यो कि ऐसी कला और काव्य म कलाकार और कवि को यह ध्यान रखना होगा कि दशक या श्रोता यह सदेह न कर कि उसे उपदेश दिया जा रहा है। यह काय कठिन है, किन्तु इस काय म सफल होने म ही तो कवि और कलाकार प्रशंसा-पात्र बनता है, अन्यथा अन्य पुस्तकें बहुत हैं। कला और काव्य का अनुशीलन मनुष्य आनन्द के लिए करता है और कला और काव्य उसे अनजान मे ही उदात्त बना देते हैं आनन्दमयी पद्धति द्वारा मनुष्य म परिवतन करना ही कला की विधि है।

काण्ट ने 'सौन्दर्य' की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "सौन्दर्य वह है जो लाभ की भावना के बिना ही आनन्द देता है।" * किसी सुन्दर दृश्य को देखते समय लाभ की भावना नहीं होती फिर भी हम आनन्दित होते हैं। यह सिद्धान्त वस्तुतः अनुपयुक्त है। आदिम जातियों के लोग नृत्य आनन्द के लिए करते हैं, किन्तु उनके 'नृत्य' उनके वास्तविक जीवन की 'पुनप्रस्तुति' मात्र होते हैं। थका हुआ बर्बर शिकार का नृत्य करता है, आनन्द आता है, किन्तु नृत्य के बाद वह 'शिकार' के लिए अधिक योग्य और शक्तिमान बन जाता है। प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन के पूर्व हमारी जड़ता हमें कष्ट देती है, दृश्य-दर्शन के बाद हम अपने कार्य में अधिक स्फूर्ति अनुभव करते हैं, और चित्तवृत्ति कितनी उदात्त हो जाती है, यह हम सब अनुभव करते हैं। इसी प्रकार 'सूरसागर' के पद को हम आनन्द के लिए गुनगुनाते हैं परन्तु पदगायन या श्रवण के बाद हमारी चित्तवृत्ति कितनी उदात्त हो जाती है? निराला की 'सन्ध्यासुन्दरी' पढ़िए अथवा 'राम की शक्ति पूजा' पढ़िए, पढ़ने के बाद आत्मनिरीक्षण कीजिए, कला का चमत्कार स्वतः प्रमाणित होगा। इसके विपरीत रीतिकाल का 'अष्टयाम विलास' पढ़िए, कला का दुष्प्रभाव स्पष्ट हो हो जायगा।

समाजशास्त्र का भी यही कथन है कि कला वही महान है जो पाठक या दर्शक को यह निश्चित भी अनुभव न होने दे कि उसे शिक्षित करने का प्रयत्न किया जा रहा है अथवा उसमें मात्र विचार भरे जा रहे हैं। तभी 'छायावादी' कला श्रेष्ठ है और द्विवेदीयुगीन कला, सामान्य।

'सौन्दर्य का भोग सर्वदा उपयोगिता के विचार के बिना ही किया जाता है, यह सत्य है परन्तु इससे काण्ट का यह कथन सिद्ध नहीं होता कि सौन्दर्य का उपयोगिता से सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य सर्वदा उपयोगी होता है, सौन्दर्य प्रभावित ही इसलिए करता है कि उसमें उपयोगी तत्व छिपा रहता है। इस छिपाव या गोपन अथवा व्यंजना के कारण कला का जन्म होता है, तभी तो अभिनवगुप्त ने कला को ध्वनि कहा है और सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से यह आज भी सत्य है और सर्वदा सत्य रहेगा।

प्लेखानोव ने इसलिए कला के आनन्द की इस प्रकार व्याख्या की है—"कला का आनन्द वह आनन्द है जो मनुष्य (जाति) के लिए उपयोगी होता है किन्तु इस आनन्द में जानबूझ कर उपयोगिता का विचार नहीं रहता।"—

* The Beautiful is that which pleases irrespective of benefit.

Enjoyment of artistic production is the enjoyment of that (be it objects phenomena or states of mind) which is beneficial to the race, irrespective of any conscious consideration of benefit '[1]

कला का प्रभाव हमारी कल्पनात्मक या भावात्मक शक्ति पर पडता है, विचारात्मक पर नही। अत उस कला का कोई प्रभाव नही पडता जो जानबूझ कर उपयोगिता की घोषणा करती है। किन्तु सफल कला मूर्तियो (images) द्वारा विचारो और भावो की अभिव्यक्ति मिलती है अत यद्यपि हमे प्रभावित करने मे उपयोगी विचार और भाव सहायक होते हैं किन्तु हम एक मनोवैज्ञानिक भ्रम से समझते यह हैं कि हम केवल "मूर्तियां" ही प्रभावित कर रही हैं। 'कला' को इसीलिए 'भ्रम' या 'जादू' भी कहा गया है। और यह भ्रम ही उसकी महान शक्ति है। जो कलाकार इस 'भ्रम' को उत्पन्न नहीं कर सकता, वह प्रभाव नही डाल सकता किन्तु इस 'भ्रम' की व्याख्या मे समाजशास्त्रीय पद्धति ही सफल हो सकती है जिसके अनुसार कला का मर्म व 'विचार' और भाव हैं जिन्हे कला अभिव्यक्त करती है, न कि वे मूर्तियां जो मात्र माध्यम हैं 'साधन' हैं। प्रयोगवाद मे 'साधन' को 'साध्य' बनाया जा रहा है। उसमे 'अप्रस्तुतविधान' अथवा अभिव्यक्ति-कुशलता पर जितना बल दिया गया है उतना इस तथ्य पर नही की काव्य मे किन विचारो और भावो को वाणी मिलनी चाहिए। अत समाजशास्त्रीय दृष्टि न होने से, प्रयोगवाद महान कृतियो की सृष्टि करने मे अक्षम प्रमाणित हुआ।

हिन्दी मे उक्त सौन्दर्य की समाजशास्त्रीय व्याख्या अभी भी प्रारम्भिक अवस्था मे है। अत उसके आधार पर जो व्याख्याएँ हुई हैं उनमे कमियां हैं। मुख्यत सैद्धांतिक पक्ष अभी दुर्बल है। उधर भारतीय काव्यशास्त्र की नए ढंग मे डा० नगेन्द्र व्याख्या कर रहे हैं। यह प्रयत्न आवश्यक होने पर भी अपूर्ण ही रहेगा जब तक समाजशास्त्र से सहायता न ली जायगी। डा० नगेन्द्र प्राय फ्रायडीय मनोविज्ञान से सहायता लेते हैं। नवीन शरीरशास्त्र (Physiology) मुख्यत 'पावलोव" के नवशरीरशास्त्र ने 'चिंतनात्मक मनोविज्ञान" को अवैज्ञानिक प्रमाणित कर दिया है। अत इस नवशरीरशास्त्र गस्टाल्ट मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की सहायता से ही वैज्ञानिक सौन्दर्य-शास्त्र की नीव पड सकती है। जिस योरोपियन सौन्दर्यशास्त्र को हम वैज्ञानिक समझ बैठे हैं वह रिचर्ड्स के शब्दो मे इस भ्रम मे है कि सौन्दर्यजन्य अनुभव एक विचित्र निरपेक्ष और असम्बद्ध अनुभव है।

1 Unaddressed letters page, 111

रस की समसामयिकता का स्वरूप

क्या आधुनिक काव्य और कलाओं का विवेचन रस सिद्धान्त के आधार पर सम्भव है ?

हिन्दी में द्विवेदीयुगीन काव्य तक प्राचीन काव्यशास्त्र का निकष समर्थ प्रमाणित हुआ है। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन काव्य में भी प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण रस सिद्धान्त की परम्परागत मान्य कोटियों में नहीं आ पाता क्योंकि प्रकृति प्रेम को, मानवीय भावनाओं से अधिक महत्व सर्व प्रथम द्विवेदी युग में ही मिला। प्रकृति के प्रति स्वतन्त्र प्रेम को प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से या तो 'रति' का ही परिवार विस्तार माना जायगा अथवा प्रकृति प्रेमरस को स्वतन्त्र रस घोषित करना होगा। भरत के पश्चात् रसों की संख्या वृद्धि को देखते हुए 'प्रकृति रस' की कल्पना अनुपयुक्त भी नहीं है।

किन्तु छायावादी काव्य में प्रथम बार परम्परागत काव्य से पर्याप्त भिन्नता मिलती है। कल्पना का अतिरेक छायावाद था। इस काव्य में 'प्रकृति रस' अत्यधिक संवर्द्धित हुआ तथा भावुकतापूर्ण रचनाएँ भी प्रस्तुत हुईं। भावोच्छ्वासपरक काव्य तो स्पष्टतः प्राचीन रसवाद की प्रसिद्ध कोटियों में सिमट जाता है उदाहरणतः रति स्थायी भाव का ही विस्तार रहस्यवादी काव्य में मिलता है आसक्ति चाहे 'ज्ञेय' के प्रति हो अथवा 'अज्ञेय' के प्रति अनन्त मानव की प्रेम भावना की मिलन–विरह की ही अभिव्यंजना रहस्यवाद की विशेषता है। आचार्य शुक्ल ने अज्ञेय के प्रति प्रेम की कृत्रिमता का औचित्य स्वीकार नहीं किया किन्तु रति ही रहस्यवाद की मुख्य भावना है। अतः आपाततः विभाव सम्बन्धी कुछ कठिनाई उपस्थित होने पर भी रहस्यवादी रचनाओं की व्याख्या रसवाद द्वारा सम्भव हुई है। प्रगतिवादी या प्रगतिशील काव्य में तो उत्साह, क्रोध, घृणा, शोक आदि की साधी व्यंजना हुई है। अतः इस काव्य के विषय करुणा होने के कारण रसवाद के आधार पर उसकी विवेचना सहज ही हो सकती है।

किन्तु अतिशय 'नवीन काव्य में स्थायी का संचारीकरण और संचारी भावों का स्थायीकरण हुआ है अर्थात् नये कवियों ने अत्यधिक व्यक्तिगत चित्तवृत्तियों को स्थायी भावों का गौरव दिया है। अत्यधिक निजी अनुभूतियों को सामान्य बनाने के इस विराट प्रयत्न में स्वभावतः आठ नौ

स्थायी भाव मानने वाले प्राचीन 'रसवाद' की अपनी समसामयिकता प्रमाणित करने में कठिनाई हुई है। किन्तु सिद्धान्त वही है जो सार्वभौम हो।

क्या इस नवीन काव्य के विषय में 'रसवाद' कुण्ठित हो गया है? यदि रसशास्त्र के विकास पर ध्यान दिया जाय, तब तो ऐसा प्रतीत नहीं होता। यूरोप के नवीन काव्यशास्त्र में ग्रीक काव्यशास्त्र को मूलतः इस प्रकार समझ लिया गया है कि वहाँ के 'काव्य' और 'शास्त्र' दोनों क्षेत्रों में एक सैद्धान्तिक निरन्तरता स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों में भी मार्क्सपूर्व के कला-सम्बन्धी सिद्धान्तों से यथास्थान सबल लाभ उठाया गया है। रूस में बलिंस्की, चर्निशेव्स्की जैसे लेखक 'जनवादी' लेखक कहलाते हैं, मार्क्सवादी नहीं। भारतवर्ष में इस सैद्धान्तिक निरन्तरता के लिए प्राचीन शास्त्र की युगानुरूप व्याख्या करनी होगी, अन्यथा प्राचीन और नवीन सदैव समानान्तर पथों पर प्रवाहित होते रहेंगे, जैसा हिन्दी में आज हो रहा है। यद्यपि कुछ अग्रचेता उस दिशा में भी कार्यरत हैं, पर अभी तक प्राचीन को अपने ढंग से समझते हुए किसी ऐसे साहित्यिक मापदण्ड का विकास नहीं हो पाया है, जिसको सबको स्पष्ट हो।

प्रश्न यह है कि यदि आधुनिक काव्य और कला ने सचरणशील चित्तवृत्तियों को अधिक महत्व दिया है तो क्या वह रसवाद से विवर्जित नहीं हो सकता? रसवाद का सबसे बड़ा दोष यह था कि उसमें परिवर्तनशील यथार्थ पर विचार नहीं हुआ। बाह्य यथार्थ के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण मनुष्य के अन्तर्मानस में भी परिवर्तन स्वाभाविक है। अतः जिस प्रकार यह यथार्थ बदलता है जिस प्रकार वह विभिन्न प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करके कला और साहित्य में नवीन रुचियों, नवीन मानव मूल्यों और नवकरण रूपों और नवीन आस्वादों (रसों) की सृष्टि करता है, यह निर्णायक तत्वज्ञान 'रसवाद' द्वारा उपेक्षित ही रहा और वह भी इसलिए कि रसवादी मध्य युग में समाज आत्म जागरूक नहीं हुआ था। फिर भी भारतीय दर्शन में 'परिवर्तन' 'क्षणवाद' आदि पर गहन विचार हुआ है। रसवादियों ने जगत की परिवर्तनशीलता को एक सहज सत्य मान कर रसवाद के क्रोड में उस पर विचार नहीं किया। आधुनिक काव्यशास्त्र के निर्माता यह कार्य कर सकते हैं।

किन्तु अनुभूतियों, चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के कारणों पर विचार न होने पर भी, कला और काव्य पर भारतीय रसवाद महत्वपूर्ण प्रकाश प्रक्षिप्त करता है। अनुभूतियों की विभिन्नता की स्वीकृति का विकास बड़ा रोचक है। आधुनिक काव्य की निजी अनुभूतियों के विकास को उस उक्त विकास से जोड़ना कुछ कठिन नहीं है। भरत के सम्मुख सम्भवतः निर्वेदपरक

साहित्य का अभाव था। अत जा-चौड राग्ना । था । इस प्रकार की कृतियो के परचात् 'विवाना' का समस्या उत्पन्न हुई उसी प्रकार यह समस्या आज हमारे सम्मुख है। परन्त शान्त रस का नाटय म स्वीकार न करके भी भरत-परम्परा क ही आचार्यों ने काव्य म उसे स्वीकार कर लिया (काव्य विषयत्व म वायते—दशरूपक) । इसके सिवा कवियो ने मुख्य नव रसो के स्थायी भावो के अतिरिक्त कई सचारियो को केन्द्र बना कर ऐसी रचनाए प्रस्तुत की, जिनम स्थायी सचारी के स्थानापन्न हो गए और सचारी स्थायी के आसन पर आ विराजे। कुछ कुछ आज यही ही परिस्थिति रही होगी। ऐसी रचनाओं का ढेर लग गया जिनम 'रति' का आयाम विस्तार किया गया और स्त्री-पुरुष के मध्य रति' के स्थान पर लोभ स्नेह प्रीति जसे सचारी भावो को स्थायी भाव का पद द दिया गया। आचार्यों ने रसवान् की आवश्यक मोड दे कर शान्त प्रयस वात्सल्य भक्ति स्नेह श्रद्धा आदि रसो की कल्पना की। यहाँ तक कि 'लौल्य' (अनुचित आसक्ति स्थायीभाव यथा सीता के प्रति रावण की आसक्ति) ही नहीं शिकार (मृगया रस) और जुए (अक्ष रस) को भी रस' घोषित कर दिया गया।

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसा, ॥

परम्परा के प्रति अन्ध श्रद्धा के कारण भरत द्वारा प्रतिपादित रस-योजना म ही यत्किंचित परिशोधन कर परम्परावादी आचार्य मौन हो गये। यह भी नहीं सोचा गया कि स्वय प्राचीनो म भी कुछ प्रबुद्धचेताओ ने नवीन अनुभूतियो को रस का गौरव दिया है अत प्रतिभाशाली कवि उन नवीन अनुभूतियो को आस्वादकारी बना सक।

रुद्रट ने भरत की रस-व्याख्या का निम्न अश चुन कर आधुनिकतम व्याख्या की है जिसे आधुनिक कवि अपना सकता है—अत्र रस इति क पदार्थ, ? उच्यते, आस्वाद्यत्वात। रस आस्वाद के कारण रस कहलाता है लोक म मजेदार चीज को रसीली' कहत हा है। क्या केवल ह काय' या अधिक व्यापक आठ स्थायी भाव ही सचारियो के सहयोग स रस म परिणत होते हैं ? रुद्रट के अनुसार चित्तवृत्ति मात्र म आस्वाद की शक्ति होती है, अत जितनी चित्तवृत्तिया उतने रस। भरत ने ४९ भावो का वर्णन किया है जिनम आठ स्थायी भाव भी सम्मिलित हैं। रुद्रट के अनुसार य सारे भाव 'रस' म परिणत हो सकते हैं —

इति मतव्या रसा सर्वे
रसनाद्रसत्वमेषा मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यै ।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति ते पि रसा ।

नेमि साधु ने रुद्रट के 'काव्यालंकार' के उक्त स्थल की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है कि ऐसी कोई चित्तवृत्ति नहीं हैं, जो रस न बन सके।
यदुत नास्ति सा कापि चित्तवत्ति या परिपोष गता रसो न भवति।

भरत द्वारा प्रतिपादित कला प्रक्रिया में एक स्थायी चित्तवत्ति को अन्य 'क्षणिक' सचरणशील मानसिक स्थितियों द्वारा पुष्ट करने पर बहुत बल दिया गया है और उसका कारण था, किसी वण्य मानसिक स्थिति को इतना तल्लीनकारी बना दिया जाय कि उसके मच पर प्रदर्शन अथवा काव्य-पठन के समय प्रेक्षक या पाठक अभिभूत हो उठे। अत किसी एक भाव का अन्य भावनाओं द्वारा पुष्ट करने की प्रवत्ति भारतीय काव्य की विशेषता है। सभवत इसी अर्थ में नमि साधु ने 'परिपोष' शब्द का प्रयोग किया है। उसका तात्पय यह है कि कवि चाहे जिस चित्तवत्ति (अनुभूति धारणाजन्य हो चाहे वस्तुज य अथवा भावजन्य) का वर्णन करे, उसे अन्य चित्तवत्तियों द्वारा उस केंद्रस्थित चित्तवृत्ति को अवश्य पुष्ट करना चाहिए अन्यथा कला अभिभूत नहीं कर सकती, वह चेतना में एक हलका स्पर्श दे कर समाप्त हो जायगी, चाहे वह स्पश विस्मयपरक हो या आघातात्मक अथवा हृपपरक या रागात्मक। अतएव मार्मिकता के लिए किसी चित्तवत्ति का सौरमडलीय पद्धति' पर व्यजित करना चाहिए जिसमे केंद्रस्थ अनुभूति अन्य सहायक चित्तवत्तियों को आलोकित करता है, किन्तु बिना सहायक चित्तवत्तियों के केंद्रस्थ अनुभूति आकर्षण के अभाव में अस्तित्व रक्षा नहीं कर सकता और न सभवत उसमें आलोक प्रदान की शक्ति ही आ पाती है।

'नये' काव्य में एकाकीपन से उत्पन्न ऊब' निरथकताबोधजन्य अवसाद और सब अनुभूतियों को सूत्रबद्ध करने वाले किसी जीवनादर्श के अभाव में प्रत्येक क्षण' में स्फुरित हो उठने वाले अनुभवों का सटीक बिंबों में व्यक्त करने की अधिक प्रवत्ति है। इनके अतिरिक्त 'नये काव्य में अनेक पुरानी अनुभूतियाँ उल्लास आशा, उत्साह रति क्रोध, भय जुगुप्सा निर्वेद आदि भी वर्णित हो रही है। ऐसे स्थलों में तो रसवाद व्यापक माना ही जायगा। किंतु निषेधवादी मनोवत्तियों के वर्णन में भी नमि साधु' और 'रुद्रट' की दृष्टि स्वीकृत हो सकती है क्योंकि सुख दु खात्मक होने से मनोवत्तियाँ या तो आशा, उत्साह की तरह भावात्मक होती हैं अथवा 'ऊब' 'सदेह', 'अनिश्चितता' निरर्थकता की अनुभूति आदि के सदश निषेधवादी। अत चित्तवति मात्र का रसत्व स्वीकृत होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि किस विधि पर? उस पुष्टिवाद की विधि पर अथवा अन्य भी कोई विधि हो सकती है?

इसमें किंचित भी सन्देह नहीं कि भावाभिभूत कर देने वाली काव्य और कला की विधि 'पुष्टिवाद' ही है अर्थात् किसी एक मनोवृत्ति का तब तक अधिकाधिक संचरणशील भावनाओं से पुष्ट करना', जब तक पाठक की समग्र जाग्रत चेतना दैनिक जड़ता को तोड़ कर कुछ क्षणों के लिए एक उच्चतर स्तर पर 'स्व पर' से मुक्त हो कर भाव निमग्न न हो जाय। इस विधि को आधुनिक कवि छोड़ कर चलना चाहता है परन्तु सर्वत्र नहीं। आधुनिक काव्य की सृजन प्रक्रिया का अध्ययन करते समय यह देखना होगा कि किस विधि द्वारा कवि किस चित्तवृत्ति को आकर्षक बनाता है। यह तो मानना ही होगा कि बहुत सी रचनाएँ इतनी संक्षिप्त हैं कि उनमें उक्त पुष्टिवाद के प्रयोग की गुंजाइश ही नहीं है, अतः ऐसे स्थलों पर किसी चित्तवृत्ति के वर्णन का आकर्षण क्या है, यह खोजना होगा। ऐसी उक्तियों में आकर्षण यों भी हो सकता है कि वह आधुनिक यथार्थ को वाणी दे रही हो। इतिहास जहाँ मोड़ ले रहा हो वहाँ सीधा सत्य कथन भी आकर्षक हो उठता है यथा कबीर की उक्तियों में और ऐसा सोचना भी गलत है कि मात्र धारणाओं की घोषणा आकर्षक होती है कबीर की खरी वाणी में उनके चित्त पर असत्य से उत्पन्न प्रतिक्रिया की तीव्रता ही उनकी धारणाओं को और भी आकर्षक बना देती है।

एक अन्य कारण यह भी हो सकता है कि किसी चित्तवृत्ति की नवीनता के कारण आकर्षण आ जाय। नयी कविता में कमजोर उक्तियाँ भी विचित्र अनुभवों की नवीनता के कारण ही कुछ समय तक रोचक लगती हैं। कभी नवीन बिंबों से पुरानी चित्तवृत्तियाँ भी मार्मिक हो उठती हैं वाचनानुय अथवा भामह के शब्दों में 'वक्रोक्ति' से भी नूतन चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति सफल हो जाती है। अतः यदि कवि पाठक को भावाभिभूत नहीं करना चाहता, वह यदि उसे कभी चकित करता कभी आघात करता कभी पकड़ कर झिंझोड़ता, कभी खिझाता कभी रिझाता और कभी उसके सामने रिरियाता' है तो वह उक्त प्राचीन पुष्टिवाद को यथावत् अपनाने के लिए विवश नहीं है। नमिसाधु ने यह कहा भी नहीं है कि काव्य चित्तवृत्ति का परिपोष किस प्रकार किया जाय। प्रतिभाशाली कवियों के सम्मुख अन्य विधियाँ भी हो सकती हैं उन्हें उन नवीन विधियों के प्रयोग से क्यों वंचित किया जाय? अतः रसवाद को उक्त आवश्यक मोड़ दे कर नयी कविता की व्याख्या भी रसवाद के आधार पर संभव है। रुद्रट और नमि साधु के उक्त सिद्धांत को परवर्ती आचार्यों ने इसलिए स्वीकार नहीं किया था, क्योंकि उनके सम्मुख अधिकांशतः काव्य 'भावविभावक' ही था। संस्कृत में बहुत अधिक नवीनता

आना थी भी नहीं। उसके काव्य का पटर्न निश्चित सा हो गया था, काव्यशास्त्र की भी एक निश्चित परिपाटी है। किंतु जैसा उक्त विवेचन स्पष्ट है उसमें, एक निश्चित परिपाटी के भीतर प्रवाहित होने पर भी, ऐसे ऊशिस' हैं, जिनका विकास कर हम सैद्धांतिक नरंतर्य का निर्वाह कर कते हैं।

स्वयं भरत के अनुसार स्थायी भावों में प्रत्येक दूसरे स्थायी भाव का चारी हो जाता है यथा रति' स्थायी के संचारियों में उत्साह भय हर्ष ादि की गणना की गयी है। इसी विधि में संचारियों में निर्वेद' का स्थायी ाना कर शांत रस की सृष्टि की गयी, जिसमें निर्वेद के अतिरिक्त अन्य ंचारियों का प्रयोग किया गया। इसी आधार पर एकाकीपन', असहायता ाधजन्य अवसाद आदि को स्थायी बना कर अन्य मानसिक स्थितियों को सहायक बनाया जा सकता है अथवा बिना इस 'पुष्टिवाद' के अन्य किसी विधि से नूतन चित्तवृत्तियों को व्यंजित किया जा सकता है। निष्कर्ष केवल यह है कि यदि किसी चित्तवृत्ति का वर्णन आस्वादपरक' है, मार्मिक है या कम से कम वह अभिव्यक्ति आकर्षक है तो उसे कवि का नूतन रस सृष्टि का गौरव देने में कृपणता का कोई कारण नहीं है। तीसरा सप्तक' के एक कवि ने ऊब रस' का उल्लेख भी कर दिया है। अतः सामाजिक दृष्टि से नूतन चित्तवृत्तियों का औचित्य विवेचित होगा और कला की दृष्टि से यह देखना होगा कि कोई सवेदित धारणा ऐंद्रिय बोध या मानसिक स्थिति किस प्रकार व्यक्त की गयी है और क्या काव्य उसे सार्थक' और स्वादिष्ट बना सका है। यह स्मरणीय है कि स्वाद लोक में छः प्रकार का और काव्य में अनेक प्रकार का होता है। अतः आस्वाद अनेकरूपी और अनेक मानों वाला भी होता है। प्रश्न अब यह नहीं है कि क्या प्राचीन काव्य सिद्धान्तों द्वारा नूतन का विवेचन होना चाहिए प्रश्न वस्तुतः अब यह है कि नूतन काव्य शास्त्र या नूतन सौन्दर्यशास्त्र के निर्माण में प्राचीन धारणाओं का उपयोग किस प्रकार और किस सीमा तक होना चाहिए यह लेख इसी दिशा में विचा रकों को प्रेरित करने के लिए लिखा गया है, किसी पूर्वनिश्चित धारणा के प्रसार के लिए नहीं—वादे वादे जायते तत्वबोध

साहित्य और विचारवाद[1]

विचारवाद या 'आइडियालाजी'' शब्द अब काफी बदनाम हो गया है। अपने बदनाम अर्थ में विचारवाद 'सच्चाइयों को छिपाने के लिए की गई लफ्फाजी'' के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। मसलन वियतनाम में जाति हत्या के लिए यह तर्क देना कि गुरिल्ला युद्ध से कानून द्वारा संस्थापित सरकारों और संस्थाओं की स्वतंत्रता को खतरा है, इसलिए गुरिल्ला युद्ध को समाप्त करने के लिए वियतनामियों की जाति हत्या अनिवार्य धर्म है। इस तर्क के पीछे अमरीकी पूंजी और प्रभुत्व की रक्षा का स्वार्थ छिपा हुआ है। इसी प्रकार भारत पर हमला करने के लिए चीन के विचारवादी तर्क गढ़ लेते हैं। किसी विचार व्यवस्था या व्यवस्थित विचारधारा का प्रयोग जब स्वार्थ के लिए होने लगता है तब 'आइडियोलाजी'' शब्द बदनाम हो जाता है जैसा कि वर्तमान में हो रहा है।

'आइडियालाजी' के बदनाम अर्थों में एक यह अर्थ भी है कि अव्यावहारिक या यथार्थ विरोधी व्यक्ति को भी 'आइडियालाग'' या विचारवादी कह दिया जाता है। नेपोलियन ने इसी अर्थ में आइडियालाजी शब्द का प्रयोग किया था।[2] प्रायः सिद्धान्तवादी यथार्थ की उपेक्षा कर जाते हैं इसलिए उन पर ''विचारवादी' होने के आरोप लगते हैं।

लेकिन 'विचारवाद' का एक शुभ अर्थ भी होता है। इसके भी दो स्तर होते हैं। प्रथम स्तर पर विचारवाद का मतलब यह है कि तथ्य या वास्तविकताओं को कैसे देखा जाए उनमें एक सूत्रता या संगति कैसे उत्पन्न की जाए। तथ्य असंख्य हैं, वे परस्पर विरोधी भी लगते हैं। तथ्यों के इस विकट वैविध्य में विचारवाद एक तार्किक संगति खोजता है इससे तथ्य निरर्थक नहीं रह जाते वे सार्थक और साभिप्राय' लगने लगते हैं। इस तरह विचारवाद इस विराट जगत और मानव जीवन में, मानव के अस्तित्व और उसके संघर्ष में उसकी अभीप्साओं और व्यवहार में, एक संगति एक मतलब खोजता है। धर्म, अधिष्ठान,

---

१ आइडियालाजी

२ आइडियालोजी एण्ड युटोपिया—कार्ल मनहीम

आचार-दर्शन, आदि इस दृष्टि से प्राचीन विचारवाद या आइडियालॉजी के ही विभिन्न रूप हैं। विचारवाद केवल प्रत्यक्ष तथ्यों तक ही सीमित न रह कर, अदृश्य अथवा सीमातीत सत्ताओं (ब्रह्म ईश्वर, स्वर्ग, नरक अवतार आदि) की एक पूरी व्यवस्था प्रस्तुत करता है और इस तरह मानव के "अबौद्धिक" चेतना स्तरों के लिए रोचक 'आदर्श' या "मीनिंग' या 'खिलौनों' को पेश करता है, अन्यथा मानव, अपने जीवन में जीने योग्य अवलम्बों की प्राप्ति नहीं कर सकता।

विचारवाद मनोगत सांत्वनाओं के सिवा सामाजिक परिवर्तन का अस्त्र भी बनता है। वास्तविक जगत में जो कुछ कष्ट कर, अप्रिय और विरोधी है, उसे समाप्त करने के लिए विचारवाद 'युटोपिया" या "मनोराज्यों" की सृष्टि करता है जैसे रामराज्य की कल्पना अथवा साम्यवादी समाज की कल्पना। वास्तविक परिस्थिति जितनी ही विषम और प्रतिकूल होगी, उसके ध्वंस के लिए उतनी ही ऊष्मा के साथ 'मनोराज्यों की सृष्टि' होगी। मनोराज्य' सामूहिक अस्तित्व" की चिन्ता से उत्पन्न होते हैं। मानव समूहों को एक विशेष दिशा में शीघ्र अग्रसर करना इनका लक्ष्य होता है फलतः मनोराज्यपरक मानसिक स्थिति व्यापक हो उठती है और एक उग्र आवेश का जन्म होता है जो धर्मान्धता जैसी स्थिति तक आ पहुँचता है। रूस और अन्य साम्यवादी देशों में साधारण जन की दुरावस्था के कारण ही मनोराज्यपरक मानसिक स्थिति उत्पन्न हुई हैं। तीव्र और व्यापक परिवर्तन बिना किसी विचारवाद या मनोराज्यपरक मानसिक स्थिति के नहीं हुआ करते। 'आइडियालॉजी' अपने बदनाम अर्थ में प्रयुक्त होकर इस तरह के विराट परिवर्तनों या क्रान्तियों को रोकने का भी काम करती हैं। यथा, अमरीकी व्यावहारिकतावाद या 'प्रैगमटिज्म' के नीचे केवल सिद्धान्तवादिता की सीमाओं को दूर करने का ही भाव नहीं छिपा हुआ है, बल्कि उसमें यह स्वार्थ भी है कि लाभ और प्रतियोगिता पर आधारित वणिक व्यवस्था या पूंजीवाद कायम रहे और *समाजवादी विचार दर्शन उसे नष्ट न कर सकें।*

यदि "व्यापक" और "मूलभूत' परिवर्तन करना है तब विचारवाद से बचना असंभव है। इसके लिए वर्तमान काल में प्रचलित अनेक विचारवादों का निष्पक्ष अध्ययन आवश्यक है और इस अध्ययन प्रक्रिया में एक "स्वस्थ-संदेह" को बनाए रखना भी आवश्यक है। "वरण" के लिए यह आवश्यक नहीं है कि प्रचलित का अंधानुकरण किया जाए। एशिया अफ्रीका तथा लातिन अमरीका के देश अपनी स्थिति के अनुकूल ही एक "नवीन" लेकिन

सामाजिक न्याय अथवा मानव मूल्यों पर आधारित विचार व्यवस्था नष्ट कर सकते हैं प्रचलित विचार धारा म 'संशोधन' कर सकते हैं, जिसकी प्रक्रिया छुटभइए साम्यवादी दलों ने शुरू कर दी है। लेकिन—विधि, नीति राजनीति समाजनीति साहित्य और कला किसी भी क्षेत्र म 'निरन्तर सन्देहवाद" वाछनीय नहीं माना जा सकता। क्योंकि सन्देहवाद म एक बहुत बडा दुख यह होता है कि वह वास्तविकता को बदलना नहीं सिखाता, उसे सहन करना सिखाता है।

परस्पर विरोधी विचारधाराओ के विराट प्रचार के युग मे साधारण व्यक्ति ही नहीं—असाधारण व्यक्ति भी मूल्यमूढ' होने लगते हैं (यह स्थिति भारतीय भाषाओ मे ही नही सार्वभौमिक है) किन्तु सन्देह के गर्भ से ही विश्वास फूटते हैं, दृष्टियाँ उपजती है उनको काय म परिणत किया जाता है पुन असगतियाँ उत्पन्न होती हैं, फिर सदेह उत्पन्न होते हैं फिर आत्मविश्वास को चुनौती मिलती है। यह द्वन्द्व सनातन है—सृष्टि का यही स्वभाव है। लेकिन पिछले बीस वर्षों के हिंदी साहित्य का मात्र विहगावलोकन ही यह साबित कर देगा कि हमारे तत्त्वदर्शियों ने विचारवादों की टकराहट, उसके दुरुपयोग आदि को 'मानव नियति' के रूप म स्वीकार सा कर लिया है। पिछली जाति के तत्त्ववेत्ता प्राय अग्रगामी जातियो के सन्देहों को भी "आधुनिक" मानकर उन्हें अपनी 'नियति' मान लेते हैं और इस सन्देह को यथास्थितिशील अन्तर्राष्ट्रीय पूजी-संस्थान बढाया देते हैं, क्योंकि पिछडे देशों को यह सदेह गतिशील नहीं होने देता। उन्हें चिंतन की दृष्टि से भी परावलम्बी बना देता है।

यह स्पष्ट है कि जो 'नियति" पुराने और नवीन—साम्राज्यवादियों की है वह हमारी नहीं हो सकता। हमारी कविता और कथा म निश्चित रूप से अमताप है लेकिन धुध और कोहरा भी बहुत है। राजनीति और समाज म शब्द के अर्थ गुप्त हो गए हैं यह सही है लेकिन साहित्य म भी वहसों और व्याख्यानो के बाद एक अजीब प्रवचित होने का अभ्यास श्रोताओं और पाठकों को जकड रहा है। यह वचारिक उलझन कम हो सकती है अगर सम्पादक आचाय और अन्य तत्त्वज्ञों अपना-अपना स्पष्ट मत बिना गलतियों से भयभीत हुए अपने पत्रों, सभाओं और पुस्तकों में प्रकट करने लगें। जिस दर्शन वह स्थिति का विश्लेषण करके—एक असहायता की मुद्रा धारण कर लेता है और अपने हो सहनशील मित्रों और सन्दर्भों को या उनके अभाव म अपने को ही वामन लगता है। यह 'आत्म धात"

उक्त संदेहवाद का अनिवार्य परिणाम है और इस स्थिति के लिए विवेकहीन सम्पादक, आचार्य और आलोचक ही सर्वाधिक उत्तरदायी हैं। कवियों, कहानीकारों आदि से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे निस्संग होकर एक वैचारिक ढांचा प्रस्तुत कर सकें।

मैं यह नहीं मान पाता कि बहुसंख्यक इस देश अथवा एशिया अफ्रीका के अन्य देशों में अमरीकी ढंग की वणिक "व्यवस्था" कायम हो सकती है। यह सही है कि अमरीकी पूंजीवादी चेतना के विचारक यह सिद्ध कर रहे हैं कि 'मात्र आधुनिकीकरण' से अथवा केवल नवीन तकनीक के प्रयोग से साधारण जनों का जीवन सुखमय बनाया जा सकता है। पर विचारक यह नहीं सोचते कि समस्या इतनी सीधी नहीं है। असली समस्या यह है कि यन्त्र-करण किसके स्वार्थ के लिए हो? यन्त्रों पर स्वामित्व किसका हो? विराट यन्त्रों पर व्यक्तिक स्वामित्व के कारण ही 'सामूहिक संकट" खड़े होते हैं क्योंकि मुनाफे के लिए वणिक-संगठन 'जातिहत्या" तथा विश्वयुद्ध के लिए भी प्रस्तुत हो जाते हैं (द्रष्टव्य वातायन जुलाई ६८ में ज्यां पाल सार्त्र का लेख) अतः विशाल निर्माण और उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का विरोध, 'सामूहिक अस्तित्व" के लिए जरूरी है और निजी स्वामित्व का विरोध व्यक्तिवाद द्वारा सफल नहीं हो सकता। वह समाजवाद या साम्यवाद अथवा इनके किसी संशोधित रूप से ही हो सकता है।

स्पष्टतः साहित्य में जीवन की तरह अप्रतिबद्ध नहीं रहा जा सकता क्योंकि वही 'नवीन' स्थायी हो सकता है जो 'वांछनीय' हो, मूल्यपरक हो। 'बिन्दु' (अप्रेल जून) में प्रकाशित मार्क्स वाला व उपयामों की चर्चा इस दृष्टि से दिशा निर्देशक है। कोई उत्तरदायी—विचारवादी भावात्मक—अभावात्मक स्थितियों, भूत-वर्तमान – भविष्य, आदि का समग्रता" देखता है। अणुवादी या क्षणवादी दृष्टि अपूर्ण विचार को हो प्रस्तुत कर सकती है। जिस विचार वाद में यथासंभव प्रत्येक तथ्य को अन्य तथ्यों से जोड़ कर न देखा जाए, किसी कार्य या रचना के नतीजों पर विचार न हो, जिसमें ध्यान आदि से अंत तक न रहे वह विचारवाद जीवन दर्शन का रूप नहीं ले सकता।

पिछले वर्षों में अनुभववादियों ने अणुवाद" (एटोमिज्म) को समग्र जीवन दर्शन के पर्याय के रूप अपनाना चाहा किन्तु उसमें वे बुरी तरह असफल हुए। अणुवाद 'अनुभव' को व्यक्तिगत मानता है तथा अव्यक्तिगत अनुभवों और धारणाओं से निजी अनुभवों को विच्छिन्न मानता है। इसके विरुद्ध आधुनिक मनोविज्ञान, समाजविज्ञान और इनके आधार पर बना हुआ सामयिक ज्ञान किसी भी संवेदन, कल्पना भाव अनुभव, विचार आदि को "अज्ञानवी" नहीं

जोरो से किया जा रहा था। "कलि क ददवर' मूल्य की क्या चिता करें? लेकिन गम्भीर विचारक जानते थे कि आदमी म भरोसा रखने से ही वह *विजयी हो सकता है। आज लग रहा है कि तृतीय युद्ध टल सकता है, निरस्त्री* करण भी शायद हो जाए। और उधर नक्षत्र विज्ञान द्वारा अतरिक्ष युग की अवतरणा सभावित हो उठी है। 'यथार्थ म सिर्फ असगतियाँ हैं सगतियों की सम्भावना भी नहीं है, यह दृष्टिकोण सिर्फ कुछ कवियों और कथाकारो का है। अच्छाई यह है कि ये लोग बहुत जल्द ऊबने लगते है। मसलन ६० के बाद अब पुन 'सामाजिक सत्यों' (Public truth) का वर्णन हो रहा है। लगता है अभिमन्यु के हाथो मे 'टूटे पहियों' की जगह गाण्डीव आ गया हो अथवा मोटरों, क्लबों होटलों शराबों और परियों म डूबी सद्प्रसूत पीढ़ी, की कुर्सियों के नीचे, मिट्टी के समभ जाने वाले घर धीरे धीरे सजीव होते जा रहे हों, और 'नवलेखन' के प्रवाह को, प्रतिक्रियावादी कथ्यों से गँदला करने वाले 'पुलपुले' अक्षेयो, और उनके 'चमचों' को उनके आश्रयदाताओं के सहित निगलने को तत्पर हो। इसी तरह हर एक वह प्रवृत्ति जो आदमी की सकुलता की चिता न कर, उसे सिर्फ 'बौना' समझती है या उस कमीना और कढी" समझती है उसके विरुद्ध एक तीव्र रोष देखता जा रहा है। 'आधुनिक साहित्य सिर्फ वही नहीं माना जा सकता जो सिर्फ आदमी की कमजोरियों पर नजर गड़ाये रहे। आधुनिक साहित्य म भ्रमो को तोड़ा गया है यह जरूरी भी था लेकिन इन्सानी जिदगी का भरम पूरी तरह टूट नहीं सकता। पुराने युगो मे भी दुखवादियों के सभी प्रयत्न व्यर्थ साबित हुए क्योंकि "निर्लज्ज' जिजीविषा मृत्यु से प्रबलतर है। जो मानवीय व्याख्या *इस प्राकृतिक धरातल की उपेक्षा करती है वह ध्वस्त हो जाती है। मानव* जीवन म चाहे कोई अर्थ न हो लेकिन समस्या यह है कि सब अनर्थ भी तो नहीं है। इस स्थिति म निरंतर परिवर्तन द्वारा या सतत भ्रांति द्वारा जो रूढ है जो निरर्थक है विनाशक है अवरोधक है उसके विरुद्ध सघर्ष म यदि साहित्य और अधिक सहायक हो तो साहित्य की क्या हानि होगी?

साहित्य यदि एक रचना है तो उसम एकरूपता क्यों हो? मिट्टी के घरौंदे रचने वाला बालक भी स्रष्टा है क्योंकि वह एक रूप की रचना करके जीवन को आकर्षक बनाता है। लेकिन अवरोधकों की अधिकता के युग म यदि साहित्य मात्र सौन्दर्य-सृष्टि के स्थान पर अधिक विध्वंसक भूमिका भी अपनाये तो क्या उसमें स्वत एक नवीन साहित्य की सृष्टि नहीं होगी? और आज तो स्थिति यह है कि व्यक्ति ढाँचे के अन्दर म बुरी तरह फँसकर रह गया है, इस सामाजिक ढाँचे को ही तोड़ना हो गया लेकिन उसके पूर्व साहित्य

म उसका स्वरूप तो चित्रित हो और यह भी कि इस सडे हुए साचे मे ढल कर जो आदमी नुमा जतु आ रहा है आ गया है, आकर हमारे ऊपर सवार हो गया है वह ऐसा क्या है उसे समझना होगा। सभी तो नहा किन्तु अधिकतर व्यक्तिगत समझी जाने वाली न्यूनताएँ इसी साच के कारण हैं। यह सब समाजवादी आइडियालाजी' (अच्छे अथ म !) की सहायता से स्पष्ट हो सकता है और इस बोध से जो रचनाएँ, उस क्राति चेतना को उत्पन्न कर सकती हैं जिसके बिना यह सक्रमण कालीन सकट', स्थायी सकट मे बदल सकता है और सामयिक साहित्य मे व्यावसायिकता से कराहती हुई एकाकीय चेतना इसकी अभ्यस्त हो जाए, इसके पूव ही, युवापीढी के असतोष को दिशा देने के लिए यह स्पष्ट कहना होगा कि इस सताप का "मूल कारण" हमारे समाज का ढाचा है। केवल साहित्यिक प्रयोग किसी विराट सामाजिक प्रयोग' के बिना सकट से उबार नही सकते। इसलिए साहित्य मे नवीन प्रयोगो और समाज मे नवीन प्रयोगों के मध्य सगति स्थापित करना प्रमुख काय है कम से कम मैं ऐसा ही सोचता हू।

आधुनिकता और समसामयिकता

इधर 'आधुनिकता' पर बहुत ऊहापोह हो रहा है। प्रारम्भ में यह नवीन-पुरातन का विवाद सा था किन्तु अब तात्त्विक चर्चाएँ हो रही हैं। यह ढंग दार्शनिकों का ढंग है किसी साधारण शब्द या वाक्य या वस्तु को लेकर अमूर्तीकरण हमें गूढ़ और आकर्षक लगता है। इस तरह दोनों प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं, हम वास्तविकता की शोध भी कर सकते हैं और पलायन भी। आधुनिकता पर प्रचलित चर्चाओं में ये दोनों प्रयोजन ढूँढने पर मिल जाते हैं। किसी भी तथ्य या विचार की तीन चार प्रविधियाँ प्रचलित हो गई हैं शास्त्रीय या परम्परागत मनोवैज्ञानिक प्रायोगिक और ऐतिहासिक अथवा समाजशास्त्रीय। इनमें शास्त्रीय विधि एक मिश्रित प्रणाली है क्योंकि शास्त्रों में सभी प्रकार की यथार्थवादी और अयथार्थवादी दृष्टियाँ हैं। उनमें तर्कशास्त्र है वेदान्त है नास्तिक दर्शन है और भक्तिशास्त्र भी है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक शास्त्र में यथार्थवादी और अयथार्थवादी तत्त्व होते हैं अतः शास्त्रीय विधि से विचार में द्रष्टव्य यह होना चाहिए कि किस दृष्टि में शास्त्र की सहायता ली जा रही है नीत्शे भी शास्त्र की सहायता लेता है और ब्राडले भी। इसके सिवा अत्याधुनिक व्यक्ति कभी कभी ऐसी बात कहते हैं जो शास्त्रीय या परम्परा में प्राप्त होती हैं और वे समझते यह हैं कि वे अत्याधुनिक कथन प्रस्तुत कर रहे हैं। मनोवैज्ञानिक विधि में कथन की पृष्ठभूमि में स्थित मनोवृत्ति का उद्घाटन होता है किन्तु यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक शरीर शास्त्रीय मनोविज्ञान तथा गस्टाल्ट मनोविज्ञान से भी सहायता लेते हैं और फ्रायडीय विधि से भी यत्र तत्र सहायता लेते हैं। पर फ्रायड अब पुराना पड़ चुका है व्यवहारवादी (वाटसन) मनोविज्ञान अभी हिन्दी में प्रचलित नहीं है उसके दूसरे ध्रुवान्त पर यहाँ व्यवहार-विश्लेषण नहीं आत्मविश्लेषण अधिक होने लगा है। इस विधि में गहराई अधिक आ जाती है अमूर्तीकृत धारणाओं के कारण। किन्तु अनेक आत्मविश्लेषणों में कौन सही है यह समस्या उत्पन्न हो जाती है। समाजशास्त्रीय (मार्क्सवादी भी इसी में शामिल हैं) विधि को पुराना घोषित

किया गया है किन्तु मनहीम के 'आइडियालोजी एण्ड यूटोपिया' जसे ग्रन्था के अध्ययन से अब पुन समाजशास्त्रीयविधि अत्याधुनिक' होन जा रही है क्योंकि मनहीम न सदेहयुग' के सदेह और सकटग्रस्त चेतनाओ का अध्ययन, ग्रुप या समूह के आधार पर किया है जिसम कि व्यक्ति' बनता और विकास करता है। इसके सिवा भ्रान्ति या परिवतन का प्रश्न भी उसके सम्मुख है।

अत आधुनिकता और सामयिकता पर विचार करते समय यह देखना होगा कि वक्ता या लेखक किस दृष्टिकोण से विचार कर रहा है अन्यथा इस बिन्दु पर कभी निणय नही होगा। जसाकि होता है—उलझन की स्थिति मे या तो हम अनुपम और व्यथ तीव्रता का विकास करेंगे अथवा लेखक या वक्ता की विद्वत्ता' या गहराई' की प्रशसा कर अप्रभावित होने पर भी प्रभावित होने का स्वाग कर मौन हो जायेंगे।

मरी विधि प्रारम्भ स न समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक रही है जिसम मनोविज्ञान नविज्ञान तथा अ य ज्ञान अनुशासनो का प्रयोग किया जाता है जिसम व्यक्ति' को निरपेक्ष दृष्टि म नही देखा जाता। एक शब्द म मैं सापेक्षतावादी दृष्टि स देखने का प्रयत्न करता आ रहा हूँ और क्योंकि ज्ञान-अनुशासन रोज तथ्यो पर नया प्रकाश प्रक्षिप्त कर रहे हैं अत वास्तविकता म परिवतन करने की दृष्टि स विचार करन वाल लेखक के सम्मुख, सशोधन' की समस्या रहना ह ताकि मूल दृष्टि अ धविश्वास न बन जाय। इस प्रकार चिंतन एक निरतर शोध और सशोधन की प्रक्रिया बन जाती है क्योंकि वास्तविकता क्षण-क्षण परिवतनशील ह और समाजविकास क जिस चरण म हम उसकी गति के लिए मतव्य प्रस्तुत करत है और उसके लिए तथ्यो की अनूर्तीकृत व्याख्या करते हैं, वह चरण आग बढ़न ही नइ असगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और उन्हे दूर करन के लिए हम अपनी व्याख्या और व्याख्या-विधि म सशोधन करते हैं मार्क्स से मनहीम तक इस विकास को स्पष्ट देखा जा सकता है समाजशास्त्रीय और इतिहासवादी विधि का 'अत्याधुनिक' रूप यही है आलोचना क क्षेत्र म भी लुकाच फिशर [नसेसिटी आफ आर्ट] जस नवीन' रूसक इस तथ्य क प्रमाण है।

अतएव मरी दृष्टि से आधुनिकता' देशकालातीत धारणा नही हो सकती। कालातीत होने का अथ केवल यह हो सकता है कि हम किसी काल म अस्तित्व प्राप्त तथ्य या विचार की सीमाओ के प्रति सावधान रह परन्तु 'अस्तित्व का अथ ही है कि हम किसी काल मे स्थित और किसी देश (स्पेस) म स्थित तथ्य पर विचार कर रहे हैं। काल क प्रवाह म आधुनिक युग', 'मध्ययुग प्राचीनयुग' जसी मनाओ का बोध होता है किन्तु काल मे

'क्रिया' पर भी विचार कर, ये सभाएँ बनती हैं। आधुनिक युग योरोप में पुनर्जागरण युग से अस्तित्व में आया, इस कथन का अभिप्राय यही हो सकता है कि योरोप के कई देशों में औद्योगिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक क्रांति हुई। वस्तुतः विज्ञान ने चर्च द्वारा प्रसारित मध्ययुगीन धारणाओं को और नवीन राजनैतिक विज्ञान ने पुरानी राज्य व्यवस्थाओं को ध्वंसोन्मुख कर दिया। पूँजीवाद की असंगतियों से पीड़ित आधुनिक युग में, 'आधुनिकतर' समाजवाद या साम्यवाद की धारणाओं को जन्म दिया। प्रतियोगिता पर आधारित औद्योगिक समाजों ने दो विश्वयुद्ध प्रस्तुत किये जिसमें साम्यवादी रूस को भी भाग लेना पड़ा। प्रथम विश्वयुद्ध से द्वितीय विश्वयुद्ध तक पूँजीवादी जनतन्त्र और साम्यवादी व्यवस्था की असंगतियाँ तटस्थ विचारकों के सम्मुख आ गईं और सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध तथा किन्हीं विशिष्ट गुटों के प्रति मोहभंग होने लगा अतः मार्क्सवाद को भी 'पुराना' घोषित कर नवीन मूल्यों और आस्थाओं के अनुसंधान का प्रश्न उठा। निराशा, उलझन, अस्तित्व आशंका, अनिर्णय, व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतन्त्रता, वरण और एकाकीपन जैसी धारणाओं को सार्वकालिक सत्य के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा, जबकि ये स्थितियाँ स्वयं देश काल के आघात से ही उत्पन्न हुई हैं। अतः स्वयं विचार प्रक्रिया, विचार से प्राप्त मन्तव्यों, मान्यताओं और मूल्यों की ज्ञान प्रक्रिया पर विचार आवश्यक हो उठा और इस तरह ज्ञान का समाज शास्त्र सम्मुख आया। दूसरे ध्रुवान्त पर अन्तर्वादियों और अध्यात्मवादियों ने निरपेक्ष दृष्टि से ज्ञान शास्त्र प्रस्तुत किये।

भारतवर्ष में 'आधुनिकयुग' १९ वीं शताब्दी के मध्य से और विशेष रूप से १९ वीं शताब्दी के अंतिम भाग से प्रारम्भ हुआ। इस देश में योरोपियन विधियों के प्रयोग से ही आधुनिकता का जन्म हुआ। अर्थ के क्षेत्र में औद्योगिकता 'आधुनिक' कहलाई, राजनीति में जनतंत्र और समाज के क्षेत्र में 'मानवन्याय' 'आधुनिक' संज्ञा प्राप्त करने लगे। संस्कृति और कला के क्षेत्र में 'मानववाद' को आधार बनाया गया, ईश्वर, धर्म, पुराने आधार, संस्कार और मान्यताओं का महत्त्व कम होने लग गया। आजादी के बाद एक ओर रचनात्मक कार्य आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के रूप में सम्मुख आया दूसरी ओर राष्ट्र के अस्तित्व और रक्षा के प्रयत्नों में प्राचीन भारतीय मानस या सामूहिक अवचेतन का भी प्रयोग करना पड़ा। अतः प्राचीनता और नवीनता की धाराएँ एक दूसरे की पार्श्ववर्ती हुई प्रवाहित रही हैं। इसके सिवा समाजशास्त्रीय दृष्टि से भारतवर्ष में आज भी प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक के अनेक मानव समूह विद्यमान हैं। यहाँ आदिम जातियाँ हैं, ग्राम्य समूह हैं, नागरिक समूह हैं और इनमें भी अनेक स्तर भेद हैं जो ऐतिहासिक

विकास के विभिन्न चरणों पर है अतः आधुनिकता' के विषय में इन विभिन्न स्तरों से विभिन्न प्रतिक्रियाएँ व्यक्त होती हैं। क्योंकि समाज जब तक समग्र रूप में, 'सामूहिक अवचेतन' और आधुनिकता' में सामञ्जस्य नहीं बैठा पाता तब तक आधुनिकता' केवल बहुत सीमित समूह या विशिष्ट बौद्धिकवर्ग की ही वस्तु रहती है और उस विशिष्ट बौद्धिकवर्ग के व्यक्ति, अपनी-अपनी चेतनाओं का सामूहिक अवचेतन' तथा ग्रुप अवचेतन' से अलग नहीं कर पाते अतः जब तक अधिकांश समाज, सामाजिक विकास की एक ही मंजिल पर खड़ा नहीं हो जाता, तब तक यह विवाद शान्त नहीं होगा। दूसरे शब्दों में आधुनिकता का विवाद हमारे विकसित समाज की आत्म जागरूकता का प्रतीक भी है और उस छटपटाहट का प्रतीक भी, जिसमें हमारे समाज के अनेक स्तर गुजर रहे हैं। अभी तो इस देश में तकनीकी विकास भी पूरा नहीं हुआ, न शिक्षा सार्वजनिक हो पाई है तब 'आधुनिकता' और प्राचीनता' का सहअस्तित्व तब तक रहेगा, जब तक समाज को समग्रतः हम उसी स्तर पर नहीं ले आते, जिस पर स्थित होकर हम विचार कर रहे हैं।

इस प्रकार वास्तविक आधुनिकता का बोध इतिहास में और विशेषकर अपने इतिहास में कुछ वर्षों का बोध है और उस बोध का जिम्मेदार बाह्य विकास है जिसने इस आंतरिक बोध को जन्म दिया है अतः बोध की परिधि से हम बाह्य सन्दर्भों को विस्मृत नहीं कर सकते। समसामयिकता का बोध इस समय' का बोध है अपने वर्तमान का बोध, उस क्षण का बोध, जिसमें हम जी रहे हैं। अतएव सामयिकता वर्तमान बोध है और वर्तमान बोध उस आधुनिकता का ही एक अंग है जिसका प्रारम्भ कुछ पूर्व हो चुका है। आधुनिक युग में उत्पन्न होकर और आधुनिक युग की उपलब्धियों और असंगतियों पर विचार करके ही हम समसामयिक बोध को समझ सकते हैं क्योंकि समसामयिकता के बोध में आधुनिक युग के वे तत्व शामिल हैं जिन्होंने समसामयिकता को जन्म दिया है। तकनीकी युग आधुनिक युग है। इस आधुनिक तकनीक ने मनुष्य के सम्मुख मौलिक प्रश्न उपस्थित कर दिये हैं जैसे क्या विकास' की धारणा सही है? यह आधुनिक प्रश्न है और समाजवाद की एक ही काल में स्थिति और विकास देख कर यह प्रश्न उठा है कि क्या हम सचमुच सामाजिक दृष्टि से विकास' कर रहे हैं या ह्रासोन्मुख हैं? यह समसामयिक प्रश्न है। क्या अब तक की सभी प्राचीन-नवीन धारणाएँ काल के प्रवाह में अपव्यय मोहभंगकारिणी नहीं साबित हुई हैं? कला और काव्य के क्षेत्र में यह उन्मन अमूर्त कलाओं और अमूर्त काव्य में प्रकट हुई है, यह समसामयिक" प्रवृत्ति है। इसके औचित्य और अनौचित्य पर विचार

चल रहा है, कोई निर्णय नहीं हो पा रहा है, केवल ध्रुवान्त प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

आधुनिक और समसामयिक में आधुनिक अधिक व्यापक है, क्योंकि समसामयिकता जल्दी बदलती है। भारतेन्दु युग से आज तक का युग 'आधुनिक युग' है किन्तु नयी कविता, ताजी कविता, वास्तविक कविता, नवीनतम अन्य विधाएँ, नए प्रयोग, नई आलोचना नई कथा या अकथा आदि 'समसामयिक' और आधुनिक प्रवृत्तियाँ हैं।

'आधुनिकता' एक जीवनदृष्टि के रूप में भी प्रयुक्त होती है। किसी भी क्षेत्र में 'वास्तविकता' के साथ संघर्ष में जब अस्त्र शस्त्र अपर्याप्त या अकारगर साबित होने लगते हैं तो नये टूल्स की खोज 'आधुनिकता' मानी जाती है। यहाँ 'आधुनिकता' एक दृष्टि के रूप में स्वीकृत है। ये 'टूल्स' ज्ञान के क्षेत्र में नूतन तर्क विधि को जन्म देते हैं, कला के क्षेत्र में नवीन कलारूपों को और समाज के क्षेत्र में नए मानव सम्बन्धों को। इस प्रकार वास्तविकता की पहचान करते रहना और उसके अनुसार अपने चिन्तन और सृजन का उपयोग करना आधुनिकता है। इस बिन्दु पर रुचि का योगदान कला के क्षेत्र में विचारणीय है। प्रायः ऐसा होता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही युग में, काल के उस विशिष्ट प्रवाह में, जिसमें उत्पादन के साधन और मानवीय सम्बन्ध एक संगति की स्थिति में हैं क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में कलारूपों का विकास होता है और इन परिवर्तनों से समाज के मूलगत परिवर्तनों का सीधा सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए विज्ञान के कारण तकनीक में बहुत शीघ्र परिवर्तन हो रहे हैं यह एक समसामयिक प्रवृत्ति है फलतः कला-साहित्य में क्षेत्र में रोज नवीन नवीन विधियों और अभिप्रायों का अम्बार लग रहा है। किन्तु मकानों के नित्य नवीनीकरण का प्रश्न जहाँ बाह्य वास्तविकता के साथ है वहाँ कला-साहित्य के क्षेत्र में नवीनता का प्रश्न 'आन्तरिक वास्तविकता' और रुचि का प्रश्न है फलतः समसामयिक युग में कला-साहित्य के क्षेत्र में एक शैली से लोग शीघ्र ऊब उठते हैं और प्रायः एक ही कवि अपनी प्रत्येक नवीन रचना में एक सर्वथा नवीन तकनीक का प्रयोग करता है। इस तरह नित्य नये फैशनों की तरह, कला-साहित्य में भी फैशनों की बाढ़ आ जाती है और तत्व पर ध्यान न रह कर केवल रूपों पर ही ध्यान केन्द्रित होने लगता है अतः अधिक स्थायी तत्ववादी विचारक उत्पन्न होते हैं जिनमें कुछ तो रूपवाद को कुत्सित रुचि मानकर पुरानी तकनीक का भी समर्थन करने लगते हैं और कुछ 'बौद्धिक विभिन्नता' और रूपवादी पूर्वाग्रहों को महत्व न देकर यह देखने लग जाते हैं कि अवतु

परिवर्तन की इस आपाधापी में मनुष्य का कम परिवर्तनशील' पक्ष कौन-सा है और इस विधि से वे मानव सवंगों या मूल प्रवृत्तियों पर आधारित भावनाओं को ही महत्व देते हैं और उनकी उपेक्षा को 'आधुनिकता' न मानकर उसे विकलांग आधुनिकता' मानते हैं। इस प्रकार कलाओं और साहित्य-सृजन चिंतन के क्षेत्र में, यह उलझन चीख़ा, चिल्लाहट, नारेबाजी, गालीगलौज और आरोपों प्रत्यारोपों को जन्म देती है, अत्याधुनिकों द्वारा इस प्रकार के साहित्य' की जो सृष्टि हुई है वह समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों के लिये बड़े काम की सामग्री है।

आज क समसामयिक' साहित्य को यदि अलग से देखें तो उसमें हिंदी साहित्य के विकास के प्रत्येक सोपान के कवि मिल जाते हैं। आज हिन्दी में वीर' कवि हैं भक्त' कवि है रीतिकालीन बोध के कवि हैं और द्विवेदीयुगीन पद्धति पर महाकाव्यों के ढेर लगाने वाले कविराज हैं। स्वच्छंदतावादी या छायावादी अत्याधुनिकों द्वारा पुराने' घोषित हो चुके हैं और छायावादतन' उस काव्या के कर्ताओं ने सावित कर दिया है कि वे चुक गए हैं या मरा चुक गई है किन्तु फिर भी स्वयं नए' मंदिरों में अनेक छायावाद से प्रभावित हैं कथाओं और उपन्यासों में प्रेम सम्बन्धों की व्याख्याओं में, छायावाद से न अछूत ऊपर उठ सके न जैनेन्द्र न राजेन्द्र यादव न मोहन राकेश न निर्मल वर्मा। फिर भी योरोप के रामासविरोधी आधुनिक' दृष्टिकोण का प्रयोग हिन्दी में बहुत देखा है। भावकारिक स्तर पर दार्शनिक स्तर पर मनुष्य के अस्तित्व और उसके स्वरूप से सम्बन्धित चिंताओं और आकांक्षाओं से ओतप्रोत रचनाएँ समसामयिक युग की एक विशेष उपलब्धि है। परम्पराओं के प्रति तीव्र घृणा भी एक समसामयिक प्रवृत्ति है किन्तु यदि आधुनिकता' एक दृष्टि है तो एक ही आज' में प्रचलित और प्रयुक्त विभिन्न शताब्दियों की संवेदनाओं की ये अभिव्यक्तियाँ क्या आधुनिक' भी हैं?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए वस्तुतः इस निबन्ध के प्रारम्भिक भाग को ध्यान में रखना होगा कि किन्हीं मानसिक स्थितियों, संवेदनाओं और मान्यताओं की आधुनिकता का निर्णय कैसे हो? यदि बाह्य सन्दर्भ में हम किसी रचना को रखकर न देखें तो मात्र 'रुचि' से ही निर्णय करना होगा और 'रुचि' एक प्रवंचक मात्र है धूमिल और अबुद्धिगत। पता नहीं, रुचिवाद हम कब धोखा दे जाए और जैसाकि ऊपर दिखाया गया है 'रुचि' भी वास्तविकता से अलग करके नहीं समझी जा सकती। 'रुचि' के भीतर की परिधि विभिन्न अवचेतना' के घेरा से अंकित रहती है अतः कौन मानसिक स्थिति 'आधुनिक' है कौन पिछड़ी हुई इसके निर्णय के लिए एकमात्र उपाय 'समसा

सामयिक बोध का इतिहासवादपरक अध्ययन है क्योंकि कलात्मक और साहित्य सर्जनात्मक-बोध जीवन के अन्य संदर्भों से समानान्तर नहीं चल सकता। साहित्य और कलाओं की वस्तुनिरपेक्षता को ही जो 'आधुनिक' या 'माडर्न' मानना चाहते हैं उन्हें प्रणाम किया जा सकता है। उन्हें उनकी दृष्टि से उत्पन्न अंतर्विरोधों और वस्तु-प्रतिकूलताओं को उनके सम्मुख रखकर समझाया नहीं जा सकता क्योंकि वे सोचने और दायित्व से सरोकार नहीं रखना चाहते और सच तो यह है कि इस निरपेक्षतावाद का कारण भी यह इतिहास है कि हिन्दी में प्रगतिवादी दौर में जो प्रचारवादिता और वस्तुपरकता की अतिवादिता हुई निरपेक्षतावाद अपने को आधुनिक कहकर उसी की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। जब जब साहित्य के सौष्ठव की हानि होती है तब तब सौष्ठव हानिकारक तत्वों को साहित्येतर कहकर संघर्ष शुरू हो जाता है और यह प्रतिक्रिया यदि अधिक तीव्र हुई तो दूसरे छोर पर पहुँच कर यह घोषणा होने लगती है कि साहित्य रचना सर्वथा व्यक्तिगत सृजन है और 'व्यक्ति' वस्तु से अप्रभावित रह सकता है अथवा यह कि मनुष्य में यह क्षमता है कि वह देश और काल का अतिक्रमण कर सकता है और इस प्रवृत्ति को ही 'आधुनिक' कहा जाने लगता है तथा अन्य 'समसामयिक सापेक्षतावादी दृष्टियों को 'गतानुगतिक' की संज्ञा दी जाती है।

व्यक्ति को अद्भुत अनुपम और निरपेक्ष घटक मानकर सोचने वाले विचारकों के लिए अत्याधुनिक समाजविज्ञान का यह सिद्धान्त ध्यातव्य है कि हममें चिंतन की प्रेरणा, कुछ संवेग जगाते हैं या अन्य इन्ट्रेस्ट्स हमें सोचने की विशिष्ट विधि का आविष्कार करने के लिए प्रेरित करते हैं। ये संवेग (इम्पल्स) और 'स्वार्थ' (इसमें परमार्थ भी शामिल है) चिंतन का स्वरूप निश्चित करते हैं और इन पर ध्यान दिए बिना चिंतन की आधुनिकता और गतानुगतिकता का निर्णय असम्भव है। यदि ये संवेग और स्वार्थ बाह्य वास्तविकता के अनुकूल हैं या बाह्य वास्तविकता की समसामयिक असंगतियों के बुद्धिसंगत दूरीकरण से सम्बन्धित हैं तब चिंतन आधुनिक होगा अन्यथा वह यथार्थ का पथभ्रष्टक होगा। अतः आधुनिकता का बोध इस प्रश्न में निहित है कि मनुष्य की सामूहिक रूप में गति और गंतव्य के साथ उसका सम्बन्ध गत्यात्मक है या यथास्थितिशील। अतएव यथास्थितिशीलता आधुनिकता का विपरीत बोध है और यह यथास्थितिशीलता अनेक रूपों में समसामयिक कलारूपों और साहित्य के अंतस्तल में कितनी मात्रा में है यह स्वतन्त्र अनुसंधान का विषय है। समसामयिक साहित्य में जिसे 'अत्याधुनिक' कहा जाता है उसमें यथास्थितिशीलता के अनेक तत्व हैं और गत्यात्मक तत्व

भी हैं, इस प्रकार आधुनिकता और समासामयिकता का स्वरूप द्वन्द्वात्मक वास्तविकता की समझ और उसके प्रतिविम्बीकृत रूपो और अभिव्यक्तियो की समझ का प्रश्न है। दृष्टि के औचित्य, अनौचित्य, कृत्रिमता और वास्तविकता पर विचार किए बिना सृष्टि का स्वरूप निश्चित नही हो सकता,

हिन्दी आलोचना म चिंतन दृष्टियो के बाहुल्य के कारण 'सक्रान्ति' उपस्थित हो गई है। विश्व के कुछ दशो म भी यह स्थिति बहुत पहले स ही है अत सहमति' अनाधुनिक' होती जा रही है और बिना सहमति के गति की दिशा मिल नही सकती स्वय गति' भी नहा हा सकती। गति के स्थान पर हम एक समसामयिक परिधि म चक्राकार रूप मे घूमने लग जाते हैं फलत व्यापकता' का लोप होने लगता है और यह व्यापकता का लोप आधुनिकता और समसामयिकता की विपन्नता को व्यक्त करता ह उपलब्धि का नही। हिन्दी में तलस्पर्शी तत्वो के वस्तुपरक अध्ययन के बिना प्रतीतियो' की आधुनिकता पर ही बल दिया जा रहा है। प्राचीनकाव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या करने वालों के सम्मुख इसलिए दो प्रश्न हैं क्या हम नवीन या आधुनिक मन स्थितियो की नवीन अभिव्यंजना की परीक्षा पुराने मानदण्डो से सम्भव है ? इस प्रश्न के उत्तर म एक दल नवीन या अत्याधुनिक को नकार कर पुराने मापदण्डो का समर्थन करता है, दूसरा दल सशोधनवादी है किन्तु यह सशोधन अभी व्यवस्थित रूप मे सम्मुख नहा आ सका है। सकेतात्मक सशोधन अवश्य सम्मुख हैं परन्तु सकेतो म काम नहा चलता अध्ययनप्रविधि को व्यवस्थित होना ही पड़ेगा। प्राचीन साहित्य पर आधारित मापदण्ड के विषय म अत्याधुनिको म दो दल है कुछ प्राचीन को नकारते ह कुछ प्राचीन को अशत स्वीकार करते हैं। एक दल का कथन है कि भौतिकी रसायन जसे क्षेत्रो मे जिस तरह अरस्तू की मान्यताए पूर्णत खण्डित हो चुकी हैं उसी प्रकार काव्यशास्त्र के क्षेत्र म नही हुआ क्योकि मानवनिधाओ के क्षेत्र म प्राचीनो की अतर्दृष्टि बहुत विकसित थी प्रायोगिक क्षेत्र मे व अवश्य पिछड गए हैं और समाजशास्त्र भी यह मानता है कि मूलसवेगो की दृष्टि से अभी मनुष्य बहुत नही बदला है शायद वह कभी भी पूर्णत नहा बदलेगा अत इस सवेगात्मक धरातल क मूल्याकन म प्राचीन सहायक है उसी प्रकार जिस प्रकार युद्ध' का प्रश्न महाभारतकार के मन को उसी तरह झकझोरता है जसे वह हमारे मन को अत आधुनिक आलोचना वनानिका की तरह प्लेटो अरस्तू भरत और अभिनवगुप्त की उपेक्षा करके चल नही सकती,

अत मेरी दृष्टि स तो वास्तविक आधुनिकता वही है जा समसामयिक' चिताओ मक्रमो और प्रश्नो का निराकरण कर सके और कला और साहि-

रचनाजन के क्षेत्र में भी आधुनिकता वही होगी जो यथास्थितिशील मानसिक स्थितियों और मनुष्य की 'समसामयिकता' से जन्य विपन्नताओं को चीर कर उसे गत्यात्मक स्वरूप दे। यदि गतानुगतिक 'आस्था' और 'स्वप्न' ध्वस्त हो रहे हैं और पूँजीवादी जगत में समाजवादी देशों में तथा साम्यवादी व्यवस्थाएं तथा जीवनपद्धतियाँ और 'दर्शन' यदि अपर्याप्त साबित हो रहे हैं तो इस 'संक्रान्ति' की अभिव्यञ्जना तो आधुनिक और समसामयिक होगी किन्तु अत्याधुनिक' कला और चिंतन वही कहला सकता है जो इस 'संक्रान्ति' में धनात्मक तत्वों और मन स्थितियों की खोज करे और उसे व्यञ्जित करे। प्रसन्नता का विषय यह है कि हिन्दी में मानव जिजीविषा और मानव की मूलभूत अभावजन्य चेतना काव्य और कथानक में पुनः व्यक्त होने लगी है। आज हिन्दी में केवल निराशा अनिर्णय, अस्तित्व-आशंका के ही स्वर नहीं हैं आशा और आत्मविश्वास के स्वर भी मुखरित होने लगे हैं और ये भी आधुनिक' शैली को अपनाकर ही चल रहे हैं। यही नहीं यूरोप की ह्रासशील चिंता से भी हम सावधान होते जा रहे हैं क्योंकि हम एशिया अफ्रीका के देशों के लेखक ठीक उसी वास्तविकता में नहीं जी रहे हैं जिसमें अस्तित्ववादियों को जीना पड़ा है अतः दायित्व' और वरण की शब्दावली अब नए संदर्भ पा रही है और अत्याधुनिक कला और साहित्य का भविष्य इस 'दायित्वबोध' पर ही आधारित है। यह सच है कि संक्रान्तिकालीन' कला और साहित्य क्रान्तिवादियों के आवेश को कम करती है किन्तु यह भी सच है कि संक्रान्ति की ही अभिव्यञ्जना आधुनिक नहीं होती उससे बच निकलने के उपाय के लिए प्रयत्नशील होने की प्रक्रिया से उत्पन्न चिंतन और कला भी 'अत्याधुनिक' हो सकती है अतः संक्रान्तिबोध समसामयिक तत्व है और उससे मुक्ति का उपाय ही अत्याधुनिक' तत्व है

आधुनिकतावाद और समाजवादी यथार्थवाद

आज राजनीति के क्षेत्र में पूँजीवाद और साम्यवाद (समाजवाद), दर्शन के क्षेत्र में अद्वंद्वात्मक अभौतिकवाद तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद तथा साहित्य के क्षेत्र में आधुनिकतावाद और यथार्थवाद का संघर्ष अपने तीव्रतम रूप में चल रहा है। हिन्दी में आधुनिकतावाद या मार्डनिज्म की आवाज सन १९४० ई० के बाद प्रथम तारसप्तक (१९४३ ई०) के पश्चात अधिक बुलन्द हुई है इस आधुनिकतावाद या नवीनतावाद को प्रायः राजनीति निरपेक्ष, शुद्ध सौन्दर्यवादी आन्दोलन माना जाता है किन्तु कभी-कभी किसी आन्दोलन को अधिक कारगर बनाने के लिए उसे 'राजनीति रहित'' कहना या उसे शुद्ध सौन्दर्यवादी घोषित करने की आवश्यकता होती है, विरोधी विचारधारा और जीवनविधिगत मानव मूल्यों के विरुद्ध अपनी मान्यताओं के प्रचार का यह अधिक सूक्ष्म ढंग है।

पश्चिमी पूँजीवादी देश आधुनिकतावाद' के प्रचारक हैं और समाजवादी (साम्यवादी) देश यथार्थवाद के। हिन्दी में नई कविता', नए उपन्यास', नई आलोचना', 'नई कहानी, आदि में बहुत से तत्व जाने या अनजाने पश्चिमी पूँजीवादी सभ्यता के विचारों और मूल्यों से आये हैं। इसके विरुद्ध रूस में १९ वीं शताब्दी के यथार्थवादी लेखकों तालस्तोय चर्निशेव्स्की, बेलिंस्की, पिसारोव गोगोल, चेखव आदि के जीवन के यथावत चित्रण' के सिद्धान्त का अधिक अनुसरण हुआ है। यह वस्तुतः महाकाव्य परम्परा' (Epic Tradition) कहलाती है जिसमें जीवन की वास्तविक छवियों तथा समस्याओं का चित्रण होता है। समाजवादी यथार्थवादी युग में आकर द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से जीवनगत यथार्थ का चित्रण होने लगा। इस प्रकार यथार्थवादी परम्परा में ही समाजवादी यथार्थवाद का विकास हुआ है जिसकी विशेषता है वस्तुनिष्ठ रूप में जीवन का प्रस्तुतीकरण। जबकि आधुनिकतावाद की विशेषता है विशृंखलित मानसिक स्थितियों का सब्जेक्टिव' वर्णन अर्थात आधुनिकतावाद, यथार्थवाद की स्थूलता के विरुद्ध विद्रोह है। और यह विद्रोह वर्ण्यवस्तु या उसके प्रति दृष्टिकोण तथा शिल्प दोनों क्षेत्रों में है। उदाहरणत

साहित्य मे सार्वभौमिक तत्व

"कला की आवश्यकता" नामक पुस्तक म श्री फिशर का कथन है कि मार्क्सवादियो को भी स्पष्टत कला और साहित्य म सार्वभौमिक और सर्वकालिक तत्व को स्वीकार करना चाहिए क्योकि वह एक वास्तविकता है—

The function of art in a class Society at war within itself differs in many respects from its original function But nevertheless despite different Social situations there is something in art that expresses an unchanging truth It is this that enables us who live in the twentieth century to be moved by prehistoric cave paintings or very ancient songs [1]

प्राचीन ग्रीक साहित्य क्यो प्रिय लगता है जबकि वह ग्रीकसमाज दास प्रथा, स्त्रियो की दुर्दशा तथा श्रम से घृणा जैसी विकृतियो से पीड़ित था ? मार्क्स के अनुसार ग्रीक समाज और उसका प्रतिबिम्ब ग्रीकसाहित्य मानवता की शिशु-अवस्था की स्थिति का परिचायक है अत समाज की बाल्यावस्था क्यो शाश्वत आकर्षण" का विषय न बने ? श्री फिशर ने मार्क्स की इस व्याख्या से इस सिद्धात का निष्पीडन किया है कि यह विवादास्पद होने पर भी कि ग्रीक नामल शिशु थे, मार्क्स की उक्त व्याख्या से यह अवश्य सिद्ध होता है कि ग्रीक साहित्य और कला म मनुष्यता का एक 'क्षण' चित्रित हुआ है अत वह आज भी आकर्षक लगता है—

What matters is that marx saw the time conditioned art of an underdeveloped social stage as a Moment of humanity and recognised that in this lay its power to act beyond the historical moment to exercise an eternal fascination

अत फिशर के अनुसार किसी ऐतिहासिक क्षण" की भी सृष्टि होती है जो आगे के सभी ऐतिहासिक क्षणो म आकर्षण का विषय रहती है अत

1 The Necessity of art—A Marxist Approach —(अ० फिशर)

वर्गसंघर्ष में ऐतिहासिक निरन्तरता का महत्व कम नहीं आंकना चाहिए और कला और साहित्य के वर्गसंघर्षात्मक और सार्वकालिक दोनों तत्वों पर बल देना चाहिए।

स्पष्टतः प्रगतिवाद के प्रारम्भिक सोपान में वर्गसंघर्षात्मक तत्व पर अधिक बल दिया गया। सामाजिक क्रांति की बलवती भावना के कारण साहित्य के स्थायी तत्वों की कुछ अवश्य उपेक्षा हुई है।

अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि जीवन की तरह साहित्य में भी संघर्ष और निरन्तरता (Continuity) चलती रहती है। हिन्दी के प्रगतिवादी लेखकों ने इस निरन्तरता तत्व की पहचान प्रारम्भ में ही कर ली थी और उसे वह 'अपेक्षाकृत अधिक स्थायी तत्व" कहा करते थे। उदाहरणतः वैदिक साहित्य में चित्रित समाज एक पिछड़ा हुआ समाज था। मनुष्य में तब आशा, उल्लास था विजय की भावना थी मंगलमय भविष्य के लिए प्राचीन आर्य आश्वस्त थे। वचारिक उलझनों से आर्य अधिक पीड़ित नहीं थे। अस्तित्वरक्षा और अस्तित्व प्रतिष्ठा के लिए संघर्षरत आर्यों के कबीलाई तथा प्रारम्भिक कृषि व्यवस्थाप्रधान समाज के सम्मुख एक चुनौती का वातावरण था जिसे उन्होंने स्वीकार किया था अथवा उन्हें वह स्वीकार करने को विवश थे अतः वैदिक साहित्य में आर्य दस्यु संघर्ष मिलता है और स्वयं आर्यों के कबीलों में शासक शासित पुरोहित शासक आदि संघर्षों के रूप चित्रित हुए हैं किन्तु साथ ही आर्यों का आशावाद और उल्लास कम करने का उत्साह, प्रकृति के प्रति आश्चर्यमिश्रित प्रेम और जीवन के प्रति दुर्दमनीय आसक्ति ये प्रवृत्तियाँ वैदिक साहित्य को आज भी प्रिय बनाये हुए हैं। उत्तर वैदिक काल में वास्तविक संघर्षों की प्रतीकवादी व्याख्या प्रारम्भ हुई, महाकाव्यों में कौरव पाडव युद्ध तथा राम रावण युद्ध को पाप पुण्य के शाश्वत संघर्ष के रूप में समझाया गया जो आज भी मनुष्य में यह विश्वास भरता है कि पाप का नाश अवश्यम्भावी है। यह एक वास्तविकता है कि मनुष्य-समूह अपनी अस्तित्वरक्षा के लिये कल्याणकारी मूल्यों को स्वीकार कर लेता है अतः प्रत्येक समाज में यह धारणा शाश्वत रूप से बस गई है कि पुण्य अंतिम रूप से विजयी होगा। इन पुण्यों में परोपकार सत्य, दया करुणा प्रेम आदि तत्वों की गणना होती आई है और प्राचीन साहित्य एक स्वर से इन मूल्यों की अंतिम विजय के विषय में आश्वस्त है अतः पिछड़े समाजों का यह प्राचीन साहित्य हमें आज भी प्रभावित करता है और करता रहेगा।

एक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्गसंघर्ष और निरन्तरतापरक तत्व

एक साथ किस प्रक्रिया से एक ही ऐतिहासिक क्षण म जन्म लेते हैं ? सस्कृत साहित्य वाल्मीकि से लेकर आजतक मुख्यत ब्राह्मणवादी तत्वो द्वारा लिखा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि स उच्च वग" का निर्माण करते हैं। बाल्मीकि, कालिदास माघ भारवि, श्रीहर्ष आदि महाकवियो ने उच्चवर्गीय ब्राह्मणदर्शन के वत्त के अन्तगत रहकर ही काय नाटकादि लिखे हैं। यह ब्राह्मणो द्वारा निर्देशित समाज सामतवादी समाज था, जिसम करोडो सेवको के वग को एक सद्धान्तिक यवस्था द्वारा (स्मृतियाँ धमशास्त्र) मन्म के लिए 'सेवक अधदास' और दास बनाया गया था और जिसे शताब्दियो के प्रचार द्वारा शूद्रवग ने स्वीकार भी कर लिया था। जातिप्रथा द्वारा निम्नवग के असतोष को एक बडी सीमा तक समाप्त कर दिया गया था और कमवाद पुनजन्मवाद के द्वारा प्रत्यक व्यक्ति की स्थिति निश्चित कर दी गई थी अत ऐसे समाज म प्रत्येक वग क आदश पुरुषो का चित्रण किया गया क्योकि यही एक उपाय था जिसके द्वारा तत्कालीन दृष्टि स पिछडे समाज को स्थिरता और निरन्तरता मिल सकती थी।

अतएव सस्कृत नाटको काव्यो म मानव जीवन की नियति पूणत निश्चित है नए प्रश्न सस्कृत काव्यकारो को कष्ट नही देत । भाग्यवाद कमवाद पुनजन्मवाद द्वारा प्रत्येक प्रश्न का समाधान जब सभी व्यक्तियो को प्राप्त है इसलिए सस्कृत साहित्य म स्थायी रसा की दृष्टि पर बल दिया गया। जब सघष मुखरित नही है मान्यताएँ व्यापक हैं असतोष का कारण होने पर भी कोई नया सामाजिक सिद्धान्त सम्मुख नही है तब मनुष्य का वही रूप सस्कृत म चित्रित हो सका है जो सार्वकालिक है अर्थात मनुष्य के स्थायी' भावो की व्यजना पर ही सारा जोर दिया गया है।

स्पष्टत हम सामतीसमाज की धारणा अस्वीकृत कर चुके हैं आज समता का युग है। करोडो शूद्रा और अन्य श्रमकर वर्गों को वधानिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। राज महाराज अध्ययन के नताओ के सम्मुख गौरव और सम्पत्ति भी खो चुके हैं। राजमहलो पर अब जो साहित्य लिखा भी जाता है वह धी हष की रत्नावली म भिन्न है। रत्नावली को पढ कर आज राजा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न नही होती बल्कि सागरदत्ता और वासवदत्ता के भगड़े दूतिया के षड्यन्त्र आदि निरथक और मन्द हास लगते हैं। इसी प्रकार द्रौपदी को नग्न करने के प्रण म कौरवो द्वारा प्रस्तुत तक नारी प्रथा पर आधारित है जो आज बबर प्रमाणित हो चुका है। राजाओं के परस्पर युद्ध आज उस युग की पिछडी राजनीति पर प्रकाश डालते हैं किन्तु इस सघर्ष

और ऐतिहासिकता के सदभ म आज निरथक लगने वाले तत्वा के अतिरिक्त संस्कृत साहित्य म मनुष्य के राग विराग का आकषक वणन है जो आज भी रुचता है। अपनी ऐतिहासिक सीमाओ म सिमटा, परिस्थिति को अपन अनुकूल करने के सभी उपाय करते हुए अपनी वर्गीय स्थिति को पुष्ट करने के लिए तरह तरह के सिद्धान्त गढते हुए संस्कृत के उच्च वर्गीय कवि म भी एक धरातल एसा है जिस पर वह मानवमात्र क स्वरूप के विषय म सोचता है। इस साहित्य म सामान्य मानव की धारणा ही काय करती रही है। सघर्षों की कोटि स परे भी एक ऐसा सन्दभ है, जहा शासक शासित, पण्डित मूख, सबल दुबल "एक" हैं यह धरातल है, भाव का धरातल।

चिंतन-स्तरा पर मनुष्य म विभिन्नता को स्वीकार किया गया है मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना कहा भी गया ह, किन्तु भाव के धरातल पर मानव मात्र का एकता घोषित की गई है, यही 'तत्व' निरन्तरता का तत्व है। दूसरे शब्दा म जसा कि सभी प्रगतिवादी मानते आए हैं, सामाजिक व्यवस्थाएँ बनती बिगडती है इतिहास स सभी कुछ "कडीशड" होता हुआ चलता है भाव भी इस बाह्य परिस्थिति स प्रभावित होता है, एक ही भाव का चित्रण दो इतिहास युगा म भिन्न भिन्न प्रकार से होता है तथापि स्थायी भावा म मूल परिवतन बहुत कम होता है क्योंकि शृगार वात्सल्य क्रोध भय हास्य ग्लानि आदि भाव मनुष्य के जवी अस्तित्व' के रक्षक है उनम मौलिक परिवतन पिछले हजारो वर्षा क इतिहास म बहुत कम हो पाया है अत य भाव मनुष्य के मूल रूप के रक्षक रह हैं मानवीय इतिहास की यह मूल सामग्री है। जवीसम्पत्ति जो प्रकृति से प्राप्त है इतिहास की आच म तपकर नए रूप धारण करती है नए साहित्य को जन्म देती है किन्तु इसम मौलिक परिवतन कम होता ह या इतना धीर होता है कि उस लक्ष्य करना भी कठिन हो जाता है।

संस्कृतसाहित्यने इस 'मूल मनुष्य" का सस्कार भी किया है किन्तु वहाँ ब्राह्मवादी दशन का एक वृत्त है, जिससे बाहर जाने का उपक्रम किसी लेखक न नही किया। ईश्वर राजा ब्राह्मण, वद स्मृतिया, जाति आदि क प्रति श्रद्धा समाज की यथास्थिति म अपरिवतन की भावना का सृष्टि ही इस साहित्य का लक्ष्य ह कि तु इस "वगस्वार्थ" के साथ-साथ महा कवियो की मानवमात्र की सवेदनाओ और भावनाओ म प्यार भी कम नही है इसीलिए अभिज्ञान शाकुन्तल म रमणीय शृगार, वेणीसहार म वीरता और दप, नागानन्द म करुणा और भूतदया शिशुपालवध म अत्याचार का विरोध और वीरत्व, और मेघदूत मे देश की प्राकृतिक सुषमा म सभी मनुष्य

आज भी आनन्द दे जाते हैं। मान्यताएँ बदलती हैं पर हृदय की मनुहारें इतिहास की कोठियों का उल्लंघन करके अविच्छिन्न मानव को भी आप्लावित करती रहती हैं। मान्यताओं के स्वतन्त्र बन्धनों के अतिरिक्त मानव संवेदना (Sensibility) से सम्बन्धित अनेक साम्यत्व आज भी आकर्षक लगते हैं, क्योंकि साहित्य में केवल विचार और भाव ही नहीं होते अपितु उनके रूप रंग और गन्ध के चित्रण भी होते हैं। प्राचीन साहित्य अपनी अभिव्यक्ति कुशलता और भावसामञ्जस्य से भी प्रभावित करता है। कला और साहित्य का यह अंग 'जादू' का अंग कहला सकता है। 'कुशलता' सामाजिक दृष्टि से एक आवश्यक तत्व है अतः यह सबको प्रभावित करता है। यह अवश्य है कि नवीनता के प्रति प्रेम के कारण हम नवीन कुशलताओं के अनुसंधान में दत्तचित्त रहते हैं। ऐसी स्थिति में भी हमारी प्राचीन कुशलताएँ प्रकट प्रमाणित होती है क्योंकि उनका का अध्ययन हम नवीन कुशलताओं की ओर उन्मुख करता है और प्राय साहित्यकार प्राचीन कुशलताओं की सहायता से नवीन "जादू' की सृष्टि करते दिखाई पड़ते हैं।

यह सत्य है कि मनुष्य के राग विराग का संस्कृत साहित्य में चित्रण 'निरपेक्ष" रूप में हुआ है पर "जैवी अस्तित्व' के एक स्तर पर ये भाव स्वतन्त्र रूप में भी आनन्ददायक होते है। सूरदास का बाल वर्णन उस काल में एक सामाजिक प्रयोजन को लेकर किया गया ऐसा समाजशास्त्री सिद्ध कर सकते है। किन्तु बाल्यावस्था के सौन्दर्य सरलता भोलापन नीडाएं आदि आज भी उसी रूप में आकर्षक लगती है जिसके मूल में "जैवी अस्तित्व" काम करता है अतः बिना किसी सामाजिक आग्रह के भी हम बच्चों से प्रेम करते है यों बच्चों से प्रेम एक सामाजिक कार्य भी है अतः यहां 'प्रवृत्ति' और सामाजिकता में विरोध नहीं है। हम सभी बच्चों से प्यार कर सकते हैं किन्तु सभी स्त्रियों से प्यार नहीं कर सकते क्योंकि वहां शृंगार में प्रजनन अंतर्भूत होने के कारण, प्रवृत्ति और सामाजिकता में द्वन्द्व उठ खड़ा होता है अतः शृंगार के चित्रण में निषेध और स्वीकृति के दोनों पक्ष चलते है मर्यादाएँ अपना प्रभाव डालती है नैतिकता का प्रश्न उपस्थित हो जाता किन्तु विरही शृंगार के ऐसे चित्रण जहां निषेध आवश्यक नहीं होता स्थायी साबित होते हैं क्योंकि ऐसे स्थल में मनुष्यमात्र अपने प्रेम की प्रतिध्वनि सुनता है। मेघदूत में यक्ष और यक्षिणी की स्थिति के साथ संयोग वियोग में हमारा तादात्म्य आज भी हो जाता है और मेघदूत आज भी रूस, भारत, आदि सभी देशों के युवकों की प्रिय रचना हो सकती है।

आज की विषम स्थिति मे शृ गार भय, क्रोध आदि के चित्रण निरपक्ष नहा हा सकन वह भी सच है क्योकि आज का युग प्राचीन युगो की तरह सरल नहा ह सकुल है। प्रदन प्रवत्तिया स अधिक प्रवल साबित हो रह हैं और साहित्य का प्रयोजन "सौदय" की सप्टि न रहकर, "साथकता" की खोज होता जा रहा है। मायक साहित्य म 'मूलमनुष्य" को यथावत रूप मे चित्रित नहा किया जा सकता अपितु परिस्थिति और व्यक्ति क बीच, परिस्थिति और समूह क बीच सकुल और विषम असामजस्य को दूर करने के सदभ म मूलमनुष्य" का चित्रण किया जाता है फन्त एक जटिलप्रक्रिया का प्रयाग होने लगता है और पुराना रससाहित्य" मान प्रवत्तिगत" प्रिमिन्वि" प्रतीत होने लगता है। किन्तु यदि मनुष्य इतिहास को अपन अनुकूल कर लगा ता पुन भावा के निरपक्ष चित्रण पसन्द आ सकते हैं, कम से कम सम्भावना तो यह है ही। मनुष्य न जहा तकनीक के क्षेत्र म अभूतपूव सफलता प्राप्त की है अथात बाह्य प्रकृति पर उसने जिस सीमा तक विजय प्राप्त की है उस सीमा तक आतरिक प्रकृति" पर वह विजय प्राप्त नही कर सका इसका स्पष्ट उदाहरण यह ह कि उत्तम सिद्धान्ता और आदर्शों का वह काय रूप म परिणत करत समय अपन लाभ लोभ आदि असगतियाम विकृत कर देता ह। चाना साम्यवाद म मावसवाद का परिणिति के पीछे चीनी साम्यवादिया की मानवीय कमजारियाँ मिथ्याहकार अधराष्टवाद, इस से ईर्ष्या आदि तथ्य प्रमाण हैं किन्तु यदि कभी मनुष्य आतरिक प्रकृति पर भी विजय पा सका ता वह सामान्यमानव क रागविराग के चित्रण को पुन प्रिय मानगा ही यो वह उच्चतर धरातल पर ही सम्भव होगा। आल्डुअस हक्सले का यह कथन कि भविष्य म 'सकुल सरलता" का विकास होगा, सही लगता है। आज सकुलता और जटिलता का युग है कल इस जटिलता से आदमी ऊब भी सकता है, आज ऊब से प्रेम है कल इस ऊब और उदासी पर वह विजय भी प्राप्त कर सकता है और पुन वह प्राचीन आनन्द का अनुसधान कर सकता है। आज क इतिहास का यह मानवीय क्षण" आज के इतिहास स अनुकूल है, कल इतिहास म परिवतन होन पर मानवीय क्षण" भी बदल जायगा। निषेधपरक प्रवत्तियों की प्रवलता का अथ है कि भावात्मक प्रवत्तियाँ (po itive Tendencies) अवसर मिलते ही पुन प्रवल होगी। मनुष्य के व्यक्तिगत मन म जिस प्रकार परिस्थिति क अनुरूप भाव-अभाव का सघष चलता है इतिहास क मन म भी यही प्रवत्ति चलती है।

साहित्य और कला म सावभौमिक और सावकालिक तत्व का एक अन्य रूप भा है। "मनुष्य मरणशील हैं" यह एक सावकालिक वज्ञानिक सत्य

है। प्राचीन साहित्य में मनीषियों ने मनुष्य जीवन का अध्ययन करके "सामान्य मनुष्य" के विषय में सार्वकालिक धारणाओं को पकड़ने का प्रयत्न किया है। सत्य क्या है, असत्य क्या है, धर्म क्या है, अधर्म क्या है इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देने के लिए महाभारत ने अनेक परिस्थितियों में मनुष्य को रखकर समाधान देने का प्रयत्न किया है और अंत में कोई उत्तर नहीं मिलता। सार्वकालिक तत्व यों उभर कर सामने आता है मनुष्य की जिजीविषा इतनी प्रबल है कि वह बार बार निराश होकर भी निराश नहीं होता, वह एक अनवरत यात्रा में संलग्न है।" इसी प्रकार मनुष्य के सामान्य स्वरूप के विषय में प्राचीन काव्यों और कलाओं में उपयोगी धारणाएँ मिलती हैं शेक्सपियर महान इसलिए है कि उसमें मनुष्य के सामान्य रूप' पर गहरा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार पशुओं स्त्रियों बालकों शासकों शासितों, पंडितों मूर्खों वीरों कायरों दुराचारियों, सच्चरित्रों आदि के विषय में सामान्य निष्कर्ष अनेक प्रयोगों को देखकर प्राप्त निष्कर्ष हैं जिन्हें आधुनिक मनोविज्ञान भी स्वीकार करता है। मानव व्यवहार के विषय में प्राचीनों की अंतर्दृष्टि बड़ी गहरी थी यह तत्व भी प्राचीन साहित्य को सार्वकालिक स्पर्श देता है। जब हम पढ़ते हैं कि हम एक दूसरे की मृत्यु पर जीते हैं और एक दूसरे के जीवन को मारते हैं तो एक सामान्य मानवीय सत्य के दर्शन करते हैं, नवीनों में भी ऐसे सामान्य सत्य कम नहीं हैं अतः कला और साहित्य का यह आयाम भी उसे स्थायित्व देता है।

साहित्य और जीवन दोनों अस्थायी और स्थायी समसामयिक और 'शाश्वत" तत्वों की संगति का नाम है। महान साहित्य वही है जिसमें इन दोनों तत्वों का द्वंद्व 'शक्ति' या तरह समन्वय हो। प्रायः समसामयिकता की खोज में स्थायी तत्व स्वयं प्राप्त हो जाते हैं और जैसाकि प्रायः होता है कि स्थायी तत्वों को सीधा अंकित करने पर समसामयिक युग उनमें झलकने लगता है जैसाकि ऐतिहासिक रचनाओं में देखा जाता है। इसका कारण है मनुष्य के मन की द्वंद्वात्मक स्थिति, जिसमें दोनों तत्व साथ चलते हैं अतः साहित्य में युगसापेक्ष जन तत्वों का अनुसंधान करते समय स्थायी तत्वों का अनुसंधान द्वंद्वात्मक सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं जाता क्योंकि अस्थायी और स्थायी तत्व एक ही वास्तविकता के दो पहलू हैं।।

प्रतिभा

भारतीय आगम शास्त्रों में शरीर के प्रत्येक अणु-परमाणु को शक्ति का एक-एक स्वतन्त्र स्रोत माना जाता है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त शक्ति सूक्ष्म रूप धारण कर हमारे शरीर में अवस्थित होती है। शक्ति से युक्त होने से प्रत्येक शरीर शक्तिमान है। निम्न कोटि के जीवों में भी यह शक्ति रहती है परन्तु वे उस शक्ति का विकास नहीं कर सकते किन्तु मनुष्य में आकर शक्ति, उसके प्रति उन्मुख होने ही स्फुरित होने लगती है और तब व्यक्ति शक्तिमान बन जाता है, स्फुरण की विभिन्न विधियों को ही विभिन्न शिक्षा प्रणालियों के नाम से अभिहित किया जाता है। जो आपसे लेख लिखने के लिए कहता है वह लेख लिखने की प्रसुप्त शक्ति को स्फुरित करने में सहायता देता है यदि आप लिखने के लिए प्रयत्नशील हों। अतः व्यक्ति को शक्ति रहित मानकर चलना सैद्धान्तिक दृष्टि से गलत है। शक्ति का स्फुरण कभी तो स्वतः या कभी किंचित् प्रयत्न से अथवा कभी अनवरत और दीर्घ प्रयत्न से करना पड़ता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति वह है जिसकी शक्ति किंचित् प्रयत्न से ही स्फुरित हो जाय। परन्तु ऐसे व्यक्ति कम हैं शायद बहुत कम। अतः दूसरा उपाय है शक्ति का स्फुरण प्रयत्न। शिक्षा के द्वारा ही यह सम्भव है और शिक्षा वस्तुतः आत्म प्रयत्न है। शिक्षा आपको शक्ति विकास के लिए प्रेरित कर सकती है बलात् शक्ति का स्फुरण नहीं कराया जा सकता। संसार में शायद ही कोई विचारधारा ऐसी हो जो यह मानने से इन्कार करे कि व्यक्ति में अन्तर्निहित शक्तियाँ अवश्य होती हैं केवल हमारा काम उनका विकास करना भर है। तब प्रतिभा का अर्थ क्या है ?

यदि प्रतिभा का अर्थ प्रसुप्त अवस्थित शक्ति (Potentiality) से लें तब सभी प्रतिभावान् हैं और यदि प्रतिभावान से अर्थ लें कि किंचित प्रयत्न से ही शक्तियाँ विकसित हो जायें तो इसका अर्थ है कि प्रयत्न करने पर शक्तियाँ विकसित हो ही सकती हैं। तब प्रयत्न में कृपणता क्यों हो ? अतः आज जो "प्रतिभा" (Talent) को प्रदर्शन की वस्तु बना कर दूसरों को आतंकित किया जाता है वह एक समष्टिगत अन्याय है। ऐसे आतंक से आप दूसरे के हृदय में यह भाव पैदा करना चाहते हैं कि आपके अतिरिक्त

प्रसुप्त, अस्थित शक्ति (Po entiality) किसी म है ही नहा और प्रयत्न क तो आप स्वय शत्रु है ही। औरो स भी ये लोग कहत हैं कि प्रयत्न स कुछ नही होता सब स्वत होता है। और तारीफ यह है कि आप अपन को प्रगतिशील भी मानत हैं क्योकि आस्तिक दशनो का विश्वास यह है कि शक्ति का स्फुरण प्रयत्न से भी होता है और शिव की कृपा स अकस्मात भी होता है। इसे 'शक्तिपात' का सिद्धान्त कहत है। अब आप 'शक्तिपात' स तो प्रयत्न और प्रतिभा का विश्वास कर नही सकते जो करते है वे ही अधिक सुखी है। अत आपको प्रयत्न और प्रतिभा स अविच्छिन्न सम्बन्ध मानना ही होगा।

प्रतिभा की जागृति के लिए सयम की सर्वाधिक आवश्यकता है। किञ्चित सफलता से ही मदोन्मत्त होकर अपनी रचना को सवश्रेष्ठ सिद्ध कराने के हथकण्डे प्रयोग करना प्रतिभा की निशानी नहीं जडता की निशानी हैं। इस सिद्धान्त से जो अपनी यश प्राप्ति के लिए जघन्यता पर उतर आते हैं आत्म विज्ञापन आपाधापी व उखाड पछाड करते हैं वे देश द्रोही जनद्रोही नहा वस्तुत आत्मद्रोही है क्योकि विज्ञप्तिवादी कभी भी आत्म सस्कार मे सयम नही रख पाता। वह उस अधय का प्रदशन करता है जिसम कोई कलाकार मूर्ति का एक सुदर हाथ बनाकर बाजार म चिल्लाता फिरता है कि देखो! यह मूर्ति कितनी सुदर है। जब तक अ तर स्थित शक्तियों का—रचनात्मक या समीक्षात्मक पूण विकास नही होता तब तक लेखक की मूर्ति (उसका व्यक्तित्व) अधूरी है वह महान सम्मान का पात्र नहा है। और जब वह स्वय वस्तुत आश्वस्त हो जाता है कि उसकी मूर्ति पूण हो गई है उसकी शक्ति का अनन्त स्रोत प्रवहमान हो गया है तो वह स्वय स तुष्ट होकर ऐसे आनन्द को प्राप्त करता है कि उसे किसी प्रकार के विज्ञापन की आवश्यकता नही रहती।

आकाश और रचयिता के चित्त की स्थिति एकसी होती है। आकाश तब तक निमल नहा होता जब तक उसम मेघखण्ड इधर उधर उड़ते रहते हैं किन्तु जब आकाश उन्हें अपरिमित विस्तार व घनता देकर बरसाता है तो मेघ लुप्त हो जाते हैं। कूची गिर पडती है लेखनी विश्रान्त हो जाती है और आकाश के समान रचयिता का चित्त शान्त और निमल हो जाता है। अभिव्यक्त हो जान पर शक्ति की योग्य मानने होने पर शक्तिमान को फिर और क्या चाहिए? साहित्य म यह महान उपलब्धि इसीलिए नही होती क्योकि स्रष्टा म असयम रहता है और असयम स चित्त का विकल्प उस चैन नहीं लेने देता तब स्रष्टा इधर-उधर के झूठे उपायों म प्रचार म पुरस्कारों म निमन्त्रणों आदि म अपन चित्त को शान्त करना चाहता है—जो असम्भव है

क्योंकि आनन्द तो पूर्णता में है अपूर्णता में आनन्द की जगह प्रमोद व रञ्जन मिल सकता है परन्तु साहित्य को मनोरंजन मात्र कहीं भी नहीं माना गया। अतः प्रतिभा की समस्या के साथ शक्ति-विकास का प्रश्न लगा हुआ है।

आपको आश्चर्य होगा कि बिना ब्रह्म के जगत के विस्तार व जीवन के सभी अनुभवों की व्याख्या कर सकने का विश्वास करने वाले बहुत से लेखकों का मत उक्त मत से मिल जाता है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं, मात्र बात को कहने के ढङ्ग में अन्तर है। भारतीय बिना एक चेतन-बिन्दु के कुछ भी नहीं समझ पाते क्योंकि सम्मान का कार्य स्वयं एक चेतन करता है जबकि ईश्वर के बिना भी काम चलाने वाले विचारक चेतना को विकास का परिणाम बताकर पुनः उस चेतना से वही कार्य लेते हैं जैसे हम सत्य की व्याख्या करते हैं। एन्टन चेखव ने एक जगह लिखा है—

'Do you know what talent is ? It is courage, an independent mind, wide range फिर आगे चेखव कहते हैं कि—"He has great talent, but no knowledge of life whatever, and where there is no knowledge there can be no courage" इस प्रकार चेखव के अनुसार प्रतिभा जीवन के ज्ञान का नाम है स्वतन्त्र होकर सोचने का नाम प्रतिभा है। अतः प्रतिभा का अस्तित्व ही आवश्यक नहीं उस धार पर रखना भी आवश्यक है अन्यथा जो बीज उगता नहीं फल फूल नहीं देता वह वृक्ष कैसे कहलायगा ? लोग सामर्थ्य व उपलब्धि में अन्तर या तो जानते नहीं या दोनों को मिलाकर एक मान लेते हैं। यह व्यक्ति बहुत योग्य है यह अमुक कार्य कर सकता है" परन्तु शक्ति की विद्यमानता तो विशेष बात नहीं उसका फल सम्मुख आना चाहिए और वह भी परिपक्व फल। हिन्दी के बहुत से प्रतिभाशाली लेखक शीघ्र ही महान बन जाने के प्रयत्न में, पाल के फल बनकर भी पके फल के भाव बिकना चाहते हैं, परन्तु यह सम्भव कैसे हो सकता है ?

चेखव ने बार बार कहा है कि काम करो, काम ही प्रतिभा है। संस्कृति का आधार कार्य है वही शक्ति का परिणाम है, परिणाम को देखकर ही शक्ति का निर्णय होता है। कार्य मत करो, या रद्दी कार्य करो परन्तु हमें महान् स्रष्टा मान लो" यह माँग गलत है। चेखव ने लिखा है कि प्रतिभा स्वतन्त्रता का नाम है। किससे स्वतन्त्रता ? पाशविक इच्छाओं से।

† A P-Chekhov, Vladimir yeormilov (Page 160-161)

"Talent is freedom freedom from passions' (वही पृष्ठ १६१) । गोर्की ने चेखव के विषय में जो लिखा है यह हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है और वह भी आज के इस सर्वान्त युग में जहाँ काम के स्थान पर आरम विज्ञापन को ही रचनात्मक व सांस्कृतिक प्रयत्न माना जा रहा है। गोर्की ने चेखव के विषय में लिखा है—

'I never met anyone who feel the significance of work as the basis of culture so profoundly and thoroughly as Anton Pavlovich" (पृष्ठ–१६१)

अर्थात्, मुझे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो ए०पी० चेखव के समान इतनी गहराई व पूर्णता के साथ काम के महत्व को संस्कृति का आधार समझता हो। चेखव रात दिन काम करता था उसके अनुसार लेखक बिना काम के जीवित नहीं रह सकता। साथ ही इस काम में जितना ही असन्तोष होगा उतना ही काम अच्छा होगा।

Dissatisfaction with the oneself is one of the funudamental qualities of every true talent प्रतिभा एक उत्तरदायित्व को अनुभव करती है उसका स्रष्टा होने के नाते एवं निश्चित कर्त्तव्य है उसे पूरा न करने पर और प्रशंसा न पाने पर, जब लेखक पुरानी पीढ़ी व नवीन पीढ़ी में जन्मजात वर मानकर अनाप शनाप प्रलाप करते हैं तो चेखव का स्मरण हो आता है। आज के हिन्दी लेखक को अपनी रचनाओं से कुछ भी असन्तोष है, ऐसा कभी न सुनने में आया न पढ़ने में। प्रतिभा अहं नहीं है वह सदा इस ओर ध्यान देता है कि किधर से क्या कमी है पर हमारे यहाँ लोग 'जो नहीं है" उसका भी डङ्का पीटते फिरते हैं अनवरत काय की शाण पर वे रचनात्मक शक्तियों को तेज नहीं करते। पुस्तकों की संख्या की चिन्ता अधिक है उनके गुण की चिन्ता नहीं, यह खेद का विषय है।

गेटे ने लिखा है कि वही व्यक्ति प्रतिभाशाली कहा जा सकता है जो प्रतिभा के लिए प्रत्येक दिन लड़ता है। परन्तु हमारे वीर वाक् वीर अपने नाम को शीर्ष पर देखने के लिए अक्षौहिणी सजा रहे हैं भारती के सपूत महाभारत' मचा रहे हैं।

आप समझते हैं कि फल के लिए प्रचार आवश्यक है। परन्तु आप तुलसी सूर व प्रसाद के विरुद्ध प्रचार कीजिये और परिणाम देखिये। प्रेमचन्द में सच्ची प्रतिभा थी, उनका काय गवाह है, अतः उनको इस ढंग की जनता

न कौन-सा आसन दिया है। हजारी प्रसाद द्विवेदी और महादेवी ने काय किया है, अत उनका महत्व 'हिन्दी के आदिकाल" सूर साहित्य, कबीर तथा नाथसम्प्रदाय, नीरजा, दीपशिखा आदि पर स्थिर हो चुका है। आप चाहते हैं कि भारतीय जनता सस्त प्रचार मे वह परन्तु इस देश मे यही तो वचित्रय है कि वह कृतघ्न नही है। इसे आप क्या कोई भी कभी कृतघ्न बना पाएगा, यह असम्भव है। क्योंकि यह देश सहस्र वर्षों के अनेक नात अनात स्रष्टाओं को श्रद्धा देना जानता है परन्तु इसकी श्रद्धा गम्भीर है, वह जल्दी नहीं मिलती। आप खूब दलबन्दी कीजिये, भारतीय जनता चुपचाप अलग रहेगी। आप कुछ दीजिये और मौन हो जाइए आपका नाम ले लेकर यह जनता युगा-युगो तक चिल्लाती रहगी, आपको ईश्वर तक बना देगी, आपकी मूर्तियाँ बनाएगी, आपके नाम व्रत, पूजा कराएगी। यदि आप काठ की हाडी एक बार चढाना चाहें, शौक से चढाइए परन्तु इस देश म आपकी पहचान हो चुकने पर आप कुछ भी कहिए कोइ न सुनेगा। यह देश धीरे धीरे विश्वास करता है, आपके काय को देखता है केवल सम्भावना को नही। अत आप चुपचाप काय कीजिये। जिनको सम्मान मिल गया है, मिलने दीजिये, ईर्ष्या से पेच मत खाइए। ईर्ष्यालुओं पर नही, दयालुओं पर यह जनता दया करती है। अह के साथ आप कुछ भी दीजिये, इस देश की जनता मौन रहेगी। रावण विद्वान था, क्या हुआ? अत मौन गम्भीर साधना के परिणाम पर रीझने वाले देश म भी यदि आप भूकम्प बन कर आएँगे तो अस्तव्यस्तता से आप को क्या मिलेगा? यदि प्रतिभा है तो काय द्वारा जनता को प्रभावित कीजिये, मित्रों द्वारा प्रशसा कब तक चलेगी?

साहित्य में सौन्दर्य

कला म रागात्मक सूत्र की सत्ता अनिवाय है कल्पना और बुद्धितत्व अपने स्वतन्त्र रूप म उच्चतम कोटि की सृष्टि म असमर्थ है। कला विश्लेषण के लिए प्राचीन ध्वनिवाद को ध्वनन व्यापार के रूप मे समझना चाहिए और रसवाद के प्राचीन रूप को यथावत स्वीकार न कर उसमे परिवतन वाछनीय है कि जहाँ रसवान कलाकार से भिन्न इतर विषयो को ही काव्य का विषय बनाने पर जोर देता है वहाँ कलाकार अपनी सामान्य मानसिक स्थितिया और बौद्धिकता की व्यञ्जना भी कर सकता है।

मान्यता सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त है 'सौन्दय' का अर्थात रूप का। रूप' की अवहेलना इधर बहुत हुई है। प्रथम तो यह स्वीकाय होना चाहिए कि सौन्दय स्वय मनुष्य की ऐन्द्रिय सवेदना को निश्चित करता है। रग, ध्वनि स्पश आदि का अनुभव करने वाली वत्तियो को सूक्ष्म और सुरुचिपूण बनाना रूप का काय है।

मनुष्य उपयोगिता व सौन्दय दोनो के लिए प्रयत्न करता आया है। पशु भी सौन्दय से मुग्ध हो जाते हैं परन्तु मनुष्य ने तो सस्कृति मे सुरुचि' को अधिकाधिक स्थान दिया है। अत रूपो की सष्टि स्वत जन-कल्याण के विरुद्ध नही जाती। कुत्सित व्यक्ति सौन्दय को तटस्थ दृष्टि से देख ही नही सकता। सौन्दय के सजन को कुत्सित ऐन्द्रिय ज्ञान के विरुद्ध जिहाद समझना चाहिए। सौन्दय और जन-कल्याण म विरोध नही है। यह ठीक है कि गुणो का सौन्दय भी होता है परन्तु उसका विचार रागतत्व म होता है यहाँ केवल बाह्य रग रूप, आकार ध्वनि आदि के सौन्दय से अभिप्राय है।

सौन्दय का दूसरा रूप, उपकरण को विशेष प्रकार प्रस्तुत करने म दिखाई पडता है। साहित्य के उपकरण हैं—बुद्धि, राग, कल्पना, शब्द व अथ।

सन्तुलन सगति सामञ्जस्य आदि नियमा को ध्यान मे रखन से इन्हें विनेष आकपक रूप दिया जा सकता है। यथा, उपयास काव्यादि मे पात्र, परिस्थिति, का सन्निवेश किस प्रकार होना चाहिए यह प्रश्न विचार का विषय बनता है। कुछ उपयास सुगठित नहा होते उनम वणनो का मनमाना रूप मिलता है। पात्रा की सख्या और उनके उचित विकास पर भी ध्यान नही दिया जाता। नाटकों म सबसे अधिक समस्या हलना उपकरणो के प्रस्तुतीकरण की ही होती है अत शली मे जो आकषण आना चाहिए, वह नही आ पाता। तब लेखक केवल वक्तत्व शक्ति से ही काम चलाता है। पर वाक्शक्ति, विन्यास के अभाव मे प्रलाप-सी लगती है। और वियास का विचार जितना हाना चाहिए उतना आज नही होता। दृष्टिकाण महान होन पर भी लचर कृतियो की भरमार का कारण सौन्दय के सामान्य नियमा की उपक्षा ही है।

उपयु क्त मायताआ को ध्यान मे रखन पर स्वत ही विशिष्ट परन्तु साधारणीकरण मे सक्षम, शली का विकास होगा। यह युग वशिष्टय प्रदशन का है प्रत्येक व्यक्ति किसी भी मूल्य पर मौलिकता का दावा पश कर रहा है अत सन्तुलन का अभाव अनिवाय है। मनुष्य क मन का विज्ञापनवादियो की प्रवत्ति पर किसी भी प्रकार अपनी ओर खीच लेन की प्रवत्ति बढ जान म ही वशिष्ट्य प्रदशन की होड लगती है और सजन का काय "वात्स्यायन" की कला का पयाय बन जाता है। अत वशिष्ट्य प्रदशनवादियो का उपयु क्त तथ्यो पर विचार करना चाहिए। विचित्र क सजन म, सन्तुलन न रहन पर, उपहासास्पद सष्टि हो रही है और यह मान लिया गया है कि साहित्य म रागात्मकता का पर्याय है चित्तवत्तियो का स्वतन्त्र प्रवाह और तटस्थता का अथ है एक विशेष रुचि क पाठका के लिए साहित्य सजन। सामयिकता व शाश्वतता म उच्चकोटि का कलाकार अन्तर केवल इस दृष्टि स मानता है कि वह सस्त प्रचार को महत्व नही देता किन्तु सामयिकता को शाश्वत बना दना ही वह मुख्य काय समझता है। युग सत्य से बचकर उसे न समझ कर, साहित्य की सष्टि नही हो सकती और न साहित्य म प्राचीन सिद्धान्तो के विपरीत चला जा सकता है इसलिए नही कि वे प्राचीन है अत आदरणीय है अपितु इसलिए कि उनमे तथ्य है, वविचारपूण हैं अपनी परिस्थिति म उन्हे हम किस रूप म स्वीकार करें, कसे उनका पुननवीकरण करें यही हमारा काय है।

रस और राग की समस्या को सुलझाकर हम साहित्य-सष्टि म बुद्धितत्व पर विचार करना चाहते हैं। प्रश्न यह है कि क्या सत्य कला

के लिए आवश्यक है, सत्य का कौन-सा रूप कला म व्यक्त होता है और किस पद्धति पर, इस सम्बन्ध म भी अनेक सिद्धान्त हैं। यूनानी विचारको ने 'सम्भावित सत्य' की अभिव्यक्ति पर जोर दिया था। कला म चित्रित परिस्थिति पूर्णतया वास्तविक हो, यह आवश्यक नहीं। परन्तु यह सम्भावित सत्य का सिद्धान्त कला की प्रक्रिया स सम्बन्धित है। अत इसे हम यहाँ छोड़ सकते हैं। मुख्य प्रश्न यह है कि क्या कला किसी 'सत्य' को प्रेषणीय बनाती ही है? क्या उसके बिना कला का काय नहीं चल सकता? उत्तर है कि बुद्धि तत्व का दो प्रकार स कला म प्रयोग होता है, एक—सजनक्षणों म एक प्रकार की बौद्धिक जागरूकता के बिना, अभिव्यक्ति पागल का प्रलाप बन जाती है बुद्धि अभिव्यक्ति की सफलता का निणय देती चलती है, वह उक्ति मे मूर्तित विचार (आइडिया) या रूप की साथकता और निर्वाह के लिए भी कलाकार को प्रेरित करती है। बुद्धि तत्व का दूसरा रूप सष्टि के उद्देश्य से सम्बन्धित है। अन्तत कलाकार क्या कहना चाहता है उसका सदेश क्या है मात्र रूप चित्रण तो सवदा सम्भव नहीं अत साहित्य मे सत्य या सन्देश पर विचार करना पड़ता है। यहाँ सत्य के इसी रूप पर विचार करना है।

दाशनिक के लिए सत्य निरपेक्ष है परन्तु मनोरजक तथ्य यह है कि यह निरपेक्ष सत्य भी युगानुरूप परिवर्तित होता है। उपनिषद् युग म एक वग सत्य को निरपेक्ष मानता था परन्तु शङ्कर क निरपेक्ष सत्य पर युग का प्रभाव स्पष्ट है। वही निरपेक्ष सत्य अरविन्द दशन म दूसरे रूप म स्वीकृत है। अतः युग का प्रभाव थोडा बहुत विचार और कल्पना पर अवश्य पडता है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि भले ही निरपेक्ष सत्य की कल्पना पर युगानुरूप प्रभाव हो, परन्तु जड जगत के पीछे चेतनसत्ता की कल्पना के सम्बन्ध मे तो कही भी भ्रान्ति नही दिखाई पडती? इसका उत्तर यह है कि काय-कारण के सिद्धान्त स मनुष्य जब सष्टि के पीछे किसी चेतन सत्ता की कल्पना करता है, तब एक तो इस सहज विश्वास के अनुसार कि अन्तत योजनाबद्ध जगत के पीछे कोई नियामक होना ही चाहिए दूसरे मनुष्य म इतना धय नही है कि वह तब तक प्रतीक्षा कर, जब तक विज्ञान द्वारा किसी चेतना तत्व की सत्ता सिद्ध या असिद्ध न हो जाय। तीसरे वह यह भी नही सोच पाता कि निरपेक्षसत्य का विश्वास केवल परम्परागत सस्कार है और सारे दाशनिक उसे प्रथम स्वीकार करके ही आगे बढ़ते हैं। परीक्षा क बाद प्रतीति म व विश्वास नहीं करते। अत निरपेक्ष सत्य म केवल सस्कारी मन विश्वास ही नहीं करता वह उसे प्रसन्न करन क लिए तरह-तरह के प्रयत्न भी करता है यही धम है।

प्राचीन युगा से लेकर वनानिक युग के पूव तक मनुष्य के ये दार्शनिक स्वाम व धार्मिक भावनाएँ उसको एक विशिष्ट प्रकार की सृष्टि करने मे रक रही हैं। मध्य युग की सारी कलाएँ धार्मिक भावनाओं की अभिव्यक्तियाँ । हमार यहा दार्शनिको न ही काव्य कला पर भी विचार किया है । अत ला का आन भी उसी निरपेक्ष सत्य से प्राप्त आनन्द का ही सहोदर स्वीकृत आ है। वाल्मीकि से लेकर छायावाद तक दशन या धम के सत्य कला द्वारा यक्त होन रह हैं । यहा तक कि रीतिकाल म भी लौकिक वासना का भी वणन उसी सत्य' क नाम पर किया गया ह। यह सत्य' चूँकि नाना रूपो मे अवतरित होता है अत उसकी विभिन्न छवियो, मुद्राओ घटनाओ का चित्रण कला का प्रिय विषय रहा है। जो अवतारवादी नही हैं, वे मानवीय प्रेम भावना को भी उसी सत्य से जोड कर रहस्यवाद का वणन करत हैं। जो अवतारवादी हैं उनके लिये तो जस कम रूप और विचारो के लिये विपुल क्षेत्र मिल गया है। इस अचिन्त्यसत्ता क माध्यम क सारे जीवन को अभिव्यक्त किया गया है। अत यह अचिन्त्यसत्ता जहा एक ओर पलायनवाद अन्ध विश्वास, भाग्यवाद तथा सम्प्रदायवाद को दृढ करने मे मुख्य कारण है वही इसी के माध्यम से कलाकारों न अद्भुत रूप सृष्टि की है, अनक मानवीय सत्यो का उद्घाटन किया है जनता को अनक बार इसी सत्ता के नाम पर क्रान्ति के पथ पर लाकर खडा कर दिया है समाज विरोधी तत्वो व कुरीतियों का विरोध किया है, एक शब्द मे अचिन्त्य सत्ता अपने युग की क्रान्ति का भी माध्यम रही है । अत प्राचीन व मध्ययुगीन कला को ओर कलाओं म ईश्वर और निरपेक्ष ब्रह्म के इन दोनो रूपो को हम समझना चाहिए। हिन्दी के भक्तियुग म ये दोनो रूप पूणत स्पष्ट रूप स देख जा सकत हैं। छायावाद म भी सामाजिक चेतना को माध्यम म इसी 'अचिन्त्यसत्ता' का सहारा लिया गया था।

छायावाद के बाद वज्ञानिक चिन्तन स्पष्ट होता जा रहा है । विज्ञान और समाजदशन न अचिन्त्य सत्ता को जगत का मूल कारण न मानकर उसे मनुष्य की कल्पना सिद्ध कर दिया है और शोषक-शासन की स्थिति मे दृश्यमान सत्यो का अस्वीकार कर मनुष्य को यथाथ सामाजिक समस्याओं की ओर उन्मुख कर दिया है। सामाजिक समस्याओं का समाधान व वयक्तिक चेतना की शिक्षा साहित्य का मुख्य विषय बनता जा रहा है अत समस्याओ को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई जिसे यथाथवाद कहा जाता है। 'यथाथवाद' क पीछे मनुष्य को अधिक बुद्धिमान बनान का प्रयत्न है । कल्पना क पीछे न दौड कर इसी जगत का सोचन, समझन और इसे

अधिक समृद्ध और सुखी बनाने का प्रयत्न ही यथार्थवाद का उद्देश्य है। अत आज के आत्मामार्गी रूप आज पसन्द नहीं किये जाते न व्यक्तिक वक्रियों का चित्रण आज आवश्यक माना जाता है।

अत आज के कलाकार के सम्मुख यह स्पष्ट होना चाहिए कि आज का युग सत्य क्या है ? आज कोई भी रचना केवल सौन्दर्य शास्त्रीय नियमों का पालन करके उच्चकोटि की कलाकृति नहीं बन सकती क्योंकि सौंदर्य का सम्बन्ध रूप और तथा वस्तु से होता है। रूप विन्यास के बिना जैसे वस्तु कला की सत्ता नहीं पा सकती वैसे ही वस्तु या सत्य की पहचान के बिना विन्यास आत्मा रहित शरीर के समान रह जाता है वह प्रभावित नहीं करता। अत जब हम कहते हैं कि कला की आत्मा भाव है व्यापार कल्पना है तब प्रश्न होता है कि केवल प्रकृति के सुन्दर दृश्यों का ही वर्णन क्यों न करें परन्तु जैसा कहा कि मात्र रूप-दर्शन अपर्याप्त है (यद्यपि वह भी आवश्यक है क्योंकि उससे ऐन्द्रिय जगत समृद्ध होता है) तब प्रश्न होता है कि अतत वह कौन सा युग सत्य है जो उपेक्षणीय नहीं है। हमने देखा है कि मध्ययुग की तरह निरपेक्षसत्य कला का विषय बन कर मध्ययुग की पुनरावृत्ति करेगा और हम कबीर व तुलसी की तरह ब्रह्म से अपील करके सफल हो भी नहीं सकते अत आज कलाकार के लिये समाज का अध्ययन अनिवार्य सा हो गया है। समाज को तभी प्रभावित किया जा सकता है जब कलाकार समाज के अतमन को समझता हो उसकी आवश्यकताओं से परिचित हो।

नग्न रमणीय रूपों के सृजन और प्रेमगीतों का बहिष्कार हम नहीं चाहते साथ ही हम कलाकारों का सामाजिक वास्तविकता से प्रति परिचित होना अनिवार्य मानते है। अपने देश में स्वतन्त्रता के पश्चात निर्माण का प्रश्न है परन्तु निर्माण के पूर्व निर्धारित लक्ष्य होना चाहिए। फिर निर्माण कृत्रिम सतही और रफ रफ कर भी हो सकता है। अत जनता के असन्तोष को उसकी आशा आकांक्षाओं को भी व्यक्त करने की आवश्यकता है। निर्माण के लक्ष्य के रूप में कल्याणकारी राज्य की घोषणा हो चुकी है परन्तु वर्ग विहीन राज्य की स्थापना बिना वर्ग सम्बन्धों को समझे हुए हो नहीं सकती क्योंकि कुछ वर्ग प्रतिगामी और कुछ प्रगतिकामी होते हैं। फिर प्रतिगामी वर्ग को या तो क्रान्ति के द्वारा नष्ट कर दिया जाय अथवा उस पर दबाव की दिन प्रति दिन वृद्धि होती जाय। इसके लिये भी साहित्य को सचेष्ट होना पड़ेगा। जन कल्याण के लिये जनता की इन सच्ची समस्याओं का चित्रण अनिवार्य है। परन्तु हमारे कवि शाश्वत मूल्यों की आराधना में तत्पर हैं उपन्यासकारों में कितने ही लेखक मानवीय दुर्बलताओं को उत्तेजित करने में ही आनन्द पाते हैं

और यौन समस्याओ का सुल्भान मे ही ध्यानावस्थित रहते हैं । वे सक्त क्रान्ति का क्रान्ति मानते हैं । उनकी समझ म नही आता कि यौन समस्या भी समाज की मुख्य समस्याओ के साथ सम्बद्ध है । समाज मे परिवर्तन मुख्य बात है, उसके बिना सारे परिवर्तन मात्र सुधार हैं, सच्ची क्रान्ति नही । आर्थिक ढाचे का बदलना म जनता की चेतना को बदलने की आवश्यकता है । और साहित्यकार जनता की चेतना को यह मोड सहज ही दे सकता है । परन्तु हमारे कई कवि यौन" वजनाओ से पीडित होकर पगु मुद्रा म अपने रुग्ण चित्त के मच पर आने वाली भ्रमित मनोवृत्तियो के अभिनय को मूर्त करने मे तत्पर हैं । वह यथार्थ नही है जो दिशा निर्देश नही करता । यदि मानवीय चेतना आर्थिक अभाव व यौनवजनाओ से पीडित होकर साहित्य मे प्रकट होना चाहती है तो क्या यह आवश्यक नही है कि उनके कारणो का पता लगाया जाय और असामाजिक तत्वो के विरुद्ध सगठित प्रयत्न किया जाय ।

'युग-सत्य' का प्रश्न उपेक्षणीय नही है । 'सामयिकता से बचो" यह नारा दो कारणो से सामने आया एक—उन प्रगतिशील लेखको की रचनाओ के कारण जो साहित्य को विज्ञापन के स्तर पर उतार लाए और जिनके समभवत न सौन्दर्य शास्त्र के सामान्य नियमो की, अवहेलना की वे युग सत्य को समझ कर भी उसे सुन्दर नही बना पाये अन्यथा उसकी प्रतिक्रिया मे प्रतिगामी शक्तियो को यह कहने का अवसर न मिलता कि प्रगतिवाद मर गया है । दो—'शाश्वतवाद' के प्रचारक या तो प्राचीनतावादी हैं जिनका दृष्टिकोण गतानुगतिक है या घोर प्रतिक्रियावादी है । वस्तुत इन प्रतिगामियों ने ही 'शाश्वतवाद' का प्रचार अत्यधिक किया है । आज सभी देश भक्त शक्तियो के सगठन और "युग सत्य" पर विचार करने की सबसे अधिक आवश्यकता है । 'युग सत्य" म इन तत्वो की स्वीकृति चाहिए—

१—जगत और जीवन के सम्बन्ध म अवनानिक मान्यताओ का विरोध ।

२—वर्गभ्यहीन समाज की स्थापना के लिये मानम सम्बन्धो का अध्ययन ।

३—[illegible] के निर्माण म सहायता ।

४—प्राचीन सस्कृति व सिद्धान्तो का पुनर्नवीकरण ।

५—दृष्टिकोण को अधिकाधिक मानवीय बनाने का प्रयत्न ।

६—समाज की वस्तु स्थिति का चित्रण तथा अन्तर्विरोधो का उद्घाटन ।

—जन कल्याणकारी शक्तियो के सगठन व क्रियाशीलता की आवश्यकता ।

परम्परा के जीवित रूप

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात पश्चिमी योरोप म 'आदश भग' और स्वप्नभग की स्थिति उत्पन्न हुई, द्वितीय विश्वयुद्ध ने उसे अधिक व्यापक बनाया अत पश्चिमी योरोप म इस प्रकार के ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जिनमे पश्चिमी सभ्यता के पतन', ,'अत', 'ह्रास सत्राति, 'अवनति, 'मृत्यु' की चर्चा अधिक मिलती है।[1] इनम स्पगुल्र का पश्चिम का ह्रास'[2] इस उक्त प्रवत्ति का प्रतिनिधि ग्रथ है। स्पगुल्र ने वतमान पश्चिमी सभ्यता के ह्रास की कथा परम्परा के आधार पर कही है और उसने गेट के इस कथन को अपने चितन का प्रेरकतत्व माना है कि परमसत्य जीवित मे अथवा होने' तथा परिवतन' मे प्रभावशाली होता है विगत और स्थिर म नही अतएव मानवीय विवेक होने और जीवित के माध्यम से ही पूणता की ओर उन्मुख होता है और इस क्रिया म विगत और स्थिर का वह उपयोग करता है।[3] स्पगुल्र न आधुनिक सभ्यता स दिग्भ्रमित होकर प्राचीन और मध्ययुगीन सभ्यताओ और सस्कृति को मनुष्य का विकास और आधुनिक सभ्यता को ह्रास की स्थिति स्वीकार किया है परम्पराप्रियता का यह विस्मयजनक भ्रान्ति है। रोचक तथ्य यह है कि स्पगुलर ने पूव की सभ्यताओ को सम्मोहित दृष्टि से देखा है। साहित्य के क्षेत्र म टी० एस० इलियट योरोप की सत्राति (Waste land) स मुक्ति का उपाय पुरानी ईसाई आस्था' मे पाते हैं वह भारतवष के 'गीता और बौद्धमत की ओर भी ललकभरी दृष्टि से देखते हैं।[4] अस्तित्ववाद काट हीगेल और अन्य नाना व्यवस्थितकर्त्ताओ के

---

1 Ideology and Utopia—Karl Mannheim Preface Louis Wirth London 1963 I Edition

2 Decline of the west Page 13

3 The Godhead is effective in the living and not in the dead in the becoming and the changing not in the become and set fast and therefore similarly the reason is concerned only to strive towords the divine through the becoming and the living and the understanding only to make use of the become and the set fast—The decline of the west Vol I Page 19

4, फोर क्वारटेटस

विरुद्ध या विवेकवाद के विरुद्ध, आतरिक आस्था विश्वास के आधार पर जमा, जिसमे आगे नास्तिक अस्तित्ववादियो ने विवेकवाद और सामूहिकतावादी (मार्क्सवाद) दार्शनिक विचारधाराओ का उग्र विरोध किया। कीर्केगाद ने सत्य को आत्मगत-अभिज्ञा कहा था, अत वस्तुगत और विवेकगत आधार न रहने से 'सत्य' वैयक्तिक विषय बन गया, इससे अनिश्चयात्मक निश्चय वरणज प्रदर्शन, सदेह, मृत्युबोध निरर्थकता बोध और आत्महत्या जैसी घोर कुठाओ और अनुभूतियो ने युद्ध जन्य परिस्थिति मे 'परम्परा' के प्रति निस्सग दृष्टिकोण को असम्भव बना दिया।

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे परम्परा को ऐतिहासिक भौतिकवाद के आधार पर परखा गया। हीगेल के द्वन्द्ववाद को मूर्त स्थितियो के आधार पर प्रतिष्ठित करके मानवीय चेतना को यथार्थ का प्रतिबिम्ब माना गया। अर्थात अमूर्तचिंतन भौतिक शक्तियो का प्रतिबिम्ब प्रमाणित हुआ। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार वर्गहीन समाज मे जिस प्रकार पूजीवादी व्यवस्था का तकनीकीपक्ष तिरस्कृत नही होता उसी प्रकार 'परम्परा' के उपयोगी अश भी स्वीकृत होते हैं अत मार्क्सवाद का परम्परा के प्रति दृष्टिकोण न अतीत पूजक या न निषेधवादी। किन्तु विचार की 'मुक्तता' न मानने, और चिंतन की पृष्ठभूमि मे "उद्देश्यो" (Motives) की ज्ञात या अनजान म स्थिति सिद्ध करने के कारण (जीवशास्त्र, मनोविज्ञान विकासवाद आदि की सहायता से) एवम सामतवादी पूजीवादी सस्कृति धर्म विधि, चिंतन और शोषण परक परिस्थिति मे आधारभूत (Structural) सम्बन्ध स्थापित कर देने के कारण, अधिक परम्परावादी विचारकों के लिये साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था मे मार्क्स द्वारा घोषित 'कल्पित मनोराज्य' (यूटोपिया) की पूर्णता न होने के कारण, पश्चिमी जनतत्रो म मार्क्सवादियो के कथन और कार्यों की असगतियो का वैसा ही पर्दाफाश किया गया जैसाकि मार्क्सवादियो ने पूजीवादी जनतत्रो का किया था (जो आज भी प्रचलित है) अत एशिया, अफ्रीका लातिन अमरीका[1] के देशो म परम्परा सस्कृति, कला व साहित्य के प्रति पश्चिम योरोपीय, अमरीकी या मार्क्सवादी दृष्टियाँ, समानान्तर अथवा मिश्रित रूप म प्रसारित हो रही हैं और परस्पर 'पर्दाफाशीकरण' का व्यापक प्रचार तथा दोनो सभ्यताओ म सामाजिक विज्ञानो और मानवीय विज्ञानो का

---

1 इन देशो म विकासवाद' को भी पूर्ण स्वीकृति नही मिल सकी, प्राचीन मत की प्रधानता ही रही।

पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त न हो। के कारण¹ तथा इस सदी के ऊपर तनाव विश्व युद्ध की भीषण छाया में, परम्परा, संस्कृति, कला और साहित्य पर विचार भी एक संदेहवाद से पीड़ित होता चला जा रहा है और संदेहवाद विनाश का कारण है, यह भारतीय परम्परा में अनुभव किया जाता था। आधुनिक काल में एक उपन्यास में एक पात्र कहता है कि संदेहवाद कभी कल्प नहीं रहा क्योंकि यह अकर्मण्यों को 'सहज' करना सिखाता है।[2]

इस 'संदेहवाद' से जहाँ न्याय-अन्याय-सहानुभूति का हठ विराम होता है वहीं इससे एक लाभ भी यह हुआ कि हम किसी विचार या व्यवस्था को अपनाने के पूर्व अधिक सावधान और सूक्ष्म बने हैं तथा अन्धपरता के स्थान पर तर्कबुद्धिपरकता विकसित होती है।

संदेह युग में परम्परा क्या है उसके मृत और जीवित रूप क्या हैं, यह भी विवादास्पद हो उठता है। किस आधार पर हम इन धारणाओं का विवेचन करें? केवल एक ही विषय वादातीत रहा है कि हम मनुष्य हैं कि हम आत्यंतिक दृष्टि से अनाहमतियों में जो कर भी स्वतः प्रमाणित है कि हमारा व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व है और सभी खतरों उलझनों तथा विभ्रमों के बावजूद मनुष्य की जिजीविषा पर्याप्त प्रबल है[3] जीवन की

---

1 It is virtually impossible for instance even in England and America to inquire in to the actual facts regarding communism, no matter how disinterestedly without running the risk of being labelled a communist these subjects are still for the most part subsumed under what the Japanese call kikenshiso or dangerous thoughts —Preface Ideology and Utopia XVII

2 Scepticism has never been very good one knows for that matter where it leads—to tolerance ! I consider sceptic people without imagination without ideals fools —(The coiners--Andre Gide 354

Unamuno related that when he was young he was shown a picture of hell but did not impress him very much and it seemed to be preferable to complete oblivion and extinction--A History of Philosoply Mayer 597

निरर्थकता, उसके अस्तित्व की प्रयोजनहीनता और ब्रह्माण्ड में मनुष्य की स्थिति की असहायता के तीव्रतम बोधप्राप्तकर्त्ता भी जी रहे हैं, स्वतन्त्रता, प्रतिबद्धता और नवीन मानव मूल्यों के अनुसंधान में रत हैं,[1] यह एक आशाजनक प्रवृत्ति है। काल वडाह में रचित होने पर भी मनुष्य जीना चाहता है, युधिष्ठिर का यह देखकर 'द्वापर (संदेह युग) में जो विस्मय हुआ था, वह मृत्यु बोध पर जीवन प्रियता की विजय की स्वीकृति थी और वह सत्य आज भी जीवन्त सत्य है।

अत जिजीविषा हमारे चिंतन का उद्देश्य और अवलम्ब बन सकती है। जिजीविषा जीवों में परिस्थिति के प्रति अनुकूलीकरण उत्पन्न करती है, और उस मानव-परिस्थिति में ही हम परम्परा से प्रेरणा ले सकते हैं। अत परम्परा के जीवंत रूपों का अध्ययन संदर्भगत (Situational) ही हो सकता है।

मध्ययुगों तक सामाजिक व्यवस्था अधिक परम्परायुक्त रहती है किन्तु तकनीकी विकास के कारण आर्थिक क्षेत्र में औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् 'परम्परा' का वह अंश अस्वीकृत होने लगता है जो पिछड़ी हुई उत्पादन विनिमय व्यवस्था को न्याय संगत सिद्ध करता था किन्तु आर्थिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों में परम्परा की यह समाप्ति समाज विज्ञान और मानव विज्ञान के क्षेत्र में उस सीमा तक नहीं दिखायी पड़ती राजनीति शास्त्र, विधि शास्त्र, सौंदर्य शास्त्र, नीति शास्त्र और मूल्य मीमांसा में प्राक रोमन विचारकों और भारत में वेद उपनिषद् पुराण नागार्जुन, शंकर भरत, कौटिल्य, अभिनवगुप्त आदि का आज भी उपयोग है।

इसका कारण है, मनुष्य द्वारा मनुष्य के सर्वसामान्य, आयामों का निरीक्षण, मानवीय सम्बन्धों के गंभीर अध्ययन में एक सीमा तक तटस्थता निर्वाह

---

1 ज्यां पाल सार्त्र के "अस्तित्ववाद और मानवतावाद", उनामूनो के The tragic sense of life में दायित्वपूर्ण चिंतन और मूल्यों का विकास — We should welcome suffering and anguish, for, through pain we become more conscious of the tragic sense of life and of the limitations of our existence Such suffering develops a spirit of compassion makes all men our brothers and shows us that mere reason is not adequate but that we need faith to sustain our heart .08 वही)

की मानवीय शक्ति और प्राचीन सभ्यताओं में अनेक प्रकार की जीवन स्थितियां और घटनाओं के घटित होने और उनसे जूझकर निखरने वाली मानवीय चेतना की समस्त विकसित अन्तर्दृष्टि तथा घटनाओं की पुनरावृत्ति।[1] प्राचीन सभ्यताओं के पास इसीलिए मानवीय अनुभवों की एक विराट राशि होती है जो भविष्य में भी उपयोगी होती है क्योंकि आर्थिक और तकनीकी मानव "मूलजवीमानव" को एक ही आघात में नहीं बदल सकता। इसके सिवा 'आधुनिक' कहे जाने वाले 'मनुष्य' की चेतना की ऊपरी सतह ही आधुनिक हो पाती है क्योंकि उसका 'अवचेतन' परम्परागत होता है। यह "सामूहिक अवचेतन" शताब्दियों की अवधि में सिंचित और जातिगत चेतना का 'स्थायी अंग बन जाता है और यह उनके लिए सहज' सुरक्षात्मक और निजत्वपूर्ण प्रतीत होता है। इस सामूहिक अवचेतन में पूर्वजों के कृतित्व, आस्थाओं के प्रतीक, सौन्दर्यबोधों के स्वप्न जीवन विधियों और अन्य अनेक प्रकार के आदर्श स्वभावगत हो जाते हैं। निर्माण और संघटन में दल इसी अवचेतनमानस का प्रयोग करते हैं। साम्यवादी देशों में भी साधारण जनता के इस 'सामूहिक अवचेतन' का कुशल प्रयोग किया जाता है और जनतन्त्रों में तो अबौद्धिक वफादारियों और आस्थाओं की रक्षा के लिये विशेष उपाय भी किये जाते हैं यद्यपि उनके बौद्धिक विवेचन और विवेकपूर्ण समीकरण के उपाय भी प्रचलित रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्य के बौद्धिक और अबौद्धिक दोनों स्तरों पर परम्परा दूधशीरवत मिली रहती है। परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्वात्मक संघर्ष, एक दीर्घकालीन संघर्ष और समन्विति बन जाता है।

विज्ञान और उक्त सामूहिक अवचेतन का विरोध इधर आधुनिकता की विशेषता होती जा रही है किन्तु विज्ञान की बहिर्मुखता और मन व चेतना के 'आत्मगत तत्व' में पुनः असंगति उत्पन्न हो जाती है। आत्मगति या अन्तर्मुखता के क्षेत्र में विज्ञान सभी प्रश्नों का पूर्ण समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाता अतएव परम्परा में पूर्वजों की अन्तरावलोकन पद्धति पर प्राप्त अनुभूतियां और अन्तर्दृष्टियाँ संस्कृति के क्षेत्र में पथप्रदर्शक प्रमाणित होती रहती हैं। कभी वे चुनौतियों का रूप धारण करती हैं और कभी समाधान प्राप्ति में सहायक तत्वों

---

१ इतिहास में मूल मानवीय समस्याओं की निरन्तरता के अतिरिक्त घटनाओं की पुनरावृत्ति भी, मात्रात्मक अन्तर के साथ अवश्य होती रहती है। प्रकृति से संघर्ष एक निरन्तर प्रक्रिया है युद्ध, विप्लव विरोध, समीकरण आदि इसके प्रमाण हैं।

का। भारत में तो अभी तक इतिहास के प्राय सभी विगत युग समसामयिक हैं[1]। यहाँ आरण्यक, अटनशील, कबीलाई, सामन्ती व्यवस्थाएँ अभी भी मिलती हैं अत शिक्षित वर्ग के भी एक अति प्रबुद्ध समूह को छोड़कर[2] यहाँ परम्परा का प्रबल दबाव मिलता है, यहाँ तक कि भारतीय संस्कृति के नाम पर, यहाँ प्राय प्रत्येक प्रकार के विश्वास और रीति का समर्थन होता है। इसके सिवा इस देश में ग्रामों का बहुमत है जहाँ भारतीय परम्परा अपने सुकृत विकृत रूपों में प्रतिष्ठित है। ग्राम चेतना परम्परा में सुरक्षा अनुभव करती है और जड़ता की स्थिति में रहकर भी वह अपनी विशिष्टता की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहती है। इतिहास में आक्रमणों के समय जननेताओं ने साधारण जनता की इसी परम्परा प्रियता को उत्तेजित कर अपने आस पास लक्ष्मण रेखा खींचकर सुरक्षा की भावना दृढ़ की है। दसवीं शताब्दी के बाद भारतीय जीवन विधि पर प्रहार होने पर, यह सवर्णता भारतीय संस्कृति के नाम पर बराबर बनी है या संतों, भक्तों के आन्दोलनों ने इसे काफी उदार बनाया है पर वह उदारता साधना और भक्ति तथा कला के क्षेत्र में ही अधिक रही है जाति आचार आस्थाप्रतान तथा रोटी बेटी के क्षेत्र में नहीं अत विज्ञान और मानव न्याय के आन्दोलन अभी चेतना की सतह को ही प्रिय लगने हैं, अगरा, संवेदनाओं और विचारों तक हो के स्वीकाय हो सके हैं, पुराने संस्कार पूर्वाग्रह, पक्षपात, आचार और जातिगत सम्बन्ध अभी तक स्थित हैं, यदि विभिन्न जातियाँ आजादी के बाद अपने में पूर्व से अधिक जाति जागरूक

---

१ Whatever chronology might say Thucydides world and my world had now proved to be philosophically contemporary—Arnold Toynbee—Theories of History

Edited by
P Gardiner
(U S A)

२ साधारण जनता के अनेक समूहों से लम्बाकार (Vertical) गति से बुद्धि जीवियों के आगमन होने पर उन समूहों में प्राप्त 'सामूहिक अवचेतन बुद्धिवादियों का अबौद्धिक संस्कार बनता है जिसका विश्लेषण और विवरण एक शाप और रूप मान्य किया है।

हो गई हैं। भारतवर्ष की इस प्रहेलिकापरक स्थिति को देखकर और एक बार पुन राष्ट्रीय विघटन के भय से अमेरिका के जनतन्त्र प्रेमी भी चिन्तित हैं। "भारत वर्ष की खतरनाक दशाब्दियाँ जैसी अनेक पुस्तकों का यही विषय बन गया है।[1]

अतएव सार्वभौम वैज्ञानिक शिक्षा पूर्ण तकनीकी विकास द्वारा शारीरिक और मानसिक श्रम का अन्तर विनाश तथा मानव न्याय पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के निर्माण के पूर्व, अनवरत रूप से परम्परा की परिस्थिति सापेक्ष पुनर्व्याख्या आवश्यक है। और वस्तु स्थिति यह है कि इसके बाद भी मानव जीवन को सतत जागरूक रखने के लिए साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मूल्य अनुसंधान के लिए परम्परा से जीवन्त रूपों का दोहन करते रहना होगा। सौभाग्यवश इस देश में पुनर्व्याख्या की भी एक जीवन्त परम्परा है। इतिहास पुराण साहित्य, दर्शन और कला ही नहीं धर्म और गृह्य सूत्रों की देशकालानुसार व्याख्याएँ यहाँ स्वीकृत रही हैं। व्यास का स्पष्ट कथन है कि इतिहास-पुराणों से अर्थात् पुनर्व्याख्याओं से अनभिज्ञ व्यक्ति से वेद भयभीत रहते हैं कि कहीं ऐसा अनाड़ी व्यक्ति मुझ पर प्रहार न कर दे।[2] धर्म का यहाँ एक धर्म निरपेक्ष secular) रूप भी है जो जनअभ्युदय और सफल लोक यात्रा से सम्बन्धित रहा है। धर्म का यह रूप स्थूल या व्यवस्था विशेष से सम्बन्धित नहीं है अपितु यह सार्वकालिक धारणा है जिसमें मनुष्य मात्र का हित और अभ्युदय ही अभीष्ट है।[3]

इसी प्रकार भारतीय मूल्य मीमांसा भी मानव हित पर आधारित की गई है अहिंसा सत्य दया आदि मानव मूल्य मनुष्य के चरम आदर्श हैं किन्तु जीवन में इनका चरम प्रयोग सम्भव नहीं है अतः नीति अनीति पाप, पुण्य,

---

1 India the most dangerous decades--Harrison

२ इतिहास पुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत
बिभेत्यल्प श्रुताद् वेदो, मामयं प्रहरिष्यति। महाभारत, गीताप्रेस १९५५ ई० जिल्द १ पर्व १, आदिपर्व श्लोक २६८

३ अ–सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं अन्तिम–आदिपर्व प्रथम अध्याय
ब–सूक्ष्मा गतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका–आदिपर्व
स–धारणात् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजा
यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय –कर्णपर्व
द–लोकयात्रार्थमेवेह धर्म प्रवचनं कृतम्–शान्तिपर्व

हिंसा-अहिंसा के द्वन्द्व उपस्थित होने पर 'मानवहित'[1] को ध्यान मे रखकर ही निर्णय सम्भव है, गीता म हिंसा और अहिंसा पर विचार परिस्थिति सापेक्ष है, निष्काम कर्म योग मे व्यर्थ हिंसा अथवा अन्यायपूर्ण हिंसा न होकर अन्याय विरोध क लिए दुर्योधनादि का वध गीता म उचित ठहराया गया है किन्तु यहाँ भी सर्वसहारक अस्त्रो के प्रश्न पर दोनो पक्षो म सहमति प्राप्त कर ली गई थी अन्यथा कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र न कहलाकर सर्वसहारक युद्ध के कारण अधम क्षेत्र कहलाता, अत आज के तृतीय विश्व युद्ध के सन्दर्भ मे भी भारतीय परम्परा के पास जीवन्त सुझाव हैं।

इसी प्रकार वेद की पुनर्व्याख्याओ म सर्वाधिक यथार्थवादी और जीवन वास्तविकताओ के सन्दर्भ मे सिद्धान्तो और मूल्यो पर विचार करने वाला महाभारत पुराण बावजूद परस्पर विरोधी कथनो तथा ब्राह्मणवादी वर्ग स्वार्थ के, 'मानव प्रेम' और यथार्थपरक मूल्य मीमासा का बहुमूल्य सन्दर्भ ग्रन्थ है, महाभारत म जन्म स जातिवाद का विरोध,[2] प्रारब्ध स पुरुषार्थ की श्रेष्ठता[3] दैव और पलायन का विरोध, वेदो की अपूर्णता की स्वीकृति[4] वर्ण-वर्गहीन आदिम साम्यवाद की स्वीकृति[5] मानव द्वारा मानव के दासत्व का विरोध,[6] आदि अनेक जीवन्त धारणाएँ और मूल्य हैं।

महाभारत वेदो, ब्राह्मणो और उपनिषदो की पुनर्व्याख्या है, अत उनका प्रथम उल्लेख किया गया। आधुनिक युग म वेदो की प्रबल प्राणवत्ता जीवन से प्रेम ब्राह्मण ग्रन्थो म जीवन की व्याख्याएँ और प्रतीको का सर्जन, उपनिषदो द्वारा उन्मादनों के लिए नचिकेताओ का चित्रण, बुद्ध द्वारा रूढि व्यर्थ हिंसा अतिवाद, जातिवाद, औरब्राह्मण पौरोहित्य का विरोध, जन धर्म द्वारा

१ यद् भूतहितमत्यन्त तत सत्यमिति धारणा
विपर्ययकृतोऽधर्म पश्य धर्मस्य लक्षणम्—आदिपर्व
२ (अ) जातिरत्र महासर्प, मनुष्यत्वे महामते
सकरात सर्ववर्णाना दुष्परीक्ष्येति मे मति —वनपर्व
(ब) द्रष्टव्य अनुशासन पर्व—श्लोक १४३–५०
३ शान्तिपर्व,
४ श्रुति धर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जना
न च तत्प्रत्यक्षामो न हि सर्वं विधीयते—शान्तिपर्व
५ न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्व ब्राह्ममिद जगत—शान्तिपर्व
६ पाणिमन्तो बलवन्तो धनवन्तो न सशय
मनुष्या मानुषैरेव दासत्वमुपपादिता —शान्तिपर्व

दया, सयम और अनुशासन का प्रचार—ये सब परम्परा म जीवन्त रूप हैं जो इस देश की ही नहीं अन्य देशों को भी पशु जीवन से उच्च जीवन की ओर प्रेरित करते रहेंगे।

दर्शन के क्षेत्र म जिस प्रकार ग्रीक दार्शनिकों के विचार रक्तबीज धारा म आत्मवादी भौतिकवादी विचारकों के लिये प्रेरक प्रमाणित हुए, उसी प्रकार अस्तित्ववाद म आस्तिकों पर ईसाई ममी सन्तों का प्रभाव पड़ा है। भारतीय पुनर्जागरण के युग म उपनिषदों के अद्वैतवाद ने तथा शकर और सन्त वैष्णवों राममोहनराय, रामकृष्ण विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टाकुर, पन्त, निराला, प्रसाद महादेवी को प्रभावित किया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का द्वन्द्ववाद ग्रीक दार्शनिक हिराक्लिटस[1] और हीगेल के चिन्तन की मार्क्सवादी परिणति है। नवीन का दर्शन बौद्ध विज्ञानवाद और अस्तित्ववाद स्वयं प्रकाश्य ज्ञानवाद तथा अनुभूतिवादी चिन्तकों की परम्परा की पुनर्व्याख्या है। भारत के दर्शन म मनोविज्ञान की महत्वपूर्ण सामग्री है। न्याय वैशेषिक लोकायत सांख्य आगम और वेदान्त आदि परम्पराओं म प्रसिद्ध धारणाओं के अतिरिक्त नीति शास्त्र और मूल्य मीमांसा तथा भाषा विज्ञान के लिये पुष्कल उपकरण है।

साहित्य म मध्य युगों तक परम्परा की पुनर्व्याख्या द्वारा ही हिन्दू मुस्लिम संघर्ष और समावरण के सम्भ म सौन्दर्य की सृष्टि हुई। सिद्ध नाथ सन्त परम्परा अवश्य अधिक क्रान्तिकारिणी थी किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के अभाव म, उनकी उग्रता और प्रखरता, आगे चलकर, साम्प्रदायिक साहित्य म कुण्ठित हो गई। भारतीय सभ्यता ने परम्परा की पुनर्व्याख्या करके सकटकाल मे आत्मरक्षा की है यह प्रवृत्ति अंग्रेजी राज्य म और भी स्पष्ट रूप म व्यक्त हुई। पुनर्जागरण और पुनरुत्थानवाद साहित्य मे योरोपीय प्रविधियों और भारतीय साहित्यिक शैलियो के मिश्रण तथा योरोपीय दृष्टि को भारतीय चेतना वृत्त म ही ग्रहण करने की प्रवृत्ति से छायावाद तक का साहित्य परम्परा से सर्वथा विलग नहीं दिखाई पड़ता। जिस प्रकार मध्य युगो मे प्राचीन मूल्य प्रतीकों की पुनर्व्याख्या हुई थी[2] उसी प्रकार आधुनिक युग म भी प्रिय प्रवास साकेत राम की शक्ति पूजा कामायनी, दीपशिखा हिमकिरीटनी, आदि म परम्परा से ही नवप्रेरणाएँ ली गई। योरोप के रोमानी काव्य म, अभिव्यक्ति के नये रूपों की खोज म एक परम्परा ही बन चुकी थी किन्तु

---

१ Histoy of Modern Philosophy–Mayer Page 435

२ रामचरित मानस, सूरसागर,

यहाँ वह सवथा नवीन प्रतीत हुई, प्रसाद जी न इस नवीन 'लाक्षणिकता' को प्राचीन शब्द शक्तियो और वक्रोक्तिवाद के आधार पर ही विवेचित किया है।[1] इस सन्दभ म यह भी स्मरणीय है कि योरोप व रोमांटिक का य के वग्य की 'सवदाती' दार्शनिकता पर—विशेषकर जमनी मे—भारतीय सववाद का पर्याप्त प्रभाव पडा था।[2] फिर भी छायावाद युग तव के साहित्य न पश्चिमी योरोप के जनतन्त्रात्मक नव मानव मूल्यो का स्वीकार किया और द्विवेदी युग ने दृढता के साथ रीतिकालीन परम्परा से अपन को मुक्त किया। इस प्रकार यहा भी दृष्टव्य यह है कि नये तनावो की स्थिति म भारतीय परम्परा का एक रूप तिरस्कृत होता है तो उसके किसी अन्य शुभ पक्ष का पुनरुद्धार कर लिया जाता है—रीतिकालीन सौंदय बोध और मूल्यो के स्थान पर, आधुनिक युग ने उपनिषदो, आगमा और वेदान्त से अधिक प्रेरणा ली है किन्तु उस रूप मे नही, जिस रूप म उन्हें मध्य युगीन दार्शनिको और कवियो ने व्याख्यायित और स्थापित किया था।

प्रगतिवादी दशन व क्रान्तिकारी साहित्य म भारतीय परम्परा के शुभ मूल्यो का कभी निषध नही हुआ। कथा, काव्य और आलोचना म भारतीय जनता क मन मे स्थायी रूप से स्थित आशावाद पाप पर पुण्य की अतिम विजय, सघप करन की अदम्य शक्ति तथा 'नाक इलोरस्वभागत ' की मान वतावादी साहित्यिक धारा का मुक्त रूप म अपनाया गया। किन्तु प्रगतिवाद ने सवप्रथम भारतीय परम्परा के जडताग्रस्त, अधविश्वासात्मक और वपम्य समथक, कमवादी भाग्यवादी पुनजन्मवादी परमसत्तावादी मरणोन्मुख रूपो पर उग्र प्रहार किये एक नवीन मानव मूर्ति का प्रतिष्ठा के प्रयत्न म परम्परा की पुनर्व्याख्या का प्रयत्न भी किया गया, जो अब तक प्रचलित ह। फिर भी प्रगतिवाद म कवियो, कथाकारो म अधिकाशत विशुद्ध क्रान्तिकारी नही थे पन्त जी के युगान्त युगवाणी, प्रेमचन्द जी व गादान क पूव के उपन्यासो, प्रसाद जी के कंकाल और तितली और नाटको म भारतीय आदशवाद और

---

१ काव्य कला और अन्य निबन्ध

2 Among the intellectual excitements of the nineteenth century was the rediscovery of Indian thought which was congenial especially to German Romantics and American Transcendentalists —The Uses of the Past-

Herbert J Muller
1954, New york Page 313

यथार्थवादी प्रभावों के रूप में मिले-जुले रूप में ही हैं, उन्हें निस्सन्देह स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। चूँकि आलोचना में 'अवचेतन' पर अपेक्षाकृत अधिक सरलता से विजय प्राप्त की जा सकती है अतः प्रगतिवादी आलोचना में 'सैद्धान्तिक पक्ष' पर अधिक महत्त्व दिखाई पड़ा किन्तु मार्क्सवाद के निकष पर भारतीय साहित्य की परीक्षा में उग्र मतभेद प्रगतिवादी आलोचना की विशेषता है, संस्कृति की व्याख्या में भी यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, साहित्य में यह विवाद वस्तुतः परम्परा के जीवन्त रूपों के अनुसंधान का प्रयत्न है। प्रो० हबीब द्वारा इलियट और डाउसन के इतिहास की भूमिका, प्रो० कोसाम्बी का 'भारत का इतिहास'[1] राहुल, रांगेयराघव, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान आदि द्वारा भारतीय इतिहास, संस्कृति और साहित्य की पुनर्व्याख्याओं में तीव्र मतभेद यह प्रमाणित करता है कि 'परम्परा' के जीवन्त रूपों की शोध का प्रश्न शीघ्र समाधानित प्रश्न नहीं है और इस विषय पर बहस के रूप भी सर्वदा जीवन्त रहेंगे। एक ही दृष्टि से परम्परा से प्रेरणा ग्रहण और पुनर्मूल्यांकन के इन प्रयत्नों में वैविध्य के मूल में लेखकों की मानसिक रचना पर परम्परा के कुलक्रमागत, जातिगत, धर्मगत, भाषागत और संस्कारगत विभिन्न रूपों के उत्तराधिकार का ज्ञात-अज्ञात प्रभाव प्रमाणित होता है और प्रगतिवादी साहित्य की उपलब्धि का कारण भी वस्तुतः यही है।

प्रायः साहित्य में पूर्व साहित्यिक परम्पराओं के निषेध द्वारा 'नवीनता' की सृष्टि प्रारम्भ होती है। प्रयोगवादी कविता में छन्दमुक्ति और वर्जनाओं की अभिव्यंजना द्वारा और मनोविश्लेषण परक उपन्यासों में अवचेतन के उद्घाटन द्वारा यह निषेध सम्मुख आया। नयी कविता में यह परम्परा निषेध सर्वाधिक तीव्र रूप में व्यक्त हुआ है। काव्य और कथा में, अत्याधुनिक लेखकों में इस निषेध बोध ने वर्ण्य विषयों, छन्द, भाषा, बिम्ब और विषय निर्वाह में अद्भुत विप्लव उपस्थित किया। काव्य में 'अकविता', 'विद्रोही कविता', 'ताजी कविता' और कथा में 'अकथा' जैसे शब्दों के प्रयोग परम्परा के प्रति विप्लव के साक्षी हैं। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में हिन्दी में 'स्वीकृति' से अधिक 'अस्वीकृति' का साहित्य अधिक लिखा गया है। सत्य के सर्वसम्मत तत्वों, भाव के सार्वजनिक स्पन्दनों और संवेदनाओं के सर्वस्पर्शकारी रूपों के स्थान पर आत्मगत पद्धति पर 'क्षणवाद' और 'निजमूल्यानुसंधान' की प्रवृत्ति ने

---

१ *An Introduction to Indian History*

—*D D Kosambi*

परम्परागत मूल्यों और अभिव्यक्ति रूपों को हतप्रभ कर दिया है, असहमति और तीव्र परिवर्तन, रुचि का उत्थान पतन, और कथन भंगिमा में नित्य नवीन प्रयोग अत्याधुनिकता की विशेषता है।

किन्तु यह समझना गलत होगा कि अत्याधुनिक साहित्य में कोई परम्परा नहीं है। जैसा कि कहा जा चुका है, परम्परा, चेतना के गहन स्तरों में स्थित रूप इच्छा शक्तियों और दृष्टियों पर भीतर से अज्ञात प्रभाव डालती हैं। दूसरे, प्रेषणीयता के प्रश्न ने परम्परा से प्रतीकों को ग्रहण करने पर लेखकों को विवश किया है। सर्वप्रथम दृष्टव्य यह है कि अत्याधुनिक साहित्य पर पश्चिमी योरोप अमरिका के चिंतन और प्रयोगों का अत्यधिक प्रभाव है साम्यवाद से प्रभावित शिविरों में दृष्टि क्रांतिमूलक है अत वहाँ अत्याधुनिकता अधिकतम क्रान्ति की आवश्यकता प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त हुई है जैसे मुक्तिबोध शमशेर केदार, और त्रिलोचन में। अज्ञेय में यद्यपि इधर भारतीय 'विराट' के स्वर पुन बोलने लगे हैं, फिर भी अज्ञेय ने पश्चिमी योरोप की दृष्टियों से तथ्य का सत्य बनाकर देखने की परम्परा का अधिक प्रयोग किया है। धर्मवीर भारती के "अंधायुग" और "कनुप्रिया" में महाभारत की ओर भागवत में राधा की पुनर्व्याख्याएँ हैं। 'संशय की एक रात" में नरेश मेहता ने राम को अस्तित्ववादी के रूप में प्रस्तुत किया है, देवराज की "उसकी न कहीं" और 'इतिहास पुरुष' में सांस्कृतिक चेतना को आधुनिक संदर्भ में व्यक्त किया गया है। इस प्रकार परम्परा का स्वगत प्रयोग अत्याधुनिक साहित्य की भी विशेषता है। कथा के क्षेत्र में भी सदेह-सभ्रान्ति बोधों की ही प्रवृत्ति है किन्तु यहाँ भी मूलदृष्टि के आधार पर ही इस सभ्रान्ति बोध को वाणी मिली है उदाहरणत प्रगतिवाद से प्रभावित राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश कमलेश्वर मार्कण्डेय शिवप्रसादसिंह के स्वर 'परिमल'-समूह के लेखकों के स्वर से भिन्न है।

इस अत्याधुनिक साहित्य के विषय में यह ध्यातव्य है कि लेखकों के व्यक्तियों और सर्जन में पूर्ण संगति नहीं है मुक्तिबोध आलोचना और काव्य में एक सीमा तक दो प्रकार के मुक्तिबोध हैं काव्य में अन्तरावलोकन पद्धति और अनुभूतियों के साक्षात्कार में भारतीय परम्परा ने भीतर से अपना जोर दिखाया है अत मूल भारतीय प्रकृति ने भीतर से कवियों-लेखकों को प्रभावित किया है अत भारतीय परम्परा के सार मानवप्रेम और छायावाद के संवेदनात्मक पक्ष से बहुत कम रचनाएँ बच सकी हैं। सब कुछ एब्सर्ड है, निरर्थक है, की धुन में ऐसी बहुत कम रचनाएँ हैं जो इन बाधा को सफलता के साथ व्यक्त

पर पाई हैं यद्यपि भारतीय परम्परा म भाव्य साहित्य और घनात्मक दानों न शताब्दियों तक अनास्थावादियों उत्तरदायित्वहीन वैराग्यवाद निरर्थकतावाद से विरुद्ध संघर्ष किया है, शायद परम्परा का यही घनीभूत रूप लेखकों के अंतर्मानस मे बैठ कर उन्हें परम्परा स अधिक विलग नहीं होने देता।

प्रयोजनहीनता और निषेध वर्तमान दुर्गति और व्यक्ति की विसंगति के सूचक हैं किन्तु अत्याधुनिक साहित्य परस्पर अविरोधी—विरोधी दृष्टियों और संवेदनाओं का आवर्त बनता जा रहा है। नवतावाद के पुरोधा अज्ञेय 'के इत्यलम् और इन्द्रधनुष रौंदे हुए' की रचनाओं म दृष्टिगत अंतर है। 'इत्यलम' मे क्षणवाद उतना नहीं है जितना 'इन्द्रधनुष रौंदे हुए म।[1] यह स्मरणीय है कि विचार की दृष्टि से यह क्षणवाद भी भारतीय परम्परा के लिए कोई अपरिचित चेतना सिद्धान्त नहीं है। 'आगन के पार द्वार म एक रहस्यवाद की आहट सुनाई पडने लगती है जो आयु का अनुरोध है अथवा वस्तुगत चिंतन के निषेध की स्वाभाविक परिणति है।[2] सुनहरे शैवाल' म भावात्मक चित्तवृत्तियो की अभिव्यक्ति पुन मिलने लगी है अत अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' म रोमानी तत्व और विभक्ततत्वदर्शन एक साथ हैं, और 'अपने अपने अजनबी' का मृत्युबोध और इधर का नवरहस्यवाद भारोपीय परम्पराओं की प्रतिध्वनियों स संनिविष्ट है।

वस्तुत अत्याधुनिक साहित्यस्रष्टाओं के आचरण वक्तव्यों और मंदिर म सर्वत्र संगति न रह पाना स्वाभाविक है क्योंकि हमारे परम्परागत संस्कार मानसिक रचना के अंग हैं वह भीतर से अनात रूप म अभीप्साओं निवास्वप्नों और अतप्तियां अवसादों म व्यक्त होते रहते है। मृण्मयी कविता[3] और 'सचेतन'' कहानी तो विधिपरक तत्वों से समन्वित है ही किन्तु 'सन्नाटा''[4]

१ इत्यलम म सारी भारतमाता है यह देखकर हिन्दी को एक नैतिक आघात लगता है इन्द्रधनु रौंदे हुए म क्षणवाद वृद्धि पर है—

एक क्षण क्षण में प्रवहमान व्याप्त सम्पूर्णता
इससे कदापि बडा नहीं था महाम्बुधि जो पिया था अगस्त ने।
आज के इस विवित अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी ल आत्मसात कर ल।

२ महाशून्य वह महामौन अविभाज्य अनाप्त, अद्रवित अप्रमेय जो शब्दहीन सब म गाता है' — 'आँगन के पारद्वार''

३ भारती (बम्बई) म प्रकाशित अनेक कविताएँ

४ वलाग वाजपेयी

जसे सग्रह जो सीधे सत्रातिबोध के उद्बोधक काव्य हैं उनमे भी विरोध का रूप भारत की विद्रोहिणी चेतना की ही आधुनिक शृखला जान पडती है। कबीर के पास आस्था का अवलम्ब था परन्तु उसका विद्रोह व्यापक विद्रोह था जिसमे अस्वीकृति भी कम नही थी, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद का स्वप्न भग (Disillusionment) स्रष्टाओ को इस रस के लिए विवश करता है कि वे 'पूर्णनिराशा" पूर्णसदेह पूर्णअविश्वास और पूर्ण अस्वीकृति को एक जीवन दर्शन के रूप मे अपनाकर आत्ममग्न हो जाएँ वे इस विधि द्वारा कथनी और करनी की एकता की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं जो भारतीय परम्परा की सबसे बडी दुर्बलता रही है। नवसाहित्य की उत्तरदायित्वहीन घोषणाएँ अपने को प्रतिष्ठित करने की इच्छा पश्चिमी योरोप के निराशावादी दर्शन की स्वीकृति तथा ध्यानाकर्षण के इरादा के बावजूद आज के क्रोधित नवयुवक की वर्गगत सक्रियता यह साबित करती है कि वे परिस्थितियो से असतुष्ट हैं। असतोष की दिशाहीनता यह साबित नहीं करती कि असतोष का अभाव है दिशाहीनता इसलिए है कि मध्यवर्गीय अहकार और महत्वाकांक्षाएँ अत्याधुनिको को भी उनकी अपनी करनी और कथनी मे सगति के लिए प्रयत्न से रोकती हैं और प्रयत्न के लिए किसी स्तर पर सहमति और सगठन अनिवार्य तत्व हैं। दिशाहीन विद्रोह से हानि यह होती है कि सामान्य व्यक्ति जो मध्यवर्ग से नतत्व चाहता है यथास्थिति के विरुद्ध असहायता का अनुभव करने लगता है और प्रतिक्रियावादी शासन और वर्ग इस दिशाहीन क्रोध को आइडियोलाजी के रूप मे प्रयुक्त करते हैं। जो साहित्य मे किसी भी प्रकार के युटोपियन तत्व को पनपन नही देना चाहते और बिना युटोपियन तत्वो के यथास्थिति मे क्रान्ति असम्भव है।[१]

किन्तु आधुनिक काव्य मे इतिहासपुरुष[२] आत्मजयी[३] जसी ताजी

---

१ A State of mind is utopian, when it is in congruous with the state of things within which it occurs which transcends reality and which at the same time breaks the bonds of the existing order Ideology and Utopia Mannheim page 173

(२) डॉ० देवराज (३) कुँवरनारायण

(३) यह आत्महत्या का वि – जिस तक नचिकेता पहुँचता है, मुझे अत्यन्त महत्वपूर्ण लगा, प्राचीन और आधुनिक दोनों ही सन्दर्भों म। भारतीय

कृतियाँ भी हैं और गजानन मुक्तिबोध नागार्जुन, केदार भारतभूषण अग्रवाल (अनुपस्थित लोग) इत्यादि अनेक प्रगतिशील कवियों का आधुनिक काव्य भी सम्मुख है इनमें सभी आंतरिक तनावों की अभिव्यक्ति के बाद भी जिजीविषा प्रबलतम रूप में प्रकट हो रही है। आत्मजयी में आधुनिक नचिकेता मृत्युबोध से जीवन की पहचान करता है आस्था पाता है और इतिहास पुरुष में भारतीय सांस्कृतिक चेतना की निरंतरता की स्वीकृति है।[1] इसके अतिरिक्त पूर्व हिन्दी क्षेत्रों के अतिरिक्त राजस्थान बिहार मध्यप्रदेश की धरती से उगे हुए नए अंकुर[2] नवीन स्वर और नवीन आस्था के कवि हैं। आरम्भ विरोधी तत्वों से स्वयं को उबार लेने के लिए विद्रोही पीढियों' की आवाजें भी उठने लगी हैं।[3] इनके सिवा भारतीय दर्शन के शांतिवादी काल अतिक्रमणकारी किन्तु मंगलेच्छाओं से ओतप्रोत पुराने स्वर भी युद्ध विभीषिका में परम्परा की जीवंत शक्ति को प्रमाणित कर रहे हैं।[4] अत्याधुनिक काव्य का एक वह

दर्शन की तो शायद ही ऐसी कोई महत्वपूर्ण धारा हो जिसका प्रवर्तक इस वीतराग स्थिति से नहीं गुजरता। मृत्यु को विचारते हुए सहसा जीवन से उपराम होजाते हुए बुद्ध की निराशा नचिकेता की निराशा से बहुत भिन्न नहीं, इसी प्रकार गीता में युद्ध नहीं करूंगा, कहकर अर्जुन जब हथियार डाल देता है उस समय जीवन की असारता के प्रति अकस्मात सचेत हुए अर्जुन की वेदना का कोई अंत नहीं इस बिन्दु से हम देखते हैं कि प्रत्येक चिंतक लौटता है, फिर एक बार जीवन की ओर, वह फिर से जीवन को जीता है किसी ऐसे सत्य के लिए जिसे वह समझता है अमर है नचिकेता (भूमिका ६)

१ किसी भी उल्लेख्य लेखक पर उस समूचे अतीत का भार रहता है जिससे आलाप सलाप करते हुए उसकी चेतना गठित होती है।

(इतिहास पुरुष भूमिका पृष्ठ ७)

२ "अंकुर की कथाता" (दिनकर सोनवलकर) नीलजल सोई परछाइयाँ" (रामसिंह नीरज) 'कौनसे सदर्भ दे दूँ (सुरेन्द्र) किन्तु' (मृत्युंजय उपाध्याय) कविता' (अल्वर से प्रकाशित) निष्ठा (जयपुर के कवि) वातायन (बीकानेर के कवि) सूरजसरी सुरह (कुम्भनगर डायरा) में संतोरिया (ऋतुराज) वे सपने ये प्रेम (रणजीत)

३ विद्रोही पीढ़ी—वसनी प्रसाद चौरसिया इलाहाबाद १६६६

४ अनागता की आँखें (वीरेन्द्रकुमार जैन), लोकायतन (सुमित्रानंदन पंत)

स्तर भी है जिसमे परम्परागत प्रकृतिप्रेम व लोकछवियाँ अभिव्यक्त होती हैं। प्राय प्रत्येक काव्य सग्रह और पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित रचनाओ मे प्रस्तुत अप्रस्तुतो के रूप म यह 'सौंदय चयन" जीवन और प्रकृति की पुरानी घोषित एकता का ही प्रमाणकर्ता है।

लघुकथा पर हुई बहसो म [1] परम्परा का जो निषेध मिलता है, वह सतही ही है। किन्तु उसम खरी खरी सुनाने की प्रवृत्ति के नीचे पुराने स्वानुभववाद को ही प्रमाणिक माना गया है। [2] कथाकारो म सबसे अधिक निषेध वाणी दूधनाथसिंह रवीन्द्र कालिया विमल और रमेश बक्षी ' बुद्धिवाद विरोधी परम्परा" के आधुनिक सस्करण लगते हैं। यद्यपि प्रगतिकामी मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव कमलेश्वर, शिवप्रसादसिंह ने भी स्वानुभूतिवाद पर बल दिया है, परन्तु वह सामाजिक दायित्व से अपने अनुभवो को जोड लेते हैं जब कि बाह्य परिस्थिति म इच्छानुसार परिवतन न पाकर अतिवादी एसा रुख अपनाते हैं जसे साहित्य एक निरुद्देश्य निरथक और निणयहीन क्रिया हो उसी प्रकार जिस प्रकार वह सारे जीवन को एक अभिशाप मानते हैं और अभिशाप मुद्रा म वे दूसरो का अभिशाप देने की मुद्रा अपनाते हैं। [3] किन्तु रोचक तथ्य यह है कि किसी न किसी स्तर पर हिन्दी का अतिवादी से अतिवादी कथा लेखक प्रतिबद्धता को स्वीकार करता है, वस्तुत पूण निषेधवाद साधना का विषय है साहित्य और जीवन का नही। विराग के प्रति राग को एक राग ही माना गया है किन्तु वराग्य के लिए चित्तवृत्ति प्रवाह को जडमूल से काटना

---

१ द्रष्टव्य—भारतीय सस्कृति ससद द्वारा कलकत्ते म आयोजित कथा पर परिसवाद का ज्ञानोदय फरवरी १९६६ म प्रकाशित विवरण।

२ "भारतीय समाज नितान्त असभ्य और असास्कृतिक हो चुका है कोई चीज प्रामाणिक नहा है, न इतिहास, न भविष्य, न आसपास की चीजें कुछ भी प्रामाणिक है तो अपना अनुभव ! (श्रीकान्त, वर्मा, ज्ञानोदय, फरवरी ६६ पृष्ट ११४)

३ अ—' हम अपना रास्ता डिस्कवर नही कर पाते रास्ता ढूँढने की कोशिश भी नही दिखाई पडती आज का कथाकार हर स्थिति को तीव्रता स भोगता है" (रवीन्द्र कालिया पृष्ठ १२०)

ब— स्वतन्त्रता के बाद हमारे सामने कोई लक्ष्य नही रह गया, जिसके लिए हम मन एक मत नेकर फाइट कर सकें ऐसी स्थिति म हमारा सारा सघष इटरनल हो गया (दूधनाथसिंह पृष्ठ ११८)

पडता है अत स्वय सीमित अनुभूतिवाद मे विराग के माध्यम से ऊब और वितृष्णा के माध्यम से आसक्तिभोग द्वारा नए मूल्यो का अनुसधान विसगति के विरुद्ध गठित सघर्ष के अभाव मे एक आत्मतोष की स्थिति है स्वप्न विच्युति और दिवास्वप्न की शीर्षासनावस्था है।

हिन्दी के उपन्यास नाटक और अन्य विधाओ म परम्परा की नवीन व्याख्याओ मे शुभ पक्षो का निषेध उतना नही है।[1] आलोचना तो परम्परा के मृत रूपो से भी अभी तक पीछा नही छुडा सकी है विशेषकर सद्धान्तिक आलोचना म परम्परा की पुनप्रस्तुति ही अधिक हुई है। किन्तु अन्य ज्ञानानुशासनो के प्रकाश मे भारतीय काव्यशास्त्र की पुनर्व्याख्या ँ इधर अधिक होने लगी हैं। इस क्षेत्र म भारतीय काव्यशास्त्र के ध्वनिसिद्धान्त को नयी कविता के भी कतिपय लेखक सम्भावना पूर्ण मानते हैं और तटस्थ विचारकों का मत है कि इस सिद्धान्त के आधार पर कलामात्र का परीक्षण सम्भव है बशर्ते कि आधुनिक ज्ञानानुशासनो से उसका शोधन किया जाए। रस सिद्धान्त को कलामात्र के निकषरूप म प्रस्तुत नही किया जा सका पर प्रयत्न हो रहा है।[2]

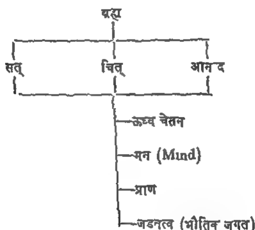
प्रत्येक समाज की परम्परा म एक रूप गतानुगतिक और एक तात्कालिकता का अतिक्रमण करने वाला होता है, इस काल अतिक्रमण रूप म मनुष्यमात्र के हित क लिये शुभेच्छाएँ, भविष्य की सम्भावनाएं और चरममूल्यो का विधान होता है मानवता क इन्हा स्वप्नो से वतमान सह्य बनता है और अस्तित्व सार्थक बनता है प्राचीन भारत म ऐसे चिन्ताओ की एक महाराशि है जिन्हें प्राप्त करने के लिये त्याग और तप के महान आदर्श मिलते हैं। परम्परा के य

१ हिन्दी म अभी तक यथार्थवादी उपन्यासकार प्रमुख हैं यशपाल नागर भगवती बाबू, अमृतलाल नागर, राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल, रेणु उदयशंकर भट्ट आदि के अतिरिक्त ऐतिहासिक उपन्यासो म भारतीय इतिहास की पुनर्व्याख्या स परम्परा क जीवन्त रूपों का अन्वेषण वर्मा ने सबसे स्पष्ट ढग स प्रस्तुत किया है। गुप्त क उपन्यासों म तो परम्परा के मृत रूप भी व्याप्त हो रह हैं। नाटक क क्षेत्र म लक्ष्मी नारायणलाल विष्णुप्रभाकर चिरजीत गोविन्ददास राकेश भारती आदि न परम्परा की पुनर्व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं अधयुग म आधुनिक दृष्टि है पर वह नाटक रूप में नही है।

२ रस सिद्धान्त डा० नगेन्द्र।

अरविन्दवादी सौन्दर्य शास्त्र

आज की प्रचलित विचारधाराओं में "अरविन्द दर्शन" भी एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। "अरविन्द दर्शन" प्रातिभज्ञान (Intuition) पर आधारित है। अरविन्द के अनुसार इस दृश्यमान जगत के पीछे एक शुद्ध चिन्मय सत्ता है, जो स्वयं अपनी शक्ति द्वारा इस भौतिक जगत के रूप में अभिव्यक्त हुई है अतः जगत् भी, 'सर्वम् खलु इदं ब्रह्म' श्रुति की साक्षी से ब्रह्म का ही एक रूप है। शुद्ध चैतन्य, लीला की इच्छा से, निम्न विकास (Involution) द्वारा इस जगत के रूप में परिवर्तित होता है। इसका क्रम इस प्रकार है—



अरविन्द के विचार से, बुद्धि, मन प्राण और जडतत्व सब एक ही चैतन्य के विभिन्न सोपान हैं। केवल मन अथवा बुद्धि (Reason) से जो जगत् पर विचार करते हैं वे या तो ब्रह्म को एक मात्र सत्ता द्वारा मान कर जगत का निषेध करते हैं—(आदर्शवादी बर्कले नागार्जुन शंकराचार्य आदि) अथवा केवल जडतत्व (Matter) की सत्ता मानकर ब्रह्म का निषेध कर देते हैं— (भौतिकवादी चार्वाक, मार्क्स, लेनिन आदि)। बुद्धि द्वारा सत्य का एक पक्ष ही सम्मुख आता है क्योंकि बुद्धि विभाजित करके देखती है अतएव बुद्धि द्वारा पूर्ण सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। सत्यनिर्णय के लिये बुद्धि से भी ऊपर चेतना के महत्तर रूप प्रातिभज्ञान या स्वयं प्रकाश्यज्ञान का विकास करना चाहिए तभी हम पूर्ण सत्य को पा सकते हैं।

प्रेरक रूप आज भी हमारी संस्कृति और साहित्य के[1] मूल में उर्वरक का काम कर सकते हैं साधारण जनमानस में तो वे आज भी जीवित हैं हम तो उन सम्भावनाओं को कार्य में परिणित करना है। दार्शनिकों ने जीवन और जगत् की व्याख्याएँ की है, नैतिकबोध दिया है ऐन्द्रिय स्तर से संतुष्ट न रह कर इन्द्रियातीत होकर केवल हित और कल्याण के लिये जीना सिखाया है। हम इतिहास के उस बिन्दु पर हैं कि या तो हम उन्हें कायरूप में परिणत करें या मूल्य ममता रहित स्थिति में तृतीय युद्ध छेड़कर समाप्त हो जाए अतः यह चरणक्षण है, अर्जुन की तरह अनिश्चय जन्य अवसाद में धनुष फेंक देने का क्षण नहीं है, विगत के पास तमसोमा ज्योतिर्गमय का मंत्र है प्रश्न यह है कि क्या हम इस चुनौती को स्वीकार करेंगे ?

सभ्यता और संस्कृति के विकास की लय का यह सिद्धान्त है कि आगत चुनौतियों का हम सामना कर सकें[1] अन्यथा ह्रास और अन्त की लय प्रारम्भ हो जाएगी हम चाहे काव्य में लय के विरोधी हों पर विकास की लय माननी होगी। इस सर्वव्यापी चुनौती का सामना बुद्धिवाद अनुभववाद और प्रयत्न के आधार पर सम्भव है केवल स्वानुभूतियाँ पूर्णतः अपर्याप्त हैं। परम्परा का अंध विरोधी होना आत्मघातक है।

---

१ In a growing civilization a challenge meets with a successful respons which proceeds to generate another and a different challenge which meets with another successful response There is no term to this process unless and until a challenge arises which the civilization in question fails to meet a tragic event which means a cessation of growth and what we called a breakdown —

Theories of History
A J Toynbee
U.S.A 1960

प्रातिभज्ञान योग, मन, चित्त, बुद्धि के स्वच्छ होने पर स्वतः स्फूर्त होता है। इस स्थिति में हम जगत, जीव, ब्रह्म आदि किसी भी समस्या पर विचार करें, हम शुद्ध निर्णय मिलता है, अतएव साहित्य के विषय में शुद्ध मनन तभी होगा जब हम इस प्रातिभज्ञान से सहायता लें अन्यथा केवल बुद्धि द्वारा आलोचना के अशुद्ध और एकांगी निर्णयों से हम कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

प्रातिभज्ञान और सौन्दर्य—क्योंकि मन, चित्त, बुद्धि आदि शक्तियाँ, आत्मा के ही निम्न सोपान हैं और आत्मा इनके माध्यम से ही अभिव्यक्त होती है, अतएव आत्मा की, दो स्थितियाँ हैं—प्रथम स्थिति में, आत्मा, मन, चित्त और बुद्धि से सहायता नहीं लेती यह शुद्ध समाधि की अवस्था होती है। इस स्थिति में ज्ञाता और ज्ञेय, दृश्य और द्रष्टा के भेद नहीं रह जाते। द्वितीय स्थिति में आत्मा, अन्तःकरण से सहायता लेता है इस स्थिति में ही कला की सृष्टि होती है। इस स्थिति में भी दो स्थितियाँ होती हैं, प्रथम में मन, चित्त और बुद्धि के संकल्प विकल्प और चिंतन में आत्मज्ञान संयुक्त रहता है। द्वितीय स्थिति में अज्ञान की अधिकता के कारण केवल मन के संकल्प विकल्पों और विचारों की व्यंजनाएँ होती हैं। इस द्वितीय स्थिति में ऐन्द्रिय और एकांगी कला का जन्म होता है। केवल प्रकृति के बाह्य रूपों का अनुकरण या पुनरुपस्थिति अथवा चित्रण होता है या मानवीय भावनाओं, प्रेम क्रोध, घृणा इत्यादि की व्यंजनाएँ होती हैं। अरविन्द के अनुसार ऐसी रचनाएँ निम्न कोटि की होती हैं।

द्वितीय स्थिति में आत्मा से संयुक्त होकर अन्तःकरण अभिव्यक्त होता है इसमें ऐन्द्रियता के साथ साथ अतीन्द्रियता का भी कभी स्पर्श मिलता है परन्तु उच्चतम कोटि की सौन्दर्य सृष्टि स्वयं प्रकाश्यज्ञान द्वारा ही होती है। इस स्थिति में आत्मा का प्रकाश ही अन्तःकरण का सचालित करता है। चेतना के उच्चतम शृंग से विच्छुरित आलोक, अन्तःकरण के स्तरों को अनुशासन में रखता हुआ 'दिव्य सृष्टि' कराता है। वैदिक ऋषियों ने इसी स्वयं प्रकाश्यज्ञान द्वारा वेदमन्त्रों की रचना की है। ऋचाओं में ऋषियों के भावजगत का उपयोग है किन्तु वह सामान्य भावजगत से उच्चतर कोटि का सृजन है। वह प्रातिभज्ञान द्वारा अनुशासित और प्रकाशित है। अतएव सौन्दर्य की सृष्टि का चरमरूप वेदमन्त्र हैं या "कला का श्रेष्ठ रूप मन्त्रकाव्य" है।

अरविन्द के अनुसार इस मन्त्रकाव्य का सौन्दर्य हम बुद्धि द्वारा समझना चाहते हैं जो असम्भव है। प्रातिभज्ञान द्वारा निर्मिति केवल प्रातिभज्ञान द्वारा ही समझी जा सकती है। प्रातिभ सृष्टि में वस्तु का बाह्य अंकन नहीं होता अपितु वस्तुस्थित, आनन्दमयी सत्ता का उद्घाटन होता है। इन्द्रियबोध,

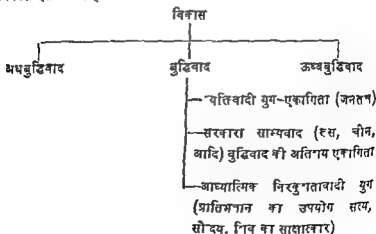
कल्पना, संकल्प विकल्प आदि से परे इस अखंड सौन्दर्य का साक्षात्कार और अभिव्यक्ति को ही, वास्तविक सौन्दर्य सृष्टि कहना चाहिए।

वेदयुग और उपनिषदों के पश्चात् संस्कृत तथा प्राकृत में जो सौन्दर्य सृष्टि हुई है, वह चेतना के निम्न स्तरों की सृष्टि है, अतः कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि का सौन्दर्य उच्चतम कोटि का नहीं है। आलोचना क्षेत्र में भी वेदयुग के पश्चात् मनुष्य ने केवल बुद्धि से ही अधिक काम लिया है इसलिये भ्रान्त और एकांगी निर्णय हुए प्राप्त हैं (अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ आदि के निर्णय बुद्धिवादी निर्णय हैं, यूरोप के आलोचक भी बुद्धिवादी हैं।) अरविन्द के अनुसार बुद्धिवाद का निकृष्टतम रूप "साम्यवादी व्यवस्था" में दिखाई पड़ता है, अतः साम्यवादी विचारकों के निर्णय सर्वाधिक एकांगी और हठ धर्मों पर आधारित होते हैं।[1]

साम्यवाद के बाद अध्यात्मवादी युग में जिस सौन्दर्य की सृष्टि होगी वह वैदिकयुगीन सौन्दर्य के सदृश होगा। आज की एकांगी काव्यकला चित्रकलादि इसी आगामी 'अध्यात्मवादी या अतिमनवादी' युग की ओर संकेत कर रहे हैं। वह आगामी सौन्दर्य सृष्टि तभी हो सकती है जब हम साम्यवादी बुद्धिवाद से ऊपर उठें और पुनः प्रातिभज्ञान द्वारा सत्य, शिव और सौन्दर्य का दर्शन करें। हम इस प्रातिभज्ञानवाली सत्य के साक्षात्कार के लिये आधुनिक शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करें और योग शिक्षा प्रारम्भ करें।

---

१ प्रातिभज्ञानयुग (वैदिक युग) के ह्रास के बाद बुद्धिवादी युगों का विकास इस प्रकार है —



अरविन्द के मत से, आगामी मन्त्र युग के प्रथम लक्षण ह्विटमन वार पटर, तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि में दिखाई पड़ने लगे हैं। अरविन्द के अनुसार सौन्दर्य भावना के भी तीन स्तर पाये जाते हैं। प्रथम सोपान में भाषा शैली का सौन्दर्य हमें अधिक प्रिय होता है द्वितीय सोपान में रचना के विचार, भाव और कल्पना के सामञ्जस्य को हम अधिक पसन्द करते हैं, आधुनिक युग में अभी यहां तक सौन्दर्य बोध का विकास हुआ है परन्तु सौन्दर्य का एक तृतीय स्तर और है, जिसमें सापेक्ष वस्तु में स्थित निरपेक्ष सौन्दर्य के दर्शन होते हैं। यह सौन्दर्य, सामान्य इन्द्रिय बोध तथा प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में स्थित, अतीन्द्रिय सौन्दर्य (Supersensuous Beauty) है। यह बुद्धि के लिये अगम्य है। इस सौन्दर्य के जाग्रत हो जाने पर प्रकृति के प्रत्येक लघु विराट रूप में, सत्य शिव और आनन्द का एक साथ साक्षात्कार होता है, सौन्दर्य की सृष्टि करना वस्तुतः आत्मा में स्थित ब्रह्म की शक्ति और मूर्ति का बहिर्प्रक्षेपण है।[1] मन के सकल्पों का नहीं बल्कि आत्मा के सकल्पों का वर्णन अलौकिक अतीन्द्रिय अनुभवों की व्यंजना ही सच्ची सौन्दर्य सृष्टि है।

अरविन्द के अनुसार उपर्युक्त दृष्टि में कला का मर्म समझने में सुविधा होती है। उनका कथन है कि बुद्धि तो अतीन्द्रिय तत्व का मर्मस्पर्शी नहीं विचार का एक आन्तरिक अंग (Soul idea) रखता है। भाव के बाह्य अंग को ही भारतीय अलंकार शास्त्री, "रसानुभूति" कहते आए हैं परन्तु भाव का एक आन्तरिक अंग (The soul of the emotion) भी होता है उसी प्रकार जिस प्रकार विचार का एक आन्तरिक अंश होता है अतएव विचार और भाव के आन्तरिक अंग को समझना ही कला का मर्म है, मन्त्र युग में इसी कला का मर्म उद्घाटित हुआ था।

कला के उपकरण हैं अनुभूति अन्तर्दृष्टि सत्यशोधन, लय छन्द और भाषा। ये सभी तत्व केवल वैदिक मन्त्रों में मिलते हैं अन्यत्र नहीं। वस्तु का चित्रण अपने में तथ्य रहित होने से, महत्वहीन है परन्तु सूर्य, वरुण अग्नि सोम, उषा, मरुत् आदि वस्तुओं पर आन्तरिक सत्यों के प्रकाशन के लिये मन्त्रों में प्रायः 'स्तुति विषय' के रूप में स्वीकृत हैं।[2]

---

1 To find highest beauty is to find God to reveal, to embody to create, as we say highest beauty is to bring out of our souls, the living image and power of God—The Human cycle Page 160

2 The Future Poetry, Page 280

वस्तु विचार और भाव के बाह्य अंशों का चित्रण हमें सांसारिकता में निमग्न करता है परन्तु चिन्मय सत्ता पर आधारित सौन्दर्य सृष्टि मनुष्य को दिव्य भाव भूमियों की ओर उन्मुख करती है। बुद्धिवादी आलोचक समझता है कि सृष्टि केवल सामान्य बुद्धि से होती है, परन्तु सच्ची सृष्टि तो अन्तर्दृष्टि से ही सम्भव है। प्रतिभा सदा ऊर्ध्व बुद्धिवादिनी होती है, क्योंकि प्रतिभा प्रातिभज्ञान का फल है।[1]

बुद्धिवाद ने शिल्प, बुद्धि तथा रुचि की प्रधानता के कारण क्लासीकल तथा 'यक्तिवादी' या रोमांटिक—ये दो कलाभेद किये हैं, परन्तु ऐसा कोटियाँ भ्रामक हैं। उच्चकोटि की कला में ये दोनों तत्त्व रहते हैं। सौन्दर्य को वस्तुतः खण्डों में बाँटकर नहीं देखा जा सकता। सृजन प्रक्रिया के क्षणों में प्रातिभज्ञान अन्तर्दृष्टि के रूप में स्फुरित होता है तभी अनुपम लोकोत्तर अनुभूतियों और रूपों की सृष्टि होती है। यही सौन्दर्य का दर्शन और यही सृजन प्रक्रिया है। दोनों की पद्धति एक है। ऐसी सौन्दर्य सृष्टि बुद्धिवादियों द्वारा घोषित 'मापदण्डों' में कभी बँध नहीं सकती। ऐसी कला का विवेचन उपयुक्त अन्तर्दृष्टि प्राप्त आलोचक ही कर सकता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि अरविन्द स्वयं प्रकाश्य ज्ञानवादी विचारक हैं। काव्य का अभिव्यंजनावाद भी इसी पद्धति पर चला है। स्वयं अरविन्द की कविताओं से स्पष्ट है कि वह केवल एक विशेष प्रकार की कला के प्रेमी थे किन्तु उनकी अध्यात्मवादी रचनाएँ रहस्यात्मक हैं। भविष्य युग में अरविन्द काव्य को समझने के लिये योगसाधना करनी होगी और एक विशेष 'प्रातिभ-चक्षु' ही इस प्रकार की कला से लाभ उठा सकेगा। अतः अरविन्द का दृष्टिकोण भी एकांगी है। स्वयं प्रकाश्य ज्ञान ही अरविन्द दर्शन का आधार है। किसी क्षेत्र विशेष में कार्यरत रहने पर जो एक अभूतपूर्व अनुभव सहसा जाग्रत हो जाता है उससे भिन्न स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की कोई सत्ता नहीं है अन्यथा योग द्वारा प्राप्त प्रातिभज्ञान से ही जीवन के क्षेत्र में सभी प्रकार के आविष्कार सम्भव हो जाते परन्तु अन्ततः युग के आविष्कारों को जो 'अन्तर्दृष्टि' प्राप्त हुई है वह क्षेत्र विशेष में कार्यरत रहने का प्रतिफल है योग का परिणाम नहीं। योग वस्तुतः ध्यान केन्द्रित करने के अनेक उपायों में एक उपाय है ऐसा अभ्यास जिसमें कर्मक्षेत्र में "मन को अन्य कर उस मनोवांछित विधि पर अनुगामित किया जाता है। इसमें

1 वही

"मन" को कुछ शक्तियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं, इसमें सन्देह नहीं किन्तु उसी "मन" (माइण्ड) को जब वैज्ञानिक किसी वस्तु पर केन्द्रित करते हैं, तब 'अरविन्दयोग' से भी अधिक चमत्कारक चीजें और "अन्तर्दृष्टियाँ" प्राप्त होती हैं। उनकी दृष्टि साधनावादी है जीवनवादी नहीं। इस प्रकार अरविन्द का स्वयं प्रकाश्य ज्ञान सर्वथा निरपेक्ष, शाश्वत अनुभव नहीं है। वह पूर्वभूत अनुभवों और आवश्यकताओं के संघर्ष से "उद्गार" के रूप में प्राप्त, स्वतः उद्भूत प्रतीत होने वाली "मानसिक" क्रिया है।

अरविन्द के अनुसार मन, बुद्धि आदि चेतना स्तर आत्मा के ही रूप हैं। यदि इन सभी में आत्मा अनुस्यूत है तो यह मानना होगा कि बुद्धिवादी विवेचक में भाव, कल्पना और अन्तर्दृष्टि सभी तत्व रह सकते हैं। ये परस्पर विरोधी स्थितियाँ नहीं हैं इनके "बाह्य" और "आंतरिक" अंश परस्पर निरपेक्ष और स्वतन्त्र नहीं हैं। अरविन्द एक दार्शनिक परम्परा के प्रभाव के कारण आत्मा और जगत में एक "द्वैत" मान लेते हैं, यद्यपि वह घोषणा यह करते हैं कि वे अद्वैतवादी हैं। यही कारण है कि वे 'आत्मा' का एक परम स्वतन्त्र, परम तटस्थ 'द्रष्टा' के रूप में मानते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि परम तटस्थ स्थिति एक कल्पना मात्र है क्योंकि आत्मा' अन्तःकरण के संघात का ही नाम है अन्तःकरण से सर्वथा तटस्थ, चेतना का भ्रम इसलिये होता है कि 'आत्म ज्ञान' (Self awareness) की स्थिति का हम अनुभव करते हैं किन्तु हम आत्म ज्ञान' के स्वरूप पर विचार करते ही साफ लगता है कि हम बाह्य' सन्दर्भ से सर्वथा अलग नहीं हैं वस्तुतः यह आत्म ज्ञान' भी एक बाह्य से "कण्डीशण्ड" स्थिति है क्योंकि इस "आत्म ज्ञान" का भी प्रारम्भ और विकास दिखाई पड़ता है।

जिस वेदमन्त्र की व्याख्या अरविन्द कर रहे हैं उस व्याख्या को यदि ऋषि पढ़ पाते तो उन्हें अरविन्द की "पहुँच" की प्रशंसा करनी पड़ती क्योंकि एक वेद की अनेक व्याख्याएँ हैं जो व्याख्याकारों की "आत्माओं" के अनुसार प्राप्त हुई हैं। अरविन्द आत्म ज्ञान को निरपेक्ष मानकर चले हैं अतएव सामान्य ज्ञान और सामान्य अनुभवों की उपेक्षा हुई है। अरविन्द के मापदण्ड के अनुसार हम सारी कलाओं की व्याख्या नहीं कर सकते। अरविन्द की व्याख्या स्वीकार करने पर तो "शाबर मन्त्रों" को वैदिक ऋचाओं से भी अधिक कलापूर्ण मानना होगा क्योंकि आगम के अनुसार शाबर मन्त्रों में साक्षात् शिव सन्निध्य रूपेण अवस्थित हैं। इसी तर्क पर निराला के 'बादलराग' से अधिक महत्व निराला की 'अर्चना' की प्रार्थनाओं को देना होगा और कालिदास

से बड़ा कवि कृष्णमिश्र (प्रबोध चन्द्रोदय) को घोषित करना होगा। क्या अभिज्ञान शाकुन्तल से 'प्रबोध चन्द्रोदय' श्रेष्ठ नाटक है? यदि नहीं तो अरविन्दवादी सौन्दर्य शास्त्र एक एकांगी प्रयत्न है।

वस्तुतः कल्पना की सहायता से जब भाव व्यंजना होती है तब न तो अनुभव अतीन्द्रिय होता है और न वह मात्र प्रवृत्ति परक होता है अतएव भाव व्यंजना भी प्रवृत्तियों के उदात्तीकरण में समर्थ है। रंजन और उदात्तीकरण के लिये भाव व्यंजना, वस्तु व्यंजना और अलंकार व्यंजना (बिम्ब विधान) समर्थ हैं और इनसे प्राप्त आनन्द चाहे ब्रह्मानन्द न हो पर वह 'जीवनानन्द सहोदर' अवश्य होता है और इसे ही अभिनवगुप्तादि आचार्य जो कोरे तार्किक नहीं थे (आनन्दवर्धन, अभिनव आदि शैवसाधक थे, जो तक 'रस' को भी ब्रह्म अनुभूति' कहते हैं!) स्वीकार करते हैं और यह मत अरविन्द की तुलना में अधिक युक्तियुक्त है। अरविन्द जिस विभाजन की निन्दा करते हैं स्वयं उसी से आक्रान्त हैं। भाव और विचार के बाह्य और 'आंतरिक' अंशों के विभाजन करके पूर्व निर्मित पूर्व कल्पित आध्यात्मिक तत्वों की प्रतिष्ठा के लिए किए गए हैं अतः अमान्य हैं।

सौन्दर्य की दृष्टि में वस्तु का बाह्य सौन्दर्य और रूप की सत्ता पर

होता हुआ देखकर जब गोर्की और प्रेमचन्द की लेखनी मनुष्य की आह या क्रोध को व्यजित करती है, तब क्या उसके पीछे लोक-मगल की वही भावना नही होती जो आदिकवि के मुख से 'सहसा" फूट पडी थी ? अरविन्द के काव्य को पढकर मानवीय हृदय की भूख नही मिटती न अरविन्दीय साहित्य को पढकर, वास्तविक मानव जीवन की समस्याओ सकटो और सवालो का विवेक-सगत समाधान होता है। कलाकार मनुष्य की प्रवत्तियो ऐन्द्रिय सवदनाओ, भावो और कल्पनाओ को अपनी रचना द्वारा 'मानवीय बनाता है, योग द्वारा प्राप्त अनुभवो म इतनी रजकता मूत्तता तथा व्यापकता नही होता अत अरविन्द के दृष्टिकोण से, अभिनव गुप्त, मम्मट विश्वनाथ तथा आज के मानव प्रिय यथार्थवादी विचारको का दृष्टिकोण अधिक मानवीय और वैज्ञानिक है।

शैव-दर्शन और सौन्दर्य-शास्त्र

सर्व प्रथम 'शैव दर्शन' व 'सौन्दर्य शास्त्र' इन दो शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शैव दर्शन के अनेक भेद हैं। इस लेख में हम केवल शैव दर्शन की कश्मीरी शाखा पर ही विचार करेंगे। कश्मीरी शैव दार्शनिकों ने सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी निर्माण किया है। आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक, अभिनवगुप्त का "लोचन" ('ध्वन्यालोक' की व्याख्या) तथा अभिनव भारती (भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या) आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इस लेख में हम इन ग्रन्थों को आधार न बनाकर केवल अभिनवगुप्त के 'तन्त्रालोक' में प्राप्त सौन्दर्य शास्त्रीय तत्वों पर विचार करेंगे। तन्त्रालोक में प्राचीन आगमों तथा कश्मीरी शैव मत के अन्य ग्रन्थों को आधार मानकर शैव-दर्शन की व्याख्या की गई है इस व्याख्या में सौन्दर्य शास्त्र के लिए भी प्रकाश

क्षेत्र म जो अस्पष्टता आवेश या भावुकता रहती है, वह सौन्य शास्त्र मे नही मिलती। सौंदय सम्बन्धी सिद्धान्तो से अपरिचित रहकर भी आलोचक या सहृदय कला का आनन्द प्राप्त कर सकता है परन्तु इन सिद्धान्तो स परिचित हो जाने पर आलोचना म स्पष्टता व निर्भ्रान्तता अवश्य आती है, दूसरे उसकी दृष्टि सूक्ष्म व सम्यग हो जाती है तीसरे वह साहित्य व कला के सम्बन्ध म अन्य आलोचको सौंदय शास्त्रियो व कलाकारो के सिद्धान्तो मे तक विरोधी तत्वो को दूर करके आलोचना के सिद्धान्तो को अधिक वैज्ञानिक बना सकता है। चूँकि सौंदय शास्त्र सिद्धान्तो के विवचन पर अधिक ध्यान देता है अत वास्तविक स्थिति स दूर जाने का भय बराबर रहता है। वह अन्य सिद्धान्तो के दोष तो सुविधा से खोज लेता है परन्तु जब स्वयं सिद्धान्तो का निर्माण करता है तो उनमे वह औपचारिक हो जाता है। आलोचक को सौंदय शास्त्र के अध्ययन से अपनी सद्धान्तिक विवेचना को अधिक तकसगत और वास्तविक बनाने का अवसर मिलता है।[1]

उपयुक्त विवेचन स स्पष्ट है कि सौंदय शास्त्र काव्य शास्त्र या आलोचना शास्त्र का सहायक शास्त्र है, दोनो ही कलाओ को विवचन का उपकरण (Material) बनाते हैं अत अलग होकर वे भी परस्पर सम्बन्धी हैं। भारतीय काव्य शास्त्र सौंदय शास्त्र सम्बद्ध रूप मे ही मिलते है। योरोप म जिस प्रकार काव्य शास्त्र व सौंदय शास्त्र अलग अलग दिखाई पड़ते है उस रूप म यहाँ विकास नहीं हुआ। अत शव दशन मे भी सौंदय शास्त्र व काव्य शास्त्र दोनो के लिए प्रेरणाएँ और प्रकाश है।

शव दशन जगत् की सृष्टि का विस्तार स वणन करता है, इस म सृष्टि प्रक्रिया का रहस्य निहित है। जिस प्रकार जगत म आकाश वायु, अग्नि,

१ आर० जी० कालिंगवुड व अनुसारसौंदयशास्त्र का अध्ययन एक सीमा तक आवश्यक है। सौन्य शास्त्री दो प्रकार के होते है (१) आलोचक सौंदय शास्त्री ( ) दाशनिक सौंदय शास्त्री। आलोचक यह बताते हैं कि कला किन किन तत्वो से बनता है, कला पूण और कला हीन दोनो को वे अलग अलग करते हैं। सौंदय शास्त्र एक कदम और आगे जाकर कला और सौंदय की परिभाषा करता है, सृष्टि के क्षणो पर विचार करता है वह आलोचक के अस्पष्ट और व्यवस्थाहीन सिद्धान्तो का जगह स्पष्ट व्यवस्थित और तकसगत विचार रखता है अत सौंदय शास्त्र के अध्ययन से आलोचक को तकसगत व व्यवस्थित होने का अवसर मिलता है तथा साथ ही वह सौंदय शास्त्र की कोरी सिद्धान्तवादिता के खतरे से भी बचना सीखता है।

जल, पृथ्वी आदि पंचभूतों और इनसे पर्वत, नदी, वृक्ष, पुष्प, पल्लव आदि नाना पदार्थों की सृष्टि होती है, उसी प्रकार कलाओं के क्षेत्र में अनेक रूपों की सृष्टि होती है। जगत की सृष्टि की प्रक्रिया तथा कला की सृष्टि प्रक्रिया एक हैं क्योंकि जगत की सृष्टि की कल्पना में स्वयं व्यक्ति की सृष्टि प्रक्रिया ही प्रमाण है। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की सारी प्रक्रियाएँ समान हैं। अतः शैव दर्शन में बाह्य जगत् की सृष्टि का वर्णन कलाकार की सौन्दर्य सृष्टि का ही वर्णन है, ऐसा मानना चाहिये।

शैव दर्शन के अनुसार जगत् की इस सृष्टि का कारण एक चेतनतत्व है, उसका नाम है "परम शिव"।[1] यह चेतन तत्व आंदोलनातीत है यह देशकालबद्ध नहीं है अतएव इसका वर्णन सम्भव नहीं है। यह सर्वथा भेद रहित स्थिति है। इस स्थिति में सृष्टि सम्भव नहीं है। अर्थात् चेतना अपने वास्तविक शुद्ध रूप में स्थिर होकर सृष्टि से परे हो जाती है। इसलिए सौन्दर्यानंद को "ब्रह्मानन्द" नहीं कहा जाता क्योंकि सौन्दर्यानन्द ब्रह्मानन्द से निम्न स्थिति है। प्रज्ञा के स्थिर हो जाने पर सृष्टि नहीं हो सकती।

स्वच्छन्दतावाद—

शुद्ध चेतन तत्व में शैव एक स्वतन्त्र शक्ति की स्थिति मानते हैं। यदि यह प्रश्न हो कि परम शिव (ब्रह्म) में सृष्टि की इच्छा क्यों उत्पन्न होती है तो उसका उत्तर यह है कि ब्रह्म अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने को उन्मुख होता है। अतः सौन्दर्यशास्त्र का प्रथम सिद्धान्त यह है कि कलाकार अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से सृष्टि करने के लिए उन्मुख होता है यह स्रष्टा की स्वच्छन्द प्रवृत्ति है बाह्य दबाव सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। पुनः प्रश्न होगा कि अन्ततः कुछ तो सृष्टि इच्छा का कारण होना ही चाहिए तो उत्तर होगा कि सृष्टि करने में चेतना को आनन्द प्राप्त होता है।[2] अनुभव से ही आत्मा (चैतन्य) को आनन्द मिलता है यद्यपि आत्मा या चैतन्य स्वतः सत् चित् आनन्दमय है, तथापि सृष्टि उसकी स्वानुभूति मात्र (Self realization) है। अन्य बाह्य उद्देश्य सृष्टि नहीं कर सकते।[3]

---

१ उपनिषद में यही "परब्रह्म" कहलाता है।

२ स्वात्मप्रच्छादनक्रीडा पण्डित परमेश्वर तन्त्रा० चतुर्थ आह्निक

३ उपयोगी कला और शुद्ध कला का भेद यहाँ स्पष्ट हो जाता है। शुद्ध-कला केवल अपनी प्रेरणा अपनी स्वच्छन्द-प्रक्रिया पर चलती है उपयोगी कला या शिल्प (Craft) में कोई बाह्य उद्देश्य रहता है, इसलिए तुकबन्दी या समस्या पूर्ति को हमारे यहाँ ६४ शिल्प कलाओं में रखा गया है और काव्य या शुद्ध कला को शिल्प-कला से अलग कर लिया गया है।

अतएव सृष्टि का कारण है, स्रष्टा की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति। यह इच्छा क्रीडाजन्य आनन्द प्राप्ति की इच्छा है। जिस प्रकार क्रीडाजन्य बालक क्रीडा के बिना भी पूर्ण है परन्तु क्रीडा के द्वारा वह अपने ही आनन्द का भोग करता है नाना पदार्थों की सृष्टि करके अपने आनन्द का विस्तार करता है, उसका अनुभव करता है उसी प्रकार अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से परम शिव जगत की सृष्टि करता है और इसी तरह कलाकार अपनी स्वच्छन्द इच्छा शक्ति से आत्म अनुभूति के लिए, आनन्द विस्तार के लिए सृष्टि रचना करता है।[1]

शुद्ध चेतन तत्व में यह स्वतन्त्र इच्छा उत्पन्न होते ही उसमें पहले से ही विद्यमान शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। ये शक्तियाँ चेतना के साथ एकाकार हैं परन्तु स्वतन्त्र इच्छा शक्ति से सृष्टि का सकल्प उदय होते ही चेतना का यह अंश (शक्तितत्व) चेतना से भिन्न प्रतीत होने लगता है। इसे शव-दर्शन में "शक्तितत्व" कहा गया है, और शक्ति के साथ एकाकार चेतना का दूसरा अंश शिवतत्व कहलाता है। इस प्रकार परम शिव के दो रूप दिखाई पड़ते हैं, शिव तत्व और शक्ति तत्व। इनमें शक्तित्व को विमर्शतत्व या क्रियातत्व भी कहा जाता है। यह शक्तितत्व ही सृष्टि में समर्थ है दूसरे शब्दों में स्रष्टा, शक्ति द्वारा सृष्टि करता है। यह शक्तितत्व स्वतन्त्र या स्वच्छन्द तत्व है क्योंकि चैतन्य का एक अंश या रूप होने पर भी यह जड-तत्व की सृष्टि में समर्थ है। अतः जड जगत् शक्ति का एक रूप है, वह वेदान्तियों के अनुसार 'मिथ्या' नहीं है। इसलिए सृष्टि का आनन्द जो शिव या स्रष्टा को प्राप्त होता है वह भ्रम जन्य आनन्द नहीं है वह अपनी ही शक्ति द्वारा शक्ति के ही रूप में प्राप्य आनन्द है। कलाकार (शिव) अपने रूप शक्तितत्व का विस्तार करके ही आनन्द पाता है।

आभासवाद—

शुद्ध चेतन तत्व का एक अंश द्वारा व्यक्त होना ही 'बाह्याभास' है। सारी सृष्टि एक प्रतिबिम्ब के समान है और यह प्रतिबिम्ब चैतन्य में ही

---

१ इस 'स्वच्छन्दतावाद' में "कला कला के लिए है', 'कला केवल आनन्द के लिए है' जैसे एकांगी सिद्धान्तों के लिए स्थान नहीं है क्योंकि शैव दर्शन में आनन्द, ज्ञान, क्रिया, इच्छा इनका परस्पर सम्बद्ध माना गया है। ज्ञान, क्रिया व इच्छा, इन सबके सामरस्य से ही सृष्टि होती है अतः शिवत्व और सत्य भी सौन्दर्य में सम्मिलित रहते हैं। भेदवादी दृष्टि ही एकांगिनी होती है। प्रधानता के कारण ही अलग नाम दिये जाते हैं न कि सारे अनुभवों से पूर्णतः विच्छिन्न और निरपेक्ष होने के कारण।

प्रतिष्ठित है। जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब आनन्ददायक होता है वैसे ही सृष्टि शिव का ही प्रतिबिम्ब है। कलाकार अपनी सृष्टि में अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है और आनन्दित होता है। जैसे प्रतिबिम्ब और बिम्ब अलग होने पर भी अभिन्न होते हैं, वैसे ही कला व कलाकार भी, अलग प्रतीत होने पर भी एक और अभिन्न है। यह प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया शक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है। शिव (कलाकार) अपनी ज्ञान इच्छा व क्रिया द्वारा इस प्रक्रिया को पूर्ण करता है। माध्यम से भिन्न अभिव्यक्ति या सृष्टि की सत्ता नहीं है।[1]

आभास या प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया इस प्रकार है। शिव पंच-शक्तियों द्वारा अपने को अभिव्यक्त करता है। चित आनन्द इच्छा ज्ञान व क्रिया ये पाँच शक्तियाँ ही सृष्टि करती हैं। शिव मूलतः पूर्ण होने पर भी स्वातन्त्र्य शक्ति से बाह्य रूप में प्रकट होने की इच्छा करता है और सर्वप्रथम यह 'अहम' (मैं हूँ) इस अनुभव को प्राप्त करता है तत्पश्चात् वह 'इदम' (यह है) ऐसा अनुभव करता है किन्तु ये दोनों अनुभव अस्फुट रहते हैं। 'इदम्' यह ज्ञान बराबर 'अहम'—इस ज्ञान से संयुक्त रहता है। ज्ञानशक्ति की प्रधानता इस अवस्था में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। अहम व इदम यदि अस्फुट अवस्था में ही रहें और ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति का संयोग इनके साथ न हो तो सृष्टि नहीं हो सकती।[2] इसीलिए ज्ञान शक्ति के साथ जब अहम व इदम् के अनुभवों का संयोग होता है तब शैव दर्शन शिव की इस स्थिति को 'ईश्वर' संज्ञा देता है। कलाकार को भी इसलिए ईश्वर या स्रष्टा कहा गया है। ईश्वरीय अवस्था

---

१ अभिव्यक्ति के विवेचन में अलंकार भाषा छन्द आदि के भेद करते हुए व्याख्या करना केवल बाह्य व्याख्या है और मात्र व्यावहारिक है। वास्तविक दृष्टि से अभिव्यक्ति को, माध्यम से अथवा कलाकार की मानसिक शक्तियों से भिन्न नहीं किया जा सकता।

२ शैव दर्शन का यह निर्णय सौन्दर्य शास्त्र के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मनोविश्लेषक कला में 'अवचेतन' मन को ही सर्वस्व मानते हैं, जो एक अतिवाद है। इसी प्रकार दिवास्वप्न या भ्रम सृष्टि की इच्छा भी कला का मुख्य कारण नहीं है। कल्पना की अतिशयता में विश्वास करने वाले ज्ञान का महत्व कला में स्वीकार नहीं करते अतः यह सिद्धान्त भी अतिवादी है। कला-सृष्टि में ज्ञान शक्ति अनिवार्य रूप से रहती है। कॉलिंगवुड ने तो ऐन्द्रिय अनुभव (Sensation) और विचार (Thought) के मध्य 'कल्पना' (Imagination) का स्थान माना है।

में क्रिया शक्ति कार्य करने लगती है। क्रिया शक्ति के पूर्व सृष्टि कलाकार के मन में स्थिर रहती है। क्रिया के द्वारा वह बाह्य रूप धारण करती है।

अहम् व इदम् के अनुभव को माया, कला, विद्या राग काल व नियति-ये तत्व शासित करते हैं ये ही कंचुक या आवरण हैं इनसे आवृत होकर ही शिव सृष्टि करता है। इनमें अहम व इदम का भेद करने वाली शक्ति 'माया' कहलाती है। इसी मायाशक्ति से शिव को जीव संज्ञा प्राप्त होती है।

माया रूप का गोपन करती है अर्थात जो पूर्ण चैतन्य है, उसे अल्प रूप में प्रकट होने देती है। यही माया सृष्टि कारिणी होने से "कला" कहलाती है। यह कला का 'दार्शनिक' और विशेष अर्थ है। "कला" से ही कर्म की ओर हम उन्मुख होते हैं और कर्म की ओर उन्मुख होने के लिये यह आवश्यक है कि शुद्ध चैतन्य जाग्रत हो और साथ ही स्वरूप गोपन हो। इसीलिए प्रारम्भ में ही कहा गया है कि परम शिव की स्थिति में अर्थात् शुद्ध चैतन्य की स्थिति में सृष्टि संभव नहीं है। 'कला' का अर्थ क्या है? कला का अर्थ है—'किंचित्कर्तृत्व—' कुछ करना ही कला है। अतः केवल कविता लिखना या चित्रकारी ही कला नहीं है अपितु प्रत्येक कार्य में कला-शक्ति कार्य करती है और प्रत्येक कार्य में—प्रत्येक सृष्टि में वही आनन्द प्राप्त होना चाहिए जो कवि को काव्य-सृष्टि से मिलता है। प्रत्येक कर्म में कर्ता की मानसिक स्थिति वही होती है जो एक कलाकार की होती है। मिट्टी से छोटे-छोटे घर बनाने वाला बालक खेत को तैयार करने वाला कृषक, गृहस्थी सँवारने वाली गृहिणी, ये सब कलाकार हैं अन्तर केवल यह है कि काव्य, चित्र आदि के सर्जन में कलाकार का स्वरूप-गोपन कुछ कम होता है और वह उस समय, निकटतम लाभ की इच्छा से सर्जन नहीं करता। यदि कृषक की मानसिक स्थिति भी यही रहे तो वह भी कलाकार कहा जा सकता है। इसी लिये शव-दर्शन में कला के दो रूप स्वीकृत हैं। प्रथम अशुद्ध कला,—इसमें जड़ता प्रधान रहती है, जड़ता का अर्थ है, आंतरिक प्रकाश का किंचित् अभाव। ईर्ष्या, द्वेष मोह, क्रोध आदि में शुद्ध कला की सृष्टि संभव नहीं है। द्वितीय शुद्ध कला—इसमें जड़ता दूर हो जाती है आंतरिक प्रकाश या चैतन्य

ऐन्द्रिय अनुभव को कल्पना में ज्ञानशक्ति ही परिवर्तित करती है बिना ज्ञानशक्ति के कल्पना ऐन्द्रिय अनुभवों को इच्छित रूप नहीं दे सकती। अतः कला में ज्ञानशक्ति मान्य होनी चाहिए, किन्तु ज्ञानशक्ति का बौद्धिक रूप जिसका प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में होता है सृष्टि के लिए आवश्यक नहीं है।

का उदय होता है, इसीलिए गीत, काव्यादि में आनन्द उत्पन्न होता है। उदासीनता के दूर होने से, व्यक्तिगत जड़ता के नाश से और शुद्ध चैतन्य के साक्षात्कृत होने से शुद्ध कला का जन्म होता है। सुन्दर से सुन्दर शब्दों और उक्ति-वैचित्र्य का धुआँधार प्रयोग करने पर भी यदि स्रष्टा की चेतना शुद्ध नहीं है, यदि वह निजी क्रोध व ईर्ष्या आदि से पीड़ित है तो शुद्ध कला का जन्म असम्भव है। शिल्प व जादू (चारु चातुर्य) का 'कला' नहीं वह संकेत यद्यपि इनकी सहायता कला में आवश्यक है। कला में आत्म परामर्श स्वरूप-शोधन, विकल्प, ज्ञान व बाह्य रूप में अपने को व्यक्त करने की इच्छा ये पाँच तत्व अनिवार्य हैं। शुद्ध चैतन्य तत्व स्वयं अपने को जाग्रत करके, कला के रूप में अभिव्यक्त होता है।

जिस प्रकार बीज में सर्वप्रथम उच्छूनता (Swelling) उत्पन्न होती है, वैसे ही कर्ता में यह कला उत्पन्न होती है। ज्ञान इच्छा व क्रिया द्वारा यह कला-शक्ति स्वयं प्रेरित, बनकर स्रष्टा से सृष्टि कराती है। कला द्वारा सृष्टि करके स्रष्टा अपने को सार्थक मानता है। अपने को कर्त्ता मानने से, उसे एक विशेष आनंद प्राप्त होता है, उसी प्रकार, जिस प्रकार शिव को सृष्टि कार्य में आनंद होता है। अतः कला द्वारा कर्त्ता अपनी कर्तृता (करने की शक्ति) की अभिव्यंजना करता है। कला द्वारा ही कर्त्ता भोग करता है और आनंद पाता है।[1]

कला ज्ञान के अभाव में अधःपतन की ओर भी ले जाती है। कला को मात्र मनोरंजन समझने वालों के लिये यह महत्वपूर्ण है। ज्ञान के पूर्व कला "दोषालय" है और ज्ञान के बाद "शुभा" यही कला का "मर्म" है। कला का मर्म समझ लेने से निर्लिप्तता आती है। स्रष्टा विवेकहीन होने पर दोषपूर्ण कला को जन्म देगा और श्रोता या दर्शक भी ज्ञान के अभाव में शुद्ध कला से भी अधःपतन को प्राप्त होगा यह निश्चय है। विवेक क्या है? अकर्तृत्व का अनुभव ही विवेक है। इसके बिना स्रष्टा अहंकार के कारण विकास नहीं कर सकता और पाठक या दर्शक आसक्ति के कारण कला को केवल वासना-पूर्ति का साधन समझ बैठेगा। विवेक के उत्पन्न होने पर न केवल कविता चित्र आदि अपितु जगत् का प्रत्येक अनुभव, प्रत्येक कार्यकलाप, प्रत्येक दृश्य आनंद

---

१ कर्तृ शक्ति व्यनक्त्यस्य कला सात प्रयोजिका।
तत कलासमायुक्तो भागेण कर्तृ कारकम तन्त्रालोक नवम आह्निक

का सजन करता है और सुख-दु खादि मे चेतना का क्षोभ, उसकी आतरिक शाति का नष्ट नही कर पाता। चेतना के बाह्य स्तरों, मन व इन्द्रिय जगत् को क्षुब्ध करके जो कलाकार आतरिक रूप से स्वस्थ और तटस्थ नहीं रह सकता, वह कलाकार नहीं है मानसिक रोगी है। इसीलिय कला का जन्म सात्विक अवस्था मे सभव है। 'तामस व रजस' की स्थिति म कला का जन्म नही होता, शिल्प और शोक का ज म होता है। 'ध्वन्यालोक' अभिनव भारती' तथा काव्य प्रकाश' म इस सात्विक स्थिति का विस्तार मे वणन किया गया है। कला के लिय सात्विकता अनिवाय है। सात्विक स्थिति मे ज्ञान शक्ति की सहायता से राग' की व्यजना ही कला' कहलाती है।

इस प्रकार विद्या स विषय का चयन राग से निश्चित विषय के प्रति तल्लीनता तथा कला से रूपो की सष्टि हाने पर ही सृष्टि होती है। यह सृष्टि काल विशेष म ही होती है अत काल भी सहायक तत्व है। नियति तत्व से सष्टि या क्रम विशेष करन की प्रेरणा होती है अत माया कला, विद्या, राग, काल व नियति ये कचुक सृष्टि के लिय अनिवाय है। इनम काल' का छोडकर सभी मानसिक प्रेरणाएँ या स्थितिया हैं। नियति ईश्वरीय प्रेरणा है अत उसे हम छोड सकते हैं। विद्या ज्ञान का ही एक रूप है, बुद्धि भी ज्ञान का ही एक रूप है जो इन सभी कचुको से होने वाली सृष्टि से उत्पन्न "अहम्" का मनन कराती है। इसी बुद्धि म शुद्ध चतन्य प्रतिबिम्बित होता है, अत बुद्धि द्वारा अह का मनन या परामश वस्तुत स्वय चतन्य का ही परामश है। इस प्रकार उपयुक्त सष्टि की सारी प्रक्रिया चतन्य के द्वारा एक 'आभास' या प्रतिबिम्ब की प्रक्रिया है। आत्मा की भित्ति पर ही आत्मा की स्वतत्र इच्छा शक्ति से ही यह सारी क्रीडा हो रही है और इस क्रीडा के द्वारा स्रष्टा आनद म निमग्न रहता है।

आनन्दवाद—

अविद्या या माया के कारण आनदरस मे पूण यह जगत् जो शिव की क्रीडा है दु खरूप प्रतीत होता है। माया क कारण भेद बुद्धि उत्पन्न होती है और कर्ता जगत् को अपन से भिन्न समझ उठता है। वह आतरिक प्रकाश या विवेक क अभाव म कल्याणी सष्टि को अपन अज्ञान स उत्पन्न दु ख के कारण दु खमयी मान लेना है परन्तु यह उदासीनता या अवसाद कला के मम को न समझ पान क कारण है। जगत् सूक्ष्म चेतना का ही व्यक्त रूप है, यह ज्ञान हो जाने पर अपरिमित आनद उत्पन्न होता है। यह स्फुरणा चतना का "हृदय"

कहलाती है।[1] इससे युक्त व्यक्ति 'सहृदय" कहलाता है।[2] और तब दुःखादि भावनाओं में भी वह आनन्दमय रहता है। शोक व बीभत्स के वर्णन में आनंद इसीलिये मिलता है कि उस समय सहृदय सात्विक स्थिति में होने पर निजी राग व द्वेष से ऊपर उठ जाता है। उस समय विभाव, अनुभाव, संचारी भावों आदि के वर्णन या दर्शन से सहृदय' अपनी चेतना के शुद्ध रूप की झलक पा जाता है और उस शुद्ध चेतना के ऊपरी स्तरों—सुख दुःखादि भावों का, जो कि साधारणीकृत हो जाते हैं, भोग करता है। इस प्रकार कला द्वारा सहृदय अपने भावों का भोग करता है। कला का सौन्दर्य सहृदय' की इस मानसिक अवस्था को उद्दीप्त करने में है। कला द्वारा वर्णित विषय सहृदय की स्फुरणा को जाग्रत कर देते हैं और तब सहृदय अपने ही आनन्द की चर्वणा" करता है। यहाँ विषयी गत सौन्दर्य और विषयगत सौंदर्य दोनों एक हो जाते हैं, यही 'रसावस्था" है। रस की अवस्था में, चेतना में प्रतिबिम्बित होने वाले सुख-दुःखादि वासनाओं का भोग आनन्द देता है जबकि शुद्ध चेतना के सुप्त रहने पर, निजी सुख-दुःख के अनुभव से संकट मोह और शोक होता है। जिस प्रकार दर्पण में भूमि जलादि प्रतिबिम्बित होते हैं और साथ ही वे दर्पण से अभिन्न भी रहते हैं, उसी प्रकार रसावस्था में, शुद्ध चेतना के जाग्रत हो जाने पर अर्थात विगलितवेद्य होने पर (निजता परतादि का भान न रहने पर) सुख दुःखादि भावनाओं का वर्णन, चित्रण या प्रदर्शन आनन्ददायी होता है।

यह सारा विश्व चैतन्य से संलग्न होकर ही आभासित हो रहा है। अतः चैतन्य स्वच्छ है। उसमें सब विश्व प्रकाशित है। यदि संवित् या चेतन स्वच्छ नहीं है तो उसमें पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। प्रतिबिम्ब रूप का ही क्यों दिखाई पड़ता है? क्योंकि रूप तेज का साथी है अतः नेत्र को केवल रूप का ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है स्पर्श आदि का नहीं किन्तु भान, स्पर्श आदि का भी होता है अतः रूप का प्रतिबिम्ब प्रधान होने से, कला के क्षेत्र में रूप की ही महिमा है यद्यपि शब्द स्पर्श रस और गन्ध भी आनंद दायक हैं। रूप ही स्पर्शादि की ओर बढ़ने के लिये उत्तेजित करता है। यथा

---

१ सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।

२ आनन्दशक्ति सैवोक्ता यतः सहृदयोजनः—

वही

कामिनी के रूप को देखकर ही, स्पर्शादि की इच्छा कामुक करता है। बस ही रूपों के प्रतिबिम्ब से हम क्रमश जगत् के मूल मे स्थित चेतना की ओर बढते हैं। रूप, रस, गंध आदि का बार बार भोग करके भी हम तृप्त नही होते क्योंकि इन आभासो के पीछे शुद्ध चेतना की प्राप्ति जब तक नही होती तब तक ये रूपरसादि क्षोभ कर ही रहते है[1] किन्तु आनद के मूल स्रोत को प्राप्त कर लेने पर रूप, रस, गधादि क्षोभकर नही होते, अपितु ये शाति के सहायक हो जाते हैं। अत रसावस्था मे, चेतना का आवरण एक सीमा तक भग हो जाने पर, रूप, रस, गध सुख दु खादि सब आनन्द के सहायक हो जाते हैं। अत जगत् म जो आह्लादकारी पदार्थ हैं, रूप हैं, व सब आनद के मूल स्रोत से, संलग्न कर देने पर पूजा के उपकरण बन जाते है।[2] इसीलिये भारतीय काव्य और कला रहस्यात्मक और सकेतात्मक है व्यजना का इसीलिये हमारे यहाँ आदर है। केवल भोग की लालसा को कला द्वारा व्यक्त करना, पाप माना गया है। इस लालसा को शैव दर्शन लोलिका' कहता हैं। 'लोलिका' में अपूर्णता का अनुभव रहता है अत लालसा प्रधान कला विनाशकारिणी है। मनोविश्लेषण की भाषा मे कह तो यह कला हमारा उदात्तीकरण नही करती अथवा कालिङ्गवुड की शब्दावली का प्रयोग कर तो उसम भावनाओ और प्रवृत्तिया का वशीकरण (Domesticating) नही होता।

निष्कर्ष—शैव-दर्शन म प्रथम शिक्षा यह मिलती है कि कला स्वतः स्फूर्त चेतना का उच्छलन है। चेतना का स्वरूप ही ऐसा है कि उसम अपने को प्रकाशित करने की इच्छा रहती है अत इस दृष्टि से इस सिद्धात को 'स्वरूपवाद" कहा जा सकता है।

---

१ प्रच्छन्न रागिणीकान्त- प्रतिबिम्बितसुन्दरम्
दर्पण कुचकुम्भ्या, स्पृशत्यति न तथ्रानि–तन्त्रा० तृतीय आह्निक

२ यदिन्द्रिय मानसाह्लादि यत्रक्वापोन्द्रियस्थितौ।
योज्यते ब्रह्म सद्धाम्नि—पूजोपकारण हि तत–तन्त्रा० चतु० आ०

तान्त्रिकों और वैष्णवों ने इसीलिये इन्द्रिय और मानस जगत को—शब्द, स्पर्श रूप रस गन्ध, इच्छा, आशा, रति आदि को पूजा का उपकरण स्वीकार किया था और केवल भगवान को इनका लक्ष्य बनाकर–लीला वर्णन द्वारा कला और साहित्य के क्षेत्र म अद्भुत सृष्टि की थी। किसी महान लक्ष्य के लिये यदि ऐन्द्रिय जगत व मानसिक जगत को उपकरण न बनाया जायगा, तो कला भ्रष्ट हो जायगी।

(२) स्रष्टा व सृष्टि एक और अभिन्न हैं, सृष्टि म स्रष्टा अपने शक्ति रूप से रूपातरित हो जाता ह अत स्रष्टा व सृजन में आत्यन्तिक एकता ह। जिस सृजन म कलाकार के 'स्व' पर प्रकाश नही पडता उसके व्यक्तित्व का अ श व्यक्त नही होता, वह कलाहीन हो जाती ह।

(३) कला का आनन्द स्वत अपने म पूण होता ह, वह शिवत्व या सत्य का विरोधी नही ह परन्तु ये तत्व अप्रत्यक्ष रूप स कला को प्रभावित करते है। काट जिसे 'उद्देश्यहीन उद्देश्य' (Purposiveness without Purpose) कहता ह, वही वस्तुत सुन्दर सृष्टि का उद्देश्य होता ह।

(४) 'सुदर किसे कहते हैं कोई पदाथ सुन्दर क्यो लगता ह ? आदि प्रश्नो के उत्तर मे निवेदन यह ह कि शव जगत् के सभी पदार्थों को सुदर मानते हैं, जो पदाथ अधिक सुदर प्रतीत होते हैं उनम ब्रह्मतज अधिक व्यक्त हो रहा ह ऐसा उनका विश्वास ह। ज्यामिति क आधार पर सौंदय के बाह्य कारणो की मीमासा इस दशन म नही मिलती परन्तु अ तमु ख सौदय (Subjective beauty) की व्याख्या अवश्य मिलती ह। सुदर या असुदर—यह अनुभव हमारी वासना पर निभर करता ह। देश, जाति काल, पात्र के भेद से सौदय के अनक स्तर व मापदण्ड बन गये है परन्तु चेतना के साथ सम्पृक्त हो जाने पर असुदर पदाथ भी सुदर प्रतीत होने लगत हैं। शिवत्व तथा सत्य का ज्ञान हो जाने पर ही सौदय का वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है। अत सौदय का शिव और सत्य स अभिन्न सम्ब ध है। इसका अथ यह नही है कि सौदय सृष्टि स्थूल नतिकता और दशन शास्त्र से निर्णीत सत्य का दस्तावेज है। शिव तथा सत्य अप्रत्यक्ष रूप स कलाकार की चेतना मे स्फूर्ति उत्पन्न करत है, अत आत्मस्फुरण की अभिव्यक्ति कला है और आत्म' का निर्माण शिव और सत्य के ज्ञान से पूण होता है, बाह्य जगत् तथा समाज आदि सभी का ज्ञान 'शिव-सत्य' मे सम्मिलित है।

(५) पारमार्थिक दृष्टिकोण से सौदय सृष्टि के ये सिद्धात हीगेल से सादृश्य रखते हैं। एक सत्य या विचार (Idea) ही कला मे व्यक्त होता है उसी प्रकार जिस प्रकार एक ब्रह्म जगत् के द्वारा व्यक्त हो रहा है।[1]

---

1 In Art, reality shines as beauty through a medium which may be directly presented as in the cases of a statue a building or strain of music or in sensuous imagery as in poetry (History of Modern Philosophy—W K Wright)

(६) सर्जन-क्षणों के ज्ञान शक्ति, कल्पना (इच्छा का एक रूप)[२] राग आदि वृत्तियों में पूर्ण सामञ्जस्य की आवश्यकता है। 'वृत्ति सामरस्य' ही तादात्म्य की सृष्टि करता है। बिना 'तादात्म्य' के आनंद की सर्जना नहीं हो सकती। अतः कला की सफलता सामरस्य पर आधारित है। किंचित् संतुलन के अभाव में ही कला विकलांग हो जाती है। उदाहरण के लिये 'कामायनी' में ज्ञानशक्ति व रागतत्व का सामंजस्य पूर्ण मात्रा में नहीं हो सका। उसमें बुद्धि तत्व किन्हीं सर्गों में अधिक व्यक्त हुआ है। परन्तु यह स्मरणीय है कि 'कामायनी' में कई स्थलों में पर्याप्त "सामरस्य" है। पंतजी के नूतन काव्य में बुद्धितत्व बहुत अधिक है अतः काव्य, घोषणा में परिवर्तित हो गया है यद्यपि उसमें यत्र-तत्र बिखरा हुआ काव्य वैभव अवश्य मिलता है। 'सामरस्य' का अत्यधिक अभाव मात्र रूपवादी (फार्मलिस्ट) काव्य में मिलता है। इसमें सर्जन की अस्थिरता के क्षणों में ही अभिव्यक्ति होती है अतः विचार-सूत्र कहीं बहुत क्षीण, कहीं अव्यवस्थित और कहीं विकृत रूप में (कुण्ठा में) व्यक्त होता है। रागतत्व के उलझे हुए तार, संगतिहीन संगीत को जन्म देते हैं, 'सनकी' काव्य का भी यही स्थिति है। आज की चित्र कला में भी 'सामरस्य' की न्यूनता है। सर्जन के समय यदि मानसिक स्थिति सूत्रहीन होगी तो सृष्टि के पश्चात्—मानसिक स्थिति बदल जाने पर कला का समझ लेना दुःसाध्य होगा। शैव सौंदर्य शास्त्र अधिदर्शनात्मक है उसमें चेतना की प्राथमिकता स्वीकृत होने से वह, वैज्ञानिक और वस्तुगत चिंतन नहीं है लेकिन उसमें अनेक अंतर्दृष्टियाँ और महत्वपूर्ण संकेत हैं।

---

२ 'कल्पना' शब्द का प्रयोग शैव शासन में नहीं मिलता, किंतु इसे इच्छा [illegible] एक रूप माना गया है। कुछ लोग इसे 'प्रातिभ ज्ञान' यह नाम देना चाहते हैं, जो गलत है क्योंकि प्रातिभ ज्ञान स्वयं प्रकाश्य ज्ञान (Intuition) है, जबकि 'इच्छा या कल्पना' में ज्ञान शक्ति की जागरूकता स्पष्ट दिखाई पड़ती है, प्रातिभ ज्ञान अकस्मात उदित होता है।

'सौन्दर्य प्रकार'' मिलते हैं और सभी कलाओं में यह कला 'अनुस्यूत' रहती है, क्योंकि कल्पना इसका मुख्य तत्व है। कल्पना से ही सभी प्रकार की सौन्दर्य सृष्टियाँ सम्भव होती हैं। काव्य में ही मानवीय आत्मा की अनुभूति पूर्ण रूप में व्यक्त होती है।

हीगेल का विभाजन योरोपीय सौन्दर्य शास्त्र में सबसे अधिक व्यवस्थित, माना जाता है। हम पहले कह आये हैं कि भारतीय विचारकों ने काव्य तथा सगीत को विद्या तथा चित्र, मूर्ति एवं स्थापत्य को 'कला' माना है। माध्यम की दृष्टि से हीगेल का विभाजन वैज्ञानिक हो सकता है जैसे कि प्रसाद जी का मत था। परन्तु आनन्द की दृष्टि से भारतीय उक्त विभाजन को स्वीकार नहीं कर पाते। कारण यह है कि काव्य और सगीत का लक्ष्य हमारे यहाँ 'रसानुभूति' माना गया है आचार्यों ने तो कलाओं का उद्देश्य भी रसनिष्पत्ति सिद्ध किया है। अर्थात रसवादियों के अनुसार विद्या और कला दोनों का लक्ष्य रसनिष्पत्ति है। अतः विभिन्न माध्यमों से एक ही लक्ष्य रस की पूर्ति मानी गई है। भारतीय सौन्दर्य शास्त्र यह स्वीकार नहीं करता कि स्थापत्य चित्रादि कलाओं में विचार' तत्व की अपूर्ण अभिव्यक्ति होती है। भाव को रूप में बदल देना ही कला है और भवन मूर्ति आदि से भी भावाभिव्यक्ति होती है। माध्यम की विशिष्टता के अनुसार आनन्द भी विशिष्ट रूप धारण करता है। उदाहरण के लिए हीगेल की यह बात सही है कि कोमल माध्यमों–रग, स्वर, शब्द द्वारा विचार को अधिक सुविधा के साथ मूर्त किया जा सकता है परन्तु यह भी मानना पड़ता है कि स्थापत्य तथा मूर्ति कला में कठोर माध्यमों के द्वारा रूप का विन्यास अधिक स्थिर और इन्द्रियों के लिए अधिक स्पष्ट होता है। चित्र सगीत तथा काव्य में सांकेतिकता के साथ-साथ अस्पष्टता और अस्थिरता भी अनिवार्य रूप से आ जाती है। इसके विपरीत स्थापत्य तथा मूर्ति कला में स्पष्टता और स्थिरता अधिक रहती है।[१] अतः ललितकलाओं में प्रत्येक कला की अपनी अपनी विशेषतायें हैं। इनमें हीनता और उच्चता के निर्धारण के स्थान पर इनकी विशिष्टताओं का विचार ही अधिक वैज्ञानिक होगा अन्यथा विभाजन अशुद्ध होगा। हीगेल के विभाजन में यही दोष है कि वह कलाओं की अद्वितीय विशिष्टताओं पर जोर नहीं देता।

माध्यमों में कुछ 'चल'' तथा कुछ 'अचल'' होते हैं अतः 'चल' माध्यम वाली कला में रसिक को 'अचल'' होना पड़ता है। यथा सगीत में

१—सौन्दर्य-शास्त्र—डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १४६

स्वरा के आरोह-अवरोह का आनन्द लेने के लिए चित्त को स्थिर करना पड़ता है। "अचल" माध्यमो वाली कला म रूप का विन्यास स्पष्ट होता है, अत रसिक को इसका आनद लेते समय अपने म 'चलता' या गति लानी पडती है। मूर्ति दशन म रसिक नत्रादि के चालन' से गति की खोज करता है।[१] यहाँ भी कलाओं की विशिष्टता द्रष्टव्य है। प्रत्येक कला का सौन्दय सब कलाओं म एक सीमा तक सामान्य होने पर भी कुछ विशिष्ट' भी रहता है जो दूसरी कला मे नही मिलता। अत प्रत्येक कला इस दृष्टि से दूसरी से श्रेष्ठ होती है।

हीगेल ने कहा है कि सगीत म स्थान (स्पेस) की जगह 'काल' रह जाता है परन्तु भारतीय दृष्टि काल के 'चल' और स्थिर' दो रूप मानती है। स्थापत्य म इसी स्थिर काल तत्व का आनन्द है। हीगेल आइडिया' के केवल मूत रूप को महत्व देता है जबकि भारतीय दृष्टि से उसका अमूत रूप भी भारतीय कलाओं द्वारा व्यक्त हुआ है। मन्दिर, मूर्ति स्थिर काल के तथा सगीत, काव्य प्रवहमान काल तत्व के व्यजक कला रूप हैं। शॉपेन हाउर भी सगीत कला को अन्य कलाओ से विशिष्ट मानता है।

भवन कला से स्थिरता, सुरक्षा और दृढता का अनुभव होता है।[२] हमारी बुद्धि को अचल सत्या का बोध इसी कला द्वारा हो सकता है। इसमे विचार के चिरन्तन तत्व की स्थूल अभिव्यक्ति होन से यह अन्य कलाओ से विशिष्ट होती है। इसी प्रकार आकार' की सम्पूणता सबसे अधिक इसी कला म होती है।

---

१ वही, पृष्ठ १४७

२ हीगेल क पश्चात शॉपेनहाउर ने स्थापत्य द्वारा कुछ सत्यों की व्यजना की सभावना स्वीकृत की है। उसके अनुसार 'स्थापत्य' मे गाम्भीय (gravity) स्पष्टता (cohesion), स्थिरता (rigidity) कठोरता (hardness) को अभिव्यक्ति मिलती हैं। शापेनहाउर मनुष्य के दुख का कारण इच्छा' (will) को मानता है। ज्ञान भी इच्छा के अधीन रहता है। कला मे हम कुछ समय के लिये 'इच्छा' से स्वतत्र हो जाते है। स्थापत्य को यद्यपि यह निम्नकोटि की कला मानता है तथापि स्थापत्य हमें 'इच्छा' से मुक्त करता है। अत शॉपेनहाउर ने हीगेल से कहीं अधिक स्थापत्य का महत्व स्वीकार किया है।

इसी प्रकार मूर्तिकला म प्रस्तर अथवा धातु से उसी न्य आनन्द की सृष्टि होती है, उसी सांकेतिकता का ज म होता है जो काव्य और संगीत मे होती है। अर्थ, स्वर, रस आदि के अधीन न रहकर कलाकार मूर्ति निर्माण मे अधिक स्वतंत्रता का अनुभव करता है। इस सम्बन्ध मे डा० हरद्वारीलाल शर्मा का यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि 'पत्थर म अव्यक्त शून्य अवस्था इसे कला के लिये उपयुक्त माध्यम बनाती है। अ यक्त म प्रबल और स्पष्ट व्यक्तित्व का आविर्भाव ही कला सजन है कि तु हीगेल आदि दार्शनिको ने मा यम के इस गुण पर ध्यान न देकर पत्थर आदि को कला की नीची श्रेणी का माध्यम माना है।"[1] कठोर माध्यम से स्थिरता और चिरन्तनता की अभि यक्ति म जो सहायता मिलती है वह अ य किसी माध्यम से नही मिल सकती। भारत मे कुशलता प्रियता के कारण ही मूर्तिकार को शिल्पकार माना गया न कि इसलिए कि मूर्तिकला हीन कला है। हमारे यहा शवो वष्णवों और बौद्धा न मूर्तियो मे जिस सौ दय का अ कन किया है वह हमारे महा का यो से कम सु दर नही है। कामायनी और ताजमहल म कौन अधिक सुन्दर है [2] भारतीय दृष्टि से दोनो म अपना-अपना विशिष्ट सौ न्य है अत हीगेल का विभाजन विवादास्पद है।[2]

मनुष्य शब्द स्पर्श रूप, रस और गन्ध का भोग कला द्वारा उच्च स्तर पर करता है। इनके साथ ही सारा मानसिक जगत भी संयुक्त होकर कला म व्यक्त होता है अत स्थापत्य, मूर्ति एव चित्र म रूप' का आनन्द नत्रों को अधिक आकर्षक लगता है और संगीत तथा काव्य म शब्द हमारी कर्णेन्द्रियों को अधिक आकर्षित करत हैं। गन्ध रस तथा स्पर्श की तृप्ति भी वस्तुओं के वर्णन या चित्रण द्वारा मिलती है। अत कलाओ के विभाजन म न तो मात्र माध्यम को आधार बना कर श्रेष्ठता निश्चित हो सकती है और न मात्र

---

१ सौन्दर्य शास्त्र —डा० हरद्वारीलाल शर्मा, पृष्ठ १९६

२ हीगेल के अनुसार मूर्तिकला क्लासिकल कला है, अत स्थापत्य से उच्चतर होने पर भी उसमे स्वच्छन्दता नहीं है। शापेनहाउर के अनुसार यद्यपि मूर्तिकला स्थापत्य से श्रेष्ठ है परन्तु उसने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मूर्तिकला में 'इच्छा' की अधीनता नष्ट होती है और हमारा ध्यान रूप से विचारों और भावों की ओर जाता है। अतएव शापेनहाउर ने इस कला को भी हीगेल से अधिक महत्व दिया है। प्रत्येक कला जगत के दुखों को दूर करने में सहायक है।

आचार्य वामन और प्रयोगवाद

कतिपय प्रयोगवादी बन्धु कहते हैं कि प्राचीन काव्यशास्त्र आधुनिक कला और काव्य के मूल्यांकन में पूर्णतः अक्षम है। निश्चित रूप से प्राचीन आचार्यों ने अपने समय के साहित्य के आधार पर ही विचार किया है। एक यह भी कठिनाई थी कि संस्कृत भाषा का साहित्य जन प्रचलित नहीं था वह केवल शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था फिर भी हमारे आचार्यों की अन्तर दृष्टि इतनी गम्भीर थी कि हमारी नवीनतम कला और कविता के मूल्याङ्कन में भी प्राचीन काव्यशास्त्र से सहायता मिलती है। क्योंकि नूतन काव्य शास्त्र प्राचीन काव्यशास्त्र के इन उपयोगी अंशों की नींव पर ही खड़ा हो सकता है अतः यहाँ नयी कविता के बहुप्रचारित बिम्बवाद अथवा सादृश्यवाद' पर वामन की अन्तर्दृष्टियुक्त विवेचना उपयोगी हो सकती है।

नवीनता का जो आन्दोलन आज चल रहा है संस्कृत साहित्य में भी वह एक सीमा तक प्रचलित हुआ था इसके प्रमाण मिलते हैं। प्रायः नूतन बिम्बों के अनुसन्धान में कविजन उसी प्रकार अनौचित्य की ओर चल जाते थे जिस प्रकार हमारे आज के प्रयोगवादी कवि। फलतः हास्यरस की सृष्टि तो होती थी किन्तु कवि को हास्यरस अभिप्रेत न होता था। रति उत्साह शोक की अभिव्यक्ति में बिम्बों की अनुपयुक्तता से श्रोता लोग हँसने लगते थे उसी प्रकार जिस प्रकार आज के अनुचित सौन्दर्य बोध के कारण लोग हँस पड़ते हैं अतः आचार्य वामन ने विस्तार से अप्रस्तुत विधान के अनौचित्य पर विचार किया है।

अलङ्कारवाद में दो प्रकार की रुचियाँ प्रधान थीं। भामह और उनके अनुयायी वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति को उक्ति मात्र का सौन्दर्य मानते थे। प्रयोगवाद की व्यंग्यमय, भर्त्सनात्मक तथा प्रहारात्मक रचनाओं के विवेचन के लिए भामह' और वाद के कुन्तक का वक्रोक्तिवाद सहायक हो सकता है किन्तु प्रयोगवाद नवीन मानसिक स्थितियों के लिए नए उपमानविधान या बिम्ब विधान पर भी बल देता है अर्थात् विरोधमूलक उक्तियों के अतिरिक्त, प्रयोगवाद में साम्यमूलक अलङ्कारों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में होता है वामन ने इसी पक्ष पर अपने उपमा विवेचन में बल दिया है। वामन द्वारा विवेचित

उपमा अलंकार बिम्ब विधान के लिए उपयोगी है। वर्ण्यवस्तु की चेतना में स्फूर्ति करने का एकमात्र उपाय उपमा है। सदृश प्रतिवस्तु ही बिम्ब है।[1] डा॰ रॉबिन्स के अनुसार बिम्ब या 'इमेज' प्रतीक, उपमा और रूपक—इन तीन रूपों में प्राप्त होती है। इनमें वामन रूपक को उपमा का ही एक भेद मानते हैं और बहुत से प्रसिद्ध उपमान ही 'प्रतीक' बन जाया करते हैं। प्रतीक में बिम्ब का आधारभूत गुण 'सादृश्य' कम मात्रा में ही रह पाता है अर्थात् प्रतीक में सादृश्य एकदेशीय और अपर्याप्त रह जाता है अतः भारतीय साहित्य और सिद्धान्त में प्रतीक से उपमा का अधिक आदर हुआ है। वामन के अनुसार जहां गुणों में उपमान उत्कृष्ट हो किन्तु गुणलेश से उपमेय के प्रति साम्य हो, वहां उपमा होती है।

इसका ध्वनित अर्थ यह है कि श्रोता एक ओर तो कवि द्वारा वर्णित वस्तु तथा अनुभूति का आनन्द लेता है और साथ ही वह वर्ण्यवस्तु से भी अधिक उत्कृष्ट 'बिम्ब' या 'इमेज' का भी आनन्द ग्रहण करता है। वामन के अनुसार उपमान या बिम्ब दो प्रकार के होते हैं लोकप्रसिद्ध यथा चन्द्रमा के समान मुख तथा कविकल्पित। प्रयोगवाद कविकल्पित उपमानों का आन्दोलन है यह वामन के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है। कविकल्पित उपमानों के लिये वामन ने नवीं शताब्दी की अवधि तक संस्कृत साहित्य के नूतन बिम्बविधान को प्रस्तुत किया है। यह स्पष्ट नहीं होता कि वामन ने ऐसे "प्रयोगवादी" उदाहरणों की स्वयं रचना की है अथवा दूसरों के पद्य उद्धृत किए हैं। यदि ये उदाहरण स्वयं उनके हैं तो निश्चित रूप से वामन एक अच्छे 'प्रयोगवादी' कवि थे जो आज के किसी भी प्रयोगवादी को भी प्रभावित कर सकते हैं। कविकल्पित उपमा का यह उदाहरण है—

> उद्गमनृत्यत्तरुणीरमणोपमर्द—
> भुग्नोन्नतस्तननिवेशनिभं हिमांशोः।
> बिम्बं कठोरबिसकाण्डकडारगौरैर्विष्णोः
> पदं प्रथममग्रकरैर्व्यनक्ति।[2]

अर्थात् व्यक्तगर्भा हुई सुन्दरी के उपमर्दन और आलिंगित होने के कारण दमित और कृष्णमुख स्तन के समान चन्द्रमा का बिम्ब पके हुए मृणाल-

---

१ आधुनिक विचारकों के अनुसार बिम्ब में वर्ण्यवस्तु का मात्र सादृश्य नहीं होता। बिम्ब में, कुछ और का अतिरिक्त तत्व भी होता है।

२ काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति द्वितीय अध्याय अधिकरण ४

दण्ड के समान पीत और शुभ्र उदयकालीन किरणों से आकाश को प्रकाशित कर रहा है।

यहाँ चन्द्र बिम्ब की उपमा गर्भिणी हूण तरुणी के स्तन से दी गई है। सर्वथा नूतन कल्पना है। इसी प्रकार आधुनिक प्रयोगवादियों के समान नवीन वस्तुओं का वर्णन भी प्राचीन प्रयोगवाद की विशेषता है नारङ्गी का नूतन वर्णन देखिये और साथ ही शिरीष पुष्प का —

(१) सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्।
(२) अभिनवकुशसूचिस्पर्धि कर्णे शिरीषम्।

प्रथम पद्य का अर्थ है—अभी हाल ही घुटी हुई किसी शराबी पठान की ठोडी के समान यह नारङ्गी का फल है।

द्वितीय पद्य में शिरीष को डाभ की नई भाल के समान बताया गया है। प्रयोगवाद का यह क्लासीकल प्रयोग है।

इसी तरह बिसल्यों को तोता की चोंच से उपमा दी गई है।[1]

वामन के अनुसार किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को मन में उतारने के लिये ही बिम्ब का प्रयोग नहीं होता अपितु प्रशंसा और निन्दा के लिए भी बिम्बविधान किया जाता है। इस प्रशंसा और निन्दा के क्षेत्र में आप प्रयोगवादियों की आत्म निन्दा, आलोचक निन्दा, राजनीति निन्दा, मानव-जीवन निन्दा, आस्था निन्दा, आत्मविश्वास निन्दा, आशानिन्दा, उल्लास निन्दा अर्थात् 'सर्वनिन्दा' को रख सकते हैं। किन्तु वामन कवि कल्पित बिम्ब विधान में नवीनता प्रेमी कवियों को बार-बार सावधान करते हैं। प्रथम बिम्बविधान में उपमान हीनता नहीं होनी चाहिए। यह हीनता उपमेय पर भी लागू होती है। हीनता जाति परिमाण और धर्म की हो सकती है। आधुनिक प्रयोगवाद में यह बिम्बहीनत्वदोष पग-पग पर मिलता है वामन के उदाहरण लीजिए—

आपने (सैनिकों ने) भङ्गियों के समान साहस किया।'[2]

यहाँ वीर का हीन उपमान से उपमा दी गई है यह जातिगत हीनत्व दोष हुआ। यह सूर्य अग्नि के समान चमक रहा है—यह परिमाणगत हीनत्व है। कृष्णमृग के चाम को धारण किए हुए और मूँज की करधनी से युक्त नारद नील मेघ से घिरे हुए सूर्य के समान शोभित हुए। यह धर्मगत हीनत्व का

१ वही।
२ चाण्डालैरिव युष्माभिः साहसं परमं कृतम्—४ २-९

उदाहरण है—यहाँ उपमान धम के आसपास कृष्णचम की तरह मेघ तो हैं किन्तु मौञ्जी-मेखला के लिये बिजली का सन्निवेश कवि न मेघों के साथ नहीं किया अत उपमान में 'धमगत हीनत्व' दोष है। कोई प्रयोगवादी इन दोनों की चिन्ता करता है? आखिर वह क्या परवाह करे? प्राचीन परम्परा कूड़ा है यह कह कर वह अपने सौन्दर्य-बोध की अनता को सुविधा से छिपा सकता है।

हीनत्व की तरह अधिकत्व भी दोष होता है, यह भी जाति, परिमाण और धमगत होता है। यथा 'भगवान रुद्र की तरह महापराक्रमी बहार अन्दर आ जाते'[1] यहाँ उपमान में अधिकत्व दोष है। 'आत्म गटियम सी चमक रही है' ऐसे आधुनिक प्रयोगों में यही उपमान का अधिकत्व दोष है। वह सुन्दरी बाजरा की बाल जसी है" अनयजी की इस उपमा में उक्त उपमानगत हीनत्व दोष है। कुँवरनारायण की इस उक्त उपमा में भी हीनत्व दोष है—

पर आकाश प्रकाश न सुमन।
भरने दन सरल मौत कुत्ते की।

वामन ने उपमेय और उपमान को एक ही लिङ्ग वचन में प्रयुक्त करने पर बल दिया है ताकि बिम्ब वण्यवस्तु के साथ पूर्ण सादृश्य प्राप्त कर ले। सौभाग्यवश हिन्दी में संस्कृत की तरह तीन लिङ्ग वचन न होने से लिङ्ग वचन सम्बन्धी दोष कम मिलते हैं।

'असादृश्य' बिम्ब विधान का पाँचवा दोष है यथा फली हुई अयस्प रश्मियों से युक्त काव्य रूपी चन्द्रमा को मैं ग्रथित कर रहा हूँ।[2] काव्य और चन्द्रमा में असादृश्य होने से दोष है। आधुनिक प्रयोगवाद का सबसे बड़ा दोष है—किंचित सादृश्य से ही असवन उपमानों का जमाव। वनानिक उपमानों से विज्ञान के साथ निकटता भले ही प्राप्त की गई हो किंतु असादृश्य रूप बिम्ब दोष बहुत अधिक मात्रा में बढ़ा है। वामन के इस कथन की आज कौन उपेक्षा कर सकता है—

असादृश्यता ह्युपमा तन्निष्ठाश्च कवय। ४–२–१७

अर्थात् सादृश्य के अभाव में उपमा नष्ट हो जाती है और सादृश्य

---

१ विनान्तु विष्टप शीघ्र रुद्रा इव महौजस।
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति ४ २ ११

२ ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थ रश्मिम्।
—४–२–१६ काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति

विहीन उपमा द्वारा कवियों का (यश, स्थान, महत्त्व-प्रतिष्ठादि का) भी नाश हो जाता है।

यह प्रश्न वामन के समय भी उठा था कि यदि किंचित् सादृश्य वाले उपमानों की भीड़ एकत्र कर दी जाय तो वर्ण्यवस्तु स्फुरित हो जाती है। आधुनिक प्रयोगवादी आजकल ही इसे मानते हैं किन्तु वामन का कथन है कि अधिकाधिक सादृश्य वाले एवं बिम्ब का प्रयोग ही कवि की कसौटी है, अधिक असमर्थ उपमानों का प्रयोग दोष है। यथा—"वपू रहरहरहासासित यशस्त।" तुम्हारा यश कपूर, मुक्ताहार तथा शिव के हास्य के समान है। इन उपमानों को यश उपमेय के साम्य में प्रस्तुत किया गया है। वामन के अनुसार ये सभी उपमान पूर्ण सादृश्य से हीन हैं अतः अपर्याप्त हैं क्योंकि इन सबसे भी अर्थ की पुष्टि नहीं होती—न कश्चिदर्थविशेषं पुष्णाति।

'असम्भव' दोष छठा और अंतिम उपमा दोष है। यह असम्भवता भी आधुनिक प्रयोगवाद में पर्याप्त मिलती है। वामन का उदाहरण यह है—

"खिले हुए कमल के भीतर सुन्दर चाँदनी के समान नायिका के उल्लसित मुख पर मुस्कराहट की छाया चमक रही है"—यहाँ चाँदनी में कमल का खिलना बताया गया है अतः यह असम्भव दोष है। यदि कहें कि अतिशयता के कारण यहाँ विशिष्टता का प्रश्न है तो वामन का उत्तर है कि विरुद्ध अतिशय का प्रयोग नहीं करना चाहिए 'न विरुद्धोऽतिशयः'।

(४-२-१)

बिम्बवाद की महिमा—वामन सादृश्यवादी आलोचक थे। वामन के पश्चात् अप्पय दीक्षित ने ही उपमा का महत्त्व समझ पाया था। वस्तुतः भरत ने ही काव्य में बिम्बों का महत्त्व भली भाँति समझ लिया था। इसीलिए नाट्य शास्त्र में यमक शब्दालङ्कार के अलावा रूपक, दीपक और उपमा इन तीन अर्थालङ्कारों में दीपक और रूपक वस्तुतः उपमा के ही प्रपञ्च मात्र हैं यही दृष्टि वामन के यहाँ स्वीकृत है। अपनी चमत्कारवादी लिप्सा के कारण भामह इस मर्म को नहीं समझ सके अतः वामन ने अनुप्रास और यमक शब्दालङ्कारों के सिवा अन्य सब अर्थालङ्कारों (संख्या ३०) को उपमा का ही विस्तार भेद माना है, इससे वामन की सहृदयता और काव्य प्रक्रिया से सम्बन्धित उनकी अन्तर्दृष्टि का पता चलता है। आधुनिक प्रयोगवाद की काव्य प्रक्रिया में बिम्बवाद प्रमुखतम है। इस प्रकार आधुनिक प्रयोगवादियों की तरह वामन सर्वत्र उपयुक्त बिम्बविधान का ही अनुसंधान करते थे यहाँ तक कि विरोधमूलक अलङ्कारों में भी उन्होंने उक्ति की वक्रता या सौन्दर्य का

आधार न मानकर बिम्ब को ही सौंदय का आधार माना है । अत वामन द्वारा अय अलङ्कारा को उपमा का प्रपञ्च सिद्ध करना वस्तुत बिम्बवाद का समथन है । अतएव वामन अलङ्कारो की परिभाषाओ म सवत्र बिम्बवाद पर ही ध्यान रखते हैं। प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार म उपमय के समान अन्य वस्तु का वचन होना चाहिए वह वामन का लक्षण है। परवर्ती परिभाषाओ म दो वाक्यो की समानता और दोनो के एक धम पर बल दिया गया है किंतु वामन का बल इस बात पर है कि वस्तु के सदृश प्रतिवस्तु हो ।

समासोक्ति अपह्नुति, रूपक आदि साम्यमूलक अलङ्कारो म तो बिम्ब-विधान सभी मानते हैं किंतु श्लेष, वक्रोक्ति विभावना, विरोध जसे अलङ्कारों में भी वामन का सादृश्य की चिंता है। श्लेष के लक्षण मे कहा गया है— स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेष —अर्थात् तन्त्र से प्रयोग होन पर उपमान और उपमेय के धर्मों म तत्वारोप श्लेष कहलाता है। तन्त्र का अथ है, एक बार उच्चारण किए गए विशेषणों से अनेक अर्थों की भङ्कार । यथा—जिस जितेन्द्रिय (महावीर) जिनमे वार वधुओ के स्तनो न अथवा योद्धाओ न किसी प्रकार का विकार या भय रूप क्षोभ उत्पन्न नही किया वह जिन तुम्हारी रक्षा करें' (४-३-७) यहाँ वारवधूस्तन और योद्धा दो पक्ष हैं दोना के लिये आकृष्ट, ऊँचा, उद्धत, गुरु तथा स्थूलादि विशेषणो से उपमय और उपमान दोना पक्षो का बिम्बविधान किया गया है।

इसी प्रकार वक्रोक्ति का वामनीय लक्षण मौलिक है। वह श्लेष और काकु वक्रोक्ति नहीं मानते जसा कि अन्य आलङ्कारिकों ने किया है वामन— 'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति— 'यह लक्षण करते हैं। लक्षणा अनेक कारणा से होता है इनमे सादृश्य नामक कारण से की गई लक्षणा ही वक्रोक्ति है— 'प्रात कालिक दर म ही सरोवरों के कमल खिल गये और क्षण भर म कैरव निमीलित हो गय ।" नेत्र के उन्मीलन और निमीलन सादृश्य से कमलो के विकास और कैरव के सङ्कोचन को लक्षणा से बोधित किया गया है अत यहाँ वक्रोक्ति है। कुन्तक ने काव्य के चमत्कार तत्व को वक्रोक्ति कहा है किंतु वामन यहाँ वक्रोक्ति म भी सादृश्य पर बल दे रहे हैं वाकछल पर नहीं ।

अतिशयोक्ति मे भी सम्भाव्य धम के उत्कष की कल्पना को ही अतिशयोक्ति माना गया है, सवथा अनगल प्रलाप को अतिशयोक्ति नहीं माना गया। इसी प्रकार आक्षेप अलङ्कार मे वामन उपमान के आक्षेप या निषेध को ही आक्षेप अलङ्कार कहते हैं।

इस प्रकार वामन ने सभी अलङ्कारों में सादृश्य या उपमा बिम्बविधान पर बल दिया है। शोभा युक्त या सौन्दर्यहानि को वह असाध्य अपराध समझते थे। तभी उन्होंने कहा है कि अलंकार ही सौन्दर्य है अर्थात् कवि की चित्तवृत्ति से काव्य में सौन्दर्य या अलङ्कृति का जन्म होता है और बिम्बविधान द्वारा अर्थात् उपमादि अलङ्कारों के प्रयोग से गुणजन्य सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

वामन का बिम्बविधान इस प्रकार भावहीन या चमत्कारमात्र नहीं है वह सगुण अभिव्यक्ति को काव्य की आत्मा मानते थे। काव्य में कवि के मन पर होने वाली जगत् की प्रतिक्रिया से जो उत्तेजना उत्पन्न होती है वही काव्य का प्राण है यदि वे ऐसा न मानते तो आधुनिक प्रभाववादियों की तरह वह भावों का निषेध करके केवल बिम्बविधान की प्रक्रिया ही समझाते रहते किन्तु उन्होंने स्पष्ट कहा है—काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्—काव्य का ग्रहण अलङ्कार के कारण है अलङ्कार का यही अर्थ है सौन्दर्य या अलङ्कृति यह सौन्दर्य दोषों की हानि और गुणों के उपादान से उत्पन्न होता है। अर्थात् गुणों द्वारा वामन कवि की मानसिक स्थितियों—भाव कल्पना बुद्धि का योगदान स्वीकार करते हैं और इसके साथ ही भावहीन बिम्बविधान की आवश्यकता भी स्वीकार करते हैं अतः जब वामन कहते हैं कि रीति काव्य की आत्मा है तब यह समझना भूल होगी कि आचार्य केवल पदविन्यास या शब्दविन्यास को ही काव्य मानते हैं वामन विशिष्ट पद रचना को रीति या शैली या अभिव्यक्ति कहते हैं। विशिष्ट का अर्थ है गुण सहित रीति—विशेषो गुणात्मा अर्थात् काव्य सगुण अभिव्यक्ति विधान है।

काव्य के उपकरणों में आत्मा की खोज और काव्यात्मा के साथ अन्य अंगों की सङ्गति स्थापित करने पर ही हमारा ध्यान अधिक रहने से हम अपने आचार्यों के विवेचन के मर्म को भूलते रहे हैं। यदि आज के विज्ञान के प्रकाश में देखा जाय तो काव्य शास्त्र में 'आत्मवाद' का अंग अवैज्ञानिक है क्योंकि आत्मा, अवयवसंस्थान अवयव आदि का जो भेद आचार्यों ने किया है वह सर्वथा द्वैतवाद पर आधारित है। शरीर और आत्मा को भिन्न और परस्पर विरोधी तत्व मानने के कारण रस और अलङ्कार अथवा भाव और बिम्ब विधान का परस्पर सम्बन्धस्थापन आचार्यों द्वारा भ्रांत रूप में प्रस्तुत हुआ है न तो रस कूटस्थ और तटस्थ आत्मा की तरह होता है और न अलङ्कार हारादिवत् होते हैं काव्य की पूरी प्रक्रिया संश्लिष्ट है। काव्यांगों में परस्पर अविच्छिन्नता है जिस प्रकार जीवन जगत् तत्वों की अविच्छिन्न इकाई है उसी

उसी प्रकार काव्य भाव, कल्पना, बुद्धि, बिम्ब विधान और पद रचना की एक अन्तरग अभिव्यक्ति है यह तत्व वामन को ज्ञात नही था क्योकि तब शरीर और आत्मा के विषय म अद्वैतवाद के नाम पर द्वैतवाद (शरीर से चेतना की स्वतन्त्रता) प्रचलित था किंतु इस पक्ष के दुबल होन पर भी वामन बिम्ब विधान और उसके लोपो पर महत्वपूण प्रकाश डालते हैं। वामन सगुण बिम्ब विधानवादी आचाय थे, जबकि आज का प्रयोगवाद गुणो को महत्व नही देता और दोषो की परवाह नहीं करता। वामन ने ऐसे कवियो को सलाह दी है कि सदोष बिम्बविधान से तो कुकवित्व की ही सृष्टि हो सकती है, और कुकवित्व साक्षात् विडम्बना ही है इससे तो मौन रहना अच्छा अकुण्ठ कीर्ति जिस काव्य से न मिले, वह व्यथ है—

प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशस सरणि विदु
अकीर्तिवर्तिनी त्वेव कुकवित्वविडम्बनाम् ।

फ्रायडवाद आत्म सम्मोहन एव आत्म प्रक्षेपण

१९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में योरोप में फ्रायड अमेरिका में विलियम जेम्स तथा रूस में आई पी पावलोव ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में नई उद्भावनाएँ की। इनमें पावलोव ने शरीर विज्ञान को अपना आधार बनाया और अपने आगे के विकास में इस शरीर विज्ञान की कभी उपेक्षा नहीं की किन्तु फ्रायड और जेम्स ने दिमागी उडान से बहुत काम लिया। अत फ्रायड और जेम्स की शोध को वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता। यद्यपि धार्मिक अन्ध विश्वासों के खण्डन में इन दोनों का योगदान स्वीकार करना पडता है क्योंकि दोनों सिद्धांत वादिता या अधिदर्शनात्मक दृष्टि का खण्डन करते हैं और मस्तिष्क को ही चेतना का केन्द्र मानते है परन्तु साथ ही इन्होंने एक नये अन्धविश्वास को भी जन्म दिया है। फ्रायड तथा जेम्स की स्थापनाओं का साराश है कि आप 'मानवीय प्रकृति' को बदल नहीं सकते। इस "शाश्वत मानव प्रकृति में, निजी-सम्पत्ति सग्रह की 'मूल प्रवृत्ति' भी शामिल है। इसका अर्थ यह हुआ कि सम्पत्ति-एकाधिकार युद्ध तथा वर्गस्वार्थ की प्रवृत्तियाँ 'नित्य प्रवृत्तियाँ' है।

फ्रायडवाद की इन मान्यताओं का कारण है, उसमें विज्ञान का अश कम होना और सम्मोहन (Hypnotism) एव आत्मप्रक्षेपण (Self Projection) का बाहुल्य होना।

फ्रायडवाद मे सम्मोहन की धारणा कैसे आई इसके लिये फ्रायड के जीवन को देखना होगा। बचपन से ही फ्रायड काट के प्रशसक थे। गेटे का यह वाक्य पढकर कि 'प्रकृति सभी रहस्यों के उत्तर देती है' फ्रायड विज्ञान की ओर उन्मुख हुए। उन्होंने शरीर-विज्ञान पढा फिर वियना विश्वविद्यालय में, शरीर विज्ञान का अध्यापक होना चाहा, पर यहूदी होने के कारण ऐसा न हो सका तो डाक्टर हो गये। यही फ्रायड का ध्यान उन मानसिक रोगियों की ओर गया जिनके रोग के कारणों का पता नहीं चलता था। १८८८ ई० मे फ्रायड ने 'Suggestion and its application as a Therapy'

था। इस पुस्तक में रोगियों के डा० बनहीम ने, सम्मोहन अथवा मनोआदेश द्वारा लकवा, गूंगा आदि के रोगियों के इलाज का विवरण दिया था। डा० फ्रायड ने भी सम्मोहन का प्रयोग किया और उन्हें अद्भुत सफलता मिली।

किन्तु "सम्मोहन प्रक्रिया" से प्रत्येक रोगी को ठीक नहीं किया जा सका। कमजोर इच्छाशक्ति के रोगियों पर फ्रायड का सम्मोहन चलता था, शेष पर नहीं। इसके सिवा सम्मोहन का प्रभाव हटते ही रोग पुनः उभर आता था। अब डा० ब्रियर (Breuer) की सहायता से फ्रायड दमित वासना के सिद्धान्त तक जा पहुँचे। उन्हें पता चला कि यदि रोगी सम्मोहन की अवस्था में अपनी पूर्व घटनाओं, भावनाओं आदि का स्मरण करे और दमित इच्छा के साथ सम्बद्ध पूर्व परिस्थिति का पुनरावृत्ति करे तो रोग लुप्त हो जाता है। डा० फ्रायड ने इस नई पद्धति से, जिसमें रोगी अपनी भावनाओं को डाक्टर के सम्मुख रखन करता है, कई रोगियों को लाभ पहुँचाया। डा० फ्रायड इस सोपान में सर्वप्रथम इस तथ्य से परिचित हुए कि मानवीय चेतना के भीतर अज्ञात गुप्त उपचेतन है और वही मुख्य है। फिर भी Project नामक पुस्तक में, जो १८९५ ई० में लिखी गई डा० फ्रायड ने प्राकृतिक विज्ञान से अपना सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया है। किन्तु कुल मिलाकर इस पुस्तक में कल्पना से बहुत अधिक काम लिया गया है। फ्रायड इसके बाद बराबर प्रचार करते रहे कि मनोविज्ञान, मस्तिष्क विज्ञान (Brain Physiology) की सहायता के बिना भी स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में काम कर सकता है।

इस मनोविश्लेषण का आधार 'दमित वासना' का सिद्धान्त है। जब किसी स्वस्थ व्यक्ति के मन में लज्जाजनक प्रेरणा या भावना (Shameful impulse) उत्पन्न होती है तो उसका विरोध होता है। यह संघर्ष तब तक चलता है, जब तक लज्जाजनक प्रेरणा का निरोध नहीं हो जाता और उस लज्जाजनक प्रेरणा का अनुभव कराने वाली मानसिक शक्ति भी दब नहीं जाती किन्तु एक रोगी के अन्तर्द्वन्द्व में भिन्नता रहती है। रोगी की लज्जाजनक प्रेरणा, चेतना (Consciousness) तक आ ही नहीं पाती वह उपचेतन में हलचल उत्पन्न करती रहती है फलतः मानसिक शक्ति या साइकिक इनर्जी लज्जाजनक प्रेरणा से छुटकारा नहीं प्राप्त कर पाती अतः 'अचेतन लज्जाजनक प्रेरणा (Unconscious impulse) शक्तिशालिनी बनी रहती है। रोगी की चेतना को इसीलिये यह दमितवासना से उत्पन्न संवेगाक्रान्त किये रहते हैं और रोग के रूप में अथवा अन्य रूपों में उनकी अभिव्यक्ति होती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया को दमन (Repression) कहा गया है। डा० फ्रायड के

इस चिंतन का सबसे कमजोर पक्ष यह है कि वे स्नायुओं की पृष्ठभूमि या शारीरिक आधार (Physiological State) नहीं मानते अपितु उसे एक मानसिक स्थिति ('दमन' की स्थिति) मानते हैं।

लज्जाजनक संवेगों या प्रेरणाओं को आगे चलकर फ्रायड ने 'मूल प्रवृत्ति (Instincts) मान लिया और इनमें भी 'यौन प्रवृत्ति' को अन्य सब का आधार के रूप में स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त अन्य बलशाली प्रवृत्तियों को बाद में फ्रायड ने ऊर्ध्व अहं (Super Ego) में अवस्थित माना। 'ऊर्ध्व अहं' को सामाजिक नैतिक और धार्मिक मापदण्डों का परिणाम बताया गया।

एच० के० वल्स के अनुसार फ्रायडवाद में 'दमन के सिद्धांत का केन्द्र है, *साइकिक इनर्जी का सिद्धांत, सो भी फ्रायड साइकिक इनर्जी' के अस्तित्व* पर एक भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाये। वास्तव में फ्रायड ने साइकिक इनर्जी' का केवल अनुमान किया क्योंकि, इसके बिना निषिद्ध संवेग हानिकर नहीं होगा। क्योंकि साइकिक इनर्जी के स्पर्श के कारण निषिद्ध संवेग रोगी की चेतना को कष्ट देते रहते हैं, अतः मनोविश्लेषक का फ्रायड के अनुसार काम *यह था कि वह 'साइकिक इनर्जी' के स्पर्श को दूर करदे अथवा दमित* इच्छाओं का रेचन कर दे। इसके लिये दमित इच्छा को अनावृत करना आवश्यक समझा गया और इस अनावरण की पद्धति को मनोविश्लेषण' कहा गया।

१८६६ ई० से १६०२ ई तक फ्रायड ने एकाकी रहकर ही काम *किया। इस अवधि में उन्होंने रेचन के लिये आत्मपरीक्षण (Introspection)* मुक्त-साहचय (Free Association) स्वप्न-व्याख्या (Interpretation of dreams) तथा स्थानान्तर (Transference) नामक चार पद्धतियों का आविष्कार किया। इन पद्धतियों से दमित इच्छाओं और संवेगों को विभिन्न रूपों में चेतना तक पहुँचाया जाता था। आजकल भी इन्हीं पद्धतियों का प्रयोग *होता है।*

मुक्त-साहचय पद्धति में रोगी को आराम से एक कुर्सी पर लिटाया जाता है और वह बिना अपने विचारों का दिग्निर्देश किये हुए जो कुछ मन में आता है उसे कहता जाता है। मुक्त-साहचय पद्धति द्वारा उन विचारों का संग्रह किया जाता है जिनकी प्रायः उपेक्षा की जाती है। फिर इन विचारों की व्याख्या की जाती है जिससे रोगी की 'दमित वासनाओं' का पता चल जाता है। स्पष्ट है कि फ्रायड की मुक्त-साहचय-पद्धति एवं स्वप्नानिक पद्धति

नहीं थी अपितु इस पद्धति द्वारा कुछ 'संकेतों' (Clues) को प्राप्त किया जाता था, जिनकी बाद में व्याख्या करनी पड़ती थी और वह व्याख्या एक 'कला' थी। इस कला के न नियम थे, न कायदे।

मुक्त साहचर्य की ही तरह स्वप्नों का उपयोग किया गया। स्वप्न चित्र (Dream imagery) द्वारा प्रतीकात्मक सामग्री प्राप्त की जाती थी। तृतीय पद्धति स्थानान्तर पद्धति कहलाती है। उपचार में रोगी और डाक्टर के बीच एक भावात्मक सम्बन्ध कायम हो जाता है, कभी रोगी डाक्टर से प्रेम करता है कभी घृणा। फ्रायड के अनुसार रोगी अपनी पूर्व परिस्थिति का पुन अभिनय करता है अतः डा० के प्रति रोगी के भावात्मक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति से ऐसे संकेत प्राप्त हो सकते हैं, जिनसे उसकी दमित इच्छाओं का पता चल सके किन्तु यहाँ भी 'व्याख्या' की आवश्यकता पड़ती है।

इन पद्धतियों की पृष्ठभूमि में स्नायु रोगों का यह सिद्धांत था कि मनोग्रस्तता (Obsessions) पक्षाघात (Paralysis आदि के माध्यम से रोगी की दमित इच्छाएं, संवेग आदि व्यक्त होते हैं। डा० फ्रायड के अनुसार दमन के इतिहास पर विचार करने से अन्त में शैशवस्था में किसी दमित इच्छा विशेष' का पता चल जाता है। १८९८ ई० में डा० फ्रायड ने बताया कि प्रत्येक स्नायुरोग की पृष्ठभूमि में शैशवावस्था में तो यौन सम्बन्ध शक्ति अविकसित रहती है इसका उत्तर भी डा० फ्रायड ने दिया कि—स्नायुरोग के लक्षण वास्तविक यौन सम्बन्धों से सम्बद्ध नहीं होते, अपितु यौन इच्छाओं तरंगों (Fantasies) आदि से सम्बन्धित होते हैं। अतः यौन इच्छा के दमित होने से ही रोग उत्पन्न होते हैं।

यह स्मरणीय है कि फ्रायड ने सबसे अधिक स्वप्न-व्याख्या को महत्व दिया है। दमन के सिद्धांत में यौन इच्छाओं के दमन को ही मान लेने से फ्रायड की स्वप्न व्याख्याएं विचित्र प्रतीत होती हैं—उनके अनुसार स्वप्न में दीखने वाले सम्पूर्ण लम्बे और सीधे पदार्थ—लकड़ी, वृक्षों के तने, छाता चाकू, तलवार भाला छड़े आदि 'पुरुष तत्व' का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी तरह गार और गहरे पदार्थ स्त्रीतत्व के प्रतीक होते हैं, यथा छोटे बक्स सन्दूक डिब्बे जहाज कमरे गहरे बर्तन आदि। स्वप्न में यदि आप एक कमरे में से निकल रहे हों तो फ्रायड के अनुसार इसका अर्थ होगा वेश्यास्य। सीढ़ियाँ, ऊपर की ओर चढ़ना आदि 'सम्भोग' के प्रतीक माने गये हैं। इसी प्रकार एक यात्रा के गिरने का बोझ उसमें पाप का प्रतीक माना गया है। डा० फ्रायड के अनुसार स्वप्न दमित इच्छा की गुप्त पूर्ति है। स्पष्ट है कि फ्रायड इस

व्याख्या के द्वारा वैज्ञानिक-पद्धति को छोड़ चुके थे—और वैज्ञानिक कार्य की जगह एक 'पौराणिक कार्य' कर रहे थे।

फ्रायड यदि केवल स्नायु रोग के इलाज तक ही इन सिद्धान्तों को सीमित रखते तब भी गनीमत थी किन्तु उन्होंने इनके सिद्धांत द्वारा ज्ञान की प्रत्येक शाखा की व्याख्या सम्भव सिद्ध कर दी, यह कार्य एक वैज्ञानिक का नहीं एक दार्शनिक का था और इसीलिए फ्रायड ने भी आत्मप्रक्षेपण की कल्पना और अनुमानों से काम लिया।

फ्रायड ने कल्पना की है कि चेतना के दो भाग हैं प्रथम चेतन, जो बहुत छोटा भाग है इसमें वस्तुओं का प्रत्यक्षीकरण, स्मरण आदि कार्य होते हैं। द्वितीय है 'अवचेतन (Unconscious) चेतना के इस भाग में मूल प्रवृत्तियाँ (Innate Instintcts) तथा वर्जित इच्छाएँ भाव आदि रहते हैं। चेतना की दो व्यवस्थाओं के मध्य एक पर्दा (Screen) या 'वर्जक' स्थिति और है, जिसका कार्य है—चेतन की पहरेदारी। 'वर्जक चेतना' (Censorial Guardian) दो कार्य करती है। (१) यह निषिद्ध इच्छाओं, संवेगों आदि को अवचेतन से चेतन की ओर नहीं जाने देती। (२) अवचेतन में स्थित निषिद्ध इच्छाओं को चेतन मन से छिपाए रखती है।

चेतना का यह सारा विभाजन 'दार्शनिक विभाजन' है वैज्ञानिक नहीं। म जीवन से यह सिद्ध होता है कि सारी इच्छाओं का मूल 'सम्भोगेच्छा' ही है।

१९०२ ई० तक फ्रायड दर्शन, विकसित हो गया। शारीरिक विज्ञान के अधिक विकसित न होने से फ्रायडवाद का विरोध सम्भव नहीं था। १९०४ ई० में फ्रायड ने दमन के सिद्धांत को दैनिक जीवन पर भी लागू किया। (Psychology of Everyday life) दमन के इस सिद्धांत को दूर तक खींचने के परिणाम स्वरूप कोई भी व्यक्ति 'स्वस्थ' नहीं है, यह स्वतः सिद्ध हो गया क्योंकि प्रत्येक के मन में फ्रायड के अनुसार चेतन व उपचेतन में संघर्ष चलता रहता है। अन्तर सिर्फ मात्रा का है। संघर्ष अधिक तीव्र होने पर आदमी रोगी कहलाता है और अनुशासन में रहने पर वह 'नार्मल' कहलाता है।

फ्रायड के अनुसार मनुष्य की चेतना का निर्माण प्रवृत्तियों और अवचेतन के दमन से होता है पर तथ्य यह है कि मनुष्य की चेतना का निर्माण सामाजिक कार्यों के दौरान ऐंद्रिय अनुभवों से होता है। फ्रायड ने अवचेतन में केवल दमित इच्छाओं, संवेगों तथा विचारों का अस्तित्व माना है जबकि

वास्तविकता यह है कि मनुष्य की इच्छाशक्ति (Will power) जिसका कि वह सामाजिक कार्य करते हुए विकास करता है, उसके अन्तजगत पर अनुशासन रखकर भी मनुष्य को बीमार नहीं होने देती, यही कारण है कि हमारे यहाँ योग का और फ्रायड के यहाँ सम्मोह को महत्व दिया गया है।

फ्रायडवाद में दमित इच्छाओं संवेगों और विचारों का सम्बन्ध देश और काल से सम्बन्धित नहीं माना गया, यह इस मत का एक और दुराग्रह है।

फ्रायड की मानसिक प्रक्रिया के तीन रूप हैं। भौगोलिक (Topographic) गतिमन्त (Dynamic) तथा बचत का सिद्धान्त (Economic) भौगोलिक प्रक्रिया का अर्थ है—मस्तिष्क के दो भाग हैं—चेतन तथा अवचेतन। इन दोनों के मध्य में 'वर्जक चेतन तत्व है स्पष्ट ही यह विभाजन कल्पित है। अवचेतन को बाह्य जगत से निरपेक्ष मान लेने के कारण फ्रायड मानवीय चेतना का रूप निर्धारण ऐन्द्रिय-अनुभवों द्वारा न मान कर मूल प्रवृत्तियों और उनके दमन द्वारा मानने के लिए विवश हुए हैं। फ्रायड के मानसिक भूगोल में अवचेतन को ही प्रबल और प्रमुख माना गया है।

फ्रायड के गतिमन्त तथा बचत के सिद्धान्त चेतना के दमन से सम्बन्धित हैं। फ्रायड ने वर्जक तत्व को 'सुपर इगो' कहा है और अवचेतन को 'इड' कहा है। सुपर इगो या ऊर्ध्व मन के लिये, चेतन मन प्रवृत्तियों का दमन करता है बदले में दमित प्रवृत्तियाँ ऊर्ध्व अहं को भ्रष्ट करने की फिराक में रहती हैं। इस चिन्तन में फ्रायडवाद का समाज विरोधी दर्शन झलकता है क्योंकि मानवीय चेतना का उद्देश्य बाह्य जगत से ज्ञान प्राप्त करना है न कि केवल अवचेतन से मुखरित रहना जैसा कि फ्रायड कहते हैं।

समाज और सभ्यता का अस्तित्व पाशविक वृत्तियों के अनुशासन पर निर्भर है। सभ्यता के निर्माण से व्यक्ति का अस्तित्व भी सुरक्षित हुआ है, उसकी उन्नति और रक्षा के साधनों का विकास हुआ है किन्तु फ्रायड के अनुसार समाज और सभ्यता व्यष्टि के लिए एक व्याधि है। फ्रायड के लिए अधिक विकसित समाज व्यवस्था का अर्थ है प्रवृत्तियों का अधिक दमन और दमन का परिणाम होगा—कुस्वप्न, अभद्र परिहास, स्नायुरोग आदि। इस प्रकार इस सिद्धान्त के परिणाम की दृष्टि से समाज का विनाश आवश्यक हो जाता है ताकि व्यक्ति सामाजिक दबाव से बचकर अपनी पाशविक की सन्तुष्टि कर सके।

किन्तु फ्रायड के इस निराशावाद म एक आशा की क्षीण झलक दिखाई पडती है। कुछ विशिष्ट व्यक्ति दमित इच्छाओ का उदात्तीकरण कर स्नायुरोगो म बच सकते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति बचपन म अप माता के प्रति यौन आकर्षण का अनुभव करता है कि तु समाज के दबाव उसकी दमित इच्छा कभी कभी उसे प्रकृति के अन्वेषण की ओर प्रवत्त क देती है, फलत वह यक्ति एक वैज्ञानिक बन जाता है। मतलब यह कि वैज्ञानिक कवि, कलाकार आदि प्रतिभाशाली व्यक्ति व विशिष्ट प्राणी है जो अपनी दमित इच्छा के उदात्तीकरण म सफल हो सके हैं—किन्तु उदात्ती करण के अभाव मे स्नायुरोग अवश्य होगे। फ्रायड ने अपने चिन्तन म वस्तुत अपने को ही प्रक्षिप्त (प्रोजक्ट) किया है। उसने अपने दमन के सिद्धात को सभी क्षेत्रो मे लागू किया इसीसे उसने आदिम सभ्यता के इतिहास की व्याख्या की। फ्रायडवाद म धम, चरित्र और समाज आडीपस काम्प्लक्स या पुत्र और पिता की प्रतिद्वन्द्वता की धारणा पर आधारित है। फ्रायड यह मानने को तयार नही कि धम, चरित्र और समाज के विकास मे आर्थिक सामाजिक आवश्यकताओ का ही मुख्यत योगदान रहा है और धम, चरित्र, कला दशन आदि तदनुरूप विकसित हुए है। फ्रायड के अनुसार इतिहास को गति देने वाले कुछ विशिष्ट व्यक्ति होते हैं। समाज इन्हे पिता के रूप म स्वीकार कर लेता है है और साथ ही उनसे भयभीत भी रहता है। इस प्रकार फ्रायड इतिहास दशन मे महान व्यक्तियो के सिद्धात का प्रचार करते हैं, उनके अनुसार सारा इतिहास 'आडीपस काम्प्लक्स की ही कहानी है। फ्रायड के लिए इस इतिहास द्विद्व को मानना ही चाहिए क्योकि व्यक्ति का मानसिक विश्लेषण इसकी साक्षी देता है। सन् १९३२ म आईस्टीन के एक पत्र के उत्तर म फ्रायड ने लिखा था कि विश्वयुद्ध अवश्यम्भावी है क्योकि प्रत्येक मनुष्य म मारए च्छा रहती है और रहेगी' अत विश्वशान्ति फ्रायड वाद के अनुसार असम्भव है।

फ्रायड की इन सब कल्पनाओ का खण्डन पावलाव क शरीर विज्ञान द्वारा होता है। पावलोव क शरीर विज्ञान स्नायुरोग स्वप्न आदि की व्याख्या स्नायुओ क अध्ययन द्वारा ही हो सकती है। फ्रायड ने शरीर पर पडने वाले प्रभावों का अध्ययन न कर, अवचेतन को बाह्य जगत से निरपेक्ष मान कर पौराणिकता लिए के द्वार खोल दिए हैं। पावलोव के अनुसार स्नायु रोग बाह्यदबाव (Over Strain) क कारण होते हैं। स्वप्नो की व्याख्या एक सीमा तक शारीरिक आधार पर की जा सकती है। उदाहरण क लिए नासिका रवन्द्ध होने पर वायु का आवागमन जब सुविधाजनक होता है तब स्वप्न म मनुष्य अपने को उडता हुआ देखता है किन्तु फ्रायड

के अनुसार स्वप्न की उडान का अर्थ है–सम्भोगेच्छा के लिए योग्यता प्राप्ति का प्रयत्न ।।

शरीर विज्ञान की अविकसित अवस्था मे विलियम जेम्स की तरह फ्रायड आत्मवादियो के आत्मा के सिद्धात के स्थान पर "नित्य मूल प्रवृत्तियों" के सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। वह शापेनहाउर, और काट से बुरी तरह प्रभावित थे फ्रायड का सारांश यह है कि मनुष्य न तो अपने को बदल सकता है और न बाह्य जगत को जान ही सकता है वह केवल अपनी प्रतीति की व्याख्या कर सकता है ।

यहा यह कहना आवश्यक है कि हिन्दी मे फ्रायडवाद को वैज्ञानिक मानकर जिन उपन्यासो, कथाओ और आलोचनाओ की सृष्टि हुई है उनका [illegible] की दृष्टि से भले ही महत्व हो वस्तुतत्व की दृष्टि से बहुत अधिक महत्व नहीं है। फ्रायड के मनोविश्लेषण की असलियत तब खुलती है, जब [illegible] का अर्थ [illegible] म इस पद्धति के प्रयोग को हम पूर्णत असफल होता [illegible] हैं। हिन्दी साहित्य की व्याख्या म फ्रायडवाद को पूर्णत स्वीकार कर [illegible] लेखको का वैज्ञानिक दृष्टि सम्पन्न नही कहा जाएगा। '[illegible] एक आयनी' जैसे उपन्यासो तथा वर्जनाओ के पुजो को प्रतिध्वनित करने वाली कविताओ को अधिकाधिक लेखक का आत्मप्रक्षेपण माना जाएगा। उपन्यासो म अवचेतन की व्याख्या म युग और एडलर के अनुगामी भी 'यथार्थवादी' नही कहे जा सकते क्योकि वहा भी आत्म प्रक्षेपण ही अधिक है। यथार्थ के लिए "बाह्यसघर्ष और तदनुरूप मानसिक सघर्ष" की सत्यता देखनी चाहिए क्योंकि इस तथ्य की पुष्टि शारीरिक विज्ञान द्वारा भी होता है।

वर्जनाहीन आधुनिकता

हिन्दी कविता में अपनी वर्यात्तिक विशिष्टताओं के प्रति जागरूकता बहुत बढ़ी है। मानसिक स्थितियों और वास्तविकता के विभिन्न स्वरूपों की दृष्टि से विविधता" की उपलब्धि भी हुई है। आन्दोलन की छाया से अपने को न बचा पाकर भी, सृजनकर्त्ता धीरे धीरे अपने को पहचानने की कोशिश करता गया है और यह प्रक्रिया जब पूरी हो लेगी तब सिर्फ नाम के लिए अजीबो गरीब शीर्षकों के अनुसंधान के स्थान पर 'सत्य अनुसंधान" ही प्रमुख हो जाएगा—यानी हमारी आधुनिकता की प्रक्रिया वर्जनाओं आतंकों और कुंठाओं से मुक्त हो जाएगी लेकिन अभी तो यह स्थिति नहीं है।

अभी तो साधारणतः ध्यान इस ओर रहता है कि कोई नमूना खोजो, तब उसी तरह की कविता या अकविता लिखो। सृष्टि की कोशिश में, कवि का अवचेतन इतना अधिक "प्रभावित" रहता है कि वह अपना नमूना या प्रारूप (मॉडल) नहीं खड़ा कर पाता, जबकि सभी तरह की आधुनिकताओं के प्रारम्भ से ही, प्रतिभाशाली कवियों ने अपने अपने 'प्रारूप' गढ़े और उस 'प्रारूप' को इतना माँजा कि वह उनके 'कथ्य' को उसी रूप में व्यक्त कर सका जैसा वह चाहते थे। यही कारण है कि अंग्रेजी के टी॰ एस॰ इलियट, एजरा पौंड हापकिन्स जैसे कवियों में आधुनिकता और पारम्परिकता की असंगति या द्वन्द्व शान्त होने लगता है। वी॰ एस॰ पिण्टो ने "क्राइसिस इन इंगलिश पोयट्री" में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

'In a sense it might be said that English Poetry had by this timeovercome its internal crisis' the cleavage between the modernists or Traditionalists The mature poetry of Eliot Edith Sitwel or Day Lewis can not be called *modernist or* Traditionalist It has absorbed the lessons of moder nism and combined them with those *elements of English Tradition which can live in the modern* world (पृष्ठ 234)

किन्तु क्या यही स्थिति हमारे लेखन में है? हमारे यहाँ तो अभी 'परम्परा और आधुनिकता' की टकराहट चल रही है जो प्रायः आलोचना

व्यस्तता और अखबार नवीसी से पीड़ित होने लगती है। यहाँ 'नवलेखन' अपनी काव्यपरम्परा का गम्भीर अवगाहन, अपनी प्रतिभा का हनन मानता है। दूसरी ओर स्थिति यह है कि जिस 'ग्रुप' से वह जुड़ा है, उसकी संवेदना और अर्थविश्वासों को दुहराने में ही वह कुशल मानता है, वह 'ग्येयन' से इतना अधिक आतंकित है कि वह समझता है कि आगे भी पराए प्रारूप ही उसके लिए पर्याप्त हैं।

एजरा पौंड और इलियट ने "गद्य के प्रति निकटता" की बात इस लिए की थी क्योंकि जब तक वहाँ विकास और तकनीक का विकास चक्र तेजी से घूम चुका था अतः 'दो संस्कृतियों' का संघर्ष तीव्र हो चुका था। विशेषीकरण के युग में काव्य भाषा के बनावटीपन, छन्दोबद्धता के कारण उत्पन्न जकड़बन्दी का अहसास, काव्य को गद्य के निकट ले जाना चाहता था और कठिन, कठोर, अशिथिल, भावुकतारहित और बौद्धिक काव्य के विकास में सफलता भी प्राप्त की गई थी। दो दो युद्धों में 'आधुनिकता' 'प्रगति' जैसे नारों के सारांशों और उनके नतीजों की भी खोज बीन हुई और यह भ्रम दूर होने लगा कि 'तकनीकी सभ्यता,'[1] 'अतकनीकी सभ्यता' या उसकी संस्कृति से उच्चतर होती है। अभी हमारे लेखक इस तरह सोच नहीं पाते। इसका कारण यह है कि 'प्रगतियुग' को भारत वर्ष में तो अभी शुरु-आत ही हुई है अतः 'विकल्पों' में द्वन्द्व तीव्रतम है, और इस द्वन्द्व से तरह तरह की वर्जनाएँ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

किन्तु अमरीकी नव्यतर कविता में और कवियों में 'मुक्तता' अधिक मिलती है। वहाँ अनेक कवि अपना 'रंग' अलग रखना चाहता है। प्राय विरोध से भी किसी तथ्य की ओर ध्यान चला जाता है। उदाहरण के लिए आधुनिकता के प्रथम ज्वार में 'गद्य के प्रति निकटता' के जोश में यह कहना प्रतिक्रियावाद माने जाने लगा कि छन्दोबद्ध काव्य प्राप्ति की भी सृष्टि करनी चाहिए। अन्ततः आधुनिक होने के लिए हीरे की तरह सख्त होने या 'मुक्तता' (प्रीमाइज) के चक्कर में एक ही तरह से क्या लिखा जाता रहे? यदि प्रयोग वाञ्छनीय है, तो अनुशासन" (एजरा पौण्ड इसके लिए 'पुराने' कवियों को आदर्श मानता था) के लिए छन्दोबद्ध कविता लिखकर देखा जाय कि क्या

---

१ 'यदि औद्योगिक और तकनीकी प्रगति ही सफलता का मापदण्ड है तो हम चींटियों और मधुमक्खियों की पूजा करनी चाहिए और अरिस्टोफास की चिड़ियों के अहंकार के सम्मुख नाक रगड़नी चाहिए' —बर्नाड शा

बनता है। वर्जनामुक्त व्यक्तित्व ही इस तरह सोच सकता है किसी आन्दोलन का पिछलग्गू तो सोचेगा कि अज्ञेय जी अभी तक ऐसा लिख रहे हैं अथवा अमुक जी ने इस तरह लिखा है वहां हमारा प्रयास दकियानूसी न कह दिया जाय। वर्जनामुक्त व्यक्तित्व किसी प्रयास में असफलता की भी चिन्ता नहीं करता वह बार बार नये नये प्रारूप गढ़ता है और उस प्रक्रिया में उसका अपना रंग" उभर आता है । "जब कम्मो' की 'एक मार्क्सिस्ट का प्रेम" शीर्षक रचना इस प्रकार है —

I will not kiss you Country fashion,
By hedgeside where
Weasel and hare
Claim kinship with our passion
Our love is full grown Dogma's offspring,
Election's child
Making the wild
Heats of our blood an offering [1]

किन्तु निकोलस गिलेन 'धार्मिक' अथवा प्रेम के रूपों में क्या सोचता है यह यहाँ द्रष्टव्य है लेकिन कवि क्या समसामयिक, आधुनिक सामाजिकता[2] पर तब ध्यान नहीं करता जब वह यह कहता है—

This bare clay pit is truest setting
For love like ours
No bed of flowers
But Sand ledge for our petting

की प्रवृत्ति बहुत कम हो गई है। कम से कम साठोत्तरी के कई कवियों के विषय में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है।

छन्दोबद्धता के सिवा एक और बात पर ध्यान जाता है कि ये कवि किसी भी वस्तु को शीर्षक बनाकर उसके माध्यम से या उसके सहारे स्वानुभूत सत्यों या संवेदनाओं को प्रकट करते हैं फलतः शीर्षक की एक तस्वीर उभरती है तो साथ ही समसामयिक स्थितियों की व्याख्या भी होती चलती है, कुछ शीर्षक देखने योग्य हैं—

१ पनचक्की
२ गड्ढे में 'सामसोह
३ खुदाई करने वाला (पुरातत्व वेत्ता)
४ पद्माल्सला
५ माँ उठो, किवाड़ खोलो
६ कोनी
७ पोलो का खिलाड़ी
८ ड्रिल शिक्षक
९ खरगोश की चीख
१० 'स्त्र की एनाटामी' का दमकर
११ साम्राज्यवादी का 'रिटायर' होना
१२ चाल्म पष्ठ का पागलपन
१३ स्नान के समय की कहानी
१४ निदेशक को रपट भेजना
१५ कचीनुमा आदमी
१६ अण्डरवियर
१७ य ना न करने वाले कवि के प्रति
१८ एक पागल बच्चे का इलाज करते हुए

इस तरह की नव्यतर कविताओं को पढ़कर ऐसा लगता है कि संकट बोध सतह पर नहीं है। वह गहराई में नीचे और नीचे जाकर बैठ गया है लेकिन वह सतह पर गुजरती जिन्दगी के सहज दौर से हमें काटता नहीं, न उसकी व्यर्थता निरर्थकता (दार्शनिक मुद्रा में) की ही वह सस्ती घोषणा करता है। लगातार मिरन्द की तरह 'संक्रान्ति बोध' छा नहीं जाता बल्कि वह बादलों में कभी-कभी कौंध जाता है और उस कौंध की तरफ से बादलों पर सोचने पर व्यक्तिगत अनुभव सामान्य अनुभव में बदलने लगता है, इससे

कविता, कविता बन जाती है, वह मात्र आत्म अभिव्यक्ति नही रह जाती। इन संग्रहों में एलिन गिंसबर्ग की भी कविताएँ हैं लेकिन उसका "रंग" अलग है। उससे हिंदी चेतना परिचित भी है, उसका नमूना" प्रचलित भी हो गया है, जिसे विरुद्ध कविता या आक्रोशी कविताओं में देखा जा सकता है लेकिन अन्य नव्यतर कविताओं में जीवन के सहज स्तर पर, अति सहज मुद्रा में, बोलते, बतियाते, किसी परिचित चीज पर ध्यान केंद्रित करते, व जीवन के किसी पक्ष को उजागर करते हुए कवि आगे बढ़ जाता है। इससे एक मानवस्पर्श मिलता है जो 'चीज" को 'आदमियत" की 'छुअन" देकर भी न तो बनावटी मानवीकरण अपनाता है और न व्यथ के 'प्रसंगगर्भत्व" को ही समेटता है जो इलियट जैसे कवियों की विशेषता थी।

यह नव्यतर कवि धारणा और अनुभूति का पृथक् करक भी नहीं देखता। वह मन हान पर सोचे युद्ध का विरोध करता है, मानवीय जीवन की सार्थकताओं, सुखों और मूल्यों को वाणी देता है। वह सुख दुःखो, संकटों और पराक्रमों से भागता नहीं, प्रत्येक अनुभव को व्यक्त करता है—

Mother get up, unbar the door
Throw wide the window pane
I see a man stand all covered in Gand
Outside in Vicarage Lane

चार्ल्स कौसल की इन पंक्तियों में सभी प्रकार की संकीर्णताओं के विरुद्ध मानव प्रेमी कवि का स्वर है। सचमुच आज हमारे द्वार बन्द हैं और हर एक द्वार के बाहर एक एक आदमी धूलधूसरित खड़ा हुआ है लेकिन कोई किवाड़ नहीं खोलना चाहता।

हे माँ तुम अपने पति की बाहों में
काफी अरसे से बँधी रह चुकी हो
उठो मेरी प्रिय माँ, तुम्हारा प्रिय यहाँ है
इस रात मकान में!

इसी 'मूड' में माँ के प्रति यह प्रार्थना ऊपर से सपाट', घरेलू बकवास सी लगती है लेकिन जब कवि अभ्यागत का चित्रण करता है तब 'सन्दर्भ बदल जाता है और पूरी कविता आज के मनुष्य की स्थिति की व्यंजक बन जाती है —

His body is shot with seventy stars
His face is cold as cain
His coat is a crust of desert dust

जो यह समझते हैं कि नयापन सिर्फ "केन" (आदम का पुत्र=हत्यारा) की तरह चहरे, इस प्रयोग में है, वह यह भूलते हैं कि यहां कवि का ध्यान बिम्ब वैचित्र्य पर नहीं, युद्ध से उत्पन्न मानव संकट पर है और इसके लिए आदम के पुत्र और हत्यारे (Abel का हन्ता) 'आदमी' का उपमान, चमत्कारक कम सवदक अधिक है। दूसरे कवि ने इस अहसास को छन्दोबद्ध करके भी यह साबित किया है कि "आधुनिकता" के लिए जो निषेध शुरू में अपनाए गए थे, अब उनका भी निषेध होना चाहिए। क्योंकि आधुनिकता एक दृष्टि है, अपनी और अपनी स्थितियों की सही पहचान और अभीप्साओं की पूर्ति के लिए सम्भावनाओं और विकल्पों की खोज। इसके लिए कोरी नकारात्मकता और अस्वाकृति निहायत छिछलापन है क्योंकि नव्यतर कवि अस्तित्ववादी, प्रतीकवादी, अतियथार्थवादी वगैरह सभी 'वादों' से ऊपर उठकर भारतीय संवेदनाओं को व्यक्त करना चाहता है। उसका ध्यान पराये प्रारूपों और परायी मनोदशाओं की नकल पर नहीं अपना चिन्तन और अहसास के द्वारा आदमी को आत्म-जागरूक बनाना है। कोई व्यर्थ की चातुरी नहीं कोई भाषाडम्बर नहीं कोई अथलय या छन्दलय या लयहीनता का आग्रह नहीं। जैसा कि मार्टिन बेल कहता भी है—

Help me to tell the truth and not feel dull



आधुनिक मुद्राएं

पाश्चात्य देशों में आधुनिकता का विस्फोट लगभग अर्धशती पूर्व हुआ था। उस समय अकादमी से सम्बन्धित विशेषज्ञों ने आधुनिकता के वामपथ को अतिरंजित रूप में पेश किया था। टी० एस० इलियट को "एक मस्तिष्कोन्मत्त बोलशेविक" (ए ड्रंकन बोल्शेविक) कहा गया था। अब इलियट में कुछ भी वामपंथी (रैडीकल) नहीं प्रतीत होता। यही स्थिति हिन्दी में अज्ञेय जी की है। पहले उनके वामपथ को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किया गया लेकिन अब उनमें कुछ भी 'वामदिशापरक" नहीं मिलता। 'हिन्दी साहित्य-एक आधुनिक परिदृश्य' में तो लगता है कि अज्ञेय का "अध्यापकीकरण" हो गया है। अज्ञेय इस पुस्तक में वामपंथ या रैडीकल होने के साथ-आधुनिकता का कोई सम्बन्ध नहीं दिखाते। हिन्दी में 'स्थापित' होते ही कितनी जल्दी आधुनिक लेखक विस्थापित हो जाता है। कितनी जल्दी उसकी ताजगी लुप्त होती जाती है—अज्ञेय, भारती, नरेश मेहता, सर्वेश्वर, श्रीकांत वर्मा और अब अशोक वाजपेयी—वगैरह इसके सबूत हैं? सिनेमा के नायक-नायिकाओं की तरह इधर लेखक भी बड़ी त्वरा से नायक की भूमिका छोड़कर, 'चरित्र-भूमिकाएं' करने लगा है।

यही कारण है कि उम्र के साथ आधुनिकता का सम्बन्ध स्थापित करके देखा जाने लगा है। दो चार साल छोटा लेखक अपने अग्रजों को पुराना कहने लगता है। यीट्स ४५ वर्ष की उम्र में ने 'ग्रीन हैलमेट" शीर्षक आधुनिक कविता लिखी थी जिसके विषय में एजरा पौंड ने कहा था कि इस रचना ने अंग्रेजी कविता को अलंकारों से मुक्ति दी।

ग्रीन हैल्मेट का रचनाकाल १९१० ई० है। इसमें पहली बार अंग्रेजी कविता में मुहावरे में एक लचक पैदा की गई थी। उम्र के साथ आधुनिकता का सम्बन्ध जोड़ने पर दूधनाथसिंह की कहानियों को पुरानी-पीढ़ी की कहानी कहना पड़ेगा क्योंकि सपाट चेहरे वाला आदमी शीर्षक कहानी यथार्थ के एक बोध को ही व्यक्त करती है और दूधनाथसिंह, इस संग्रह में बिल्कुल भी 'अप्रतिबद्ध लेखक' नहीं लगते। अतः यदि कोई कहे कि दूधनाथ सिंह ने सिर्फ पत्तरे बदले हैं कथ्य और उसके प्रति मानवसंवेदना वही है जो प्रेमचन्द में थी या कि यशपाल में तो ऐसा कथन अनाधुनिक कहा जायगा

किन्तु सत्य यही है। अतः उम्र और आधुनिकता का सम्बन्ध हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है इसलिए इनका नित्य सम्बन्ध मानना बचपना है।

प्लेखानोव ने "कला और सामायिक यथार्थ" मे पारनसियन तथा रोमान्टिक कवियों की मुद्राओं का आकर्षक वर्णन किया है। हमारे यहाँ छायावादियों से प्रभावित अनेक 'विचार" छायावादी मुद्राएँ अपनाकर समझते थे कि वे कवि है लेकिन स्वयं पंत, प्रसाद निराला और महादेवी ने उतनी 'मुद्राएँ" नहीं अपनाई। प्रसाद और महादेवी ने तो बिल्कुल नहीं अपनाई। बड़े बड़े केश रखना, 'सारे जहाँ का दर्द हमारे जिगर में है'— कुछ ऐसा भाव मुख पर लाद रखना, आँखों में सपन और अतीन्द्रिय मस्ती को उतारना, बोलते समय यह प्रभाव देना कि किसी दूर और ऊँची चोटी से बोल रहे है या फिर किसी घाटी अथवा कुएँ से आदि मुद्राएँ प्रसिद्ध ही है। तब ये मुद्राएँ आधुनिक थी और बाद मे कुमारपने तेवर वाले, मारपीटपरक लहजा वाले महाप्राण–प्रगतिवादी बनने की आकांक्षा रखने वाले लेखकों की ये हास्यास्पद मुद्राएँ अब पुरानी हो गई हैं। अगर हमारे विश्वविद्यालयों मे ग्रीन हैल्मेट और प्रथम युद्ध के बाद की रोमांसविरोधी रचनाएँ (बरट ल्ड आदि) पढ़ाई जाती तो हमारे रोमांटिक आन्दोलन का क्या वही स्वरूप होता जो हमें मिला है? कुकुरमुत्ता मे निराला ने इम्पिट पर व्यंग्य किया है किन्तु 'जुही की कली" के समय क्या वे उससे परिचित थे? और कहीं "मायेकोव्स्की बमसफोट सुधारयुग" मे रूसी विद्रोह–काव्य से हमारे कवि परिचित होते तो निश्चय ही छायावादी मुद्राओं के अलावा अन्य मुद्राएँ भी उभरती परन्तु।

और आज आधुनिक बनने की होड़ है। क्योंकि अंग्रेजी नहीं आती अतः अत्याधुनिक या बिल्कुल टटके' कवि—कहानीकार आलोचक दिल्ली बम्बई की मुद्राओं का अन्धानुकरण कर रहे है। दाढ़ी रखना विद्रोह या नाराजी का चिह्न है इसलिए दाढ़ी रखाओ लेकिन नाराजी वही दिखाओ, जहाँ 'करियर' का नुकसान न हो। विभाग कोम मे लगवाने के लिए किसी सड़े हुए अधिकारी आलोचक' की तारीफ करनी पड़े तो कर दो लेकिन व्यक्तिगत रूप मे उसे गालियाँ देकर क्षतिपूर्ति कर लो। वस्तुतः अजनबीपन उस गहरी तात्कालिक असंतुष्टि का सबूत होता है जब आप इतने अधिक विसंगतिबोध से संत्रस्त हो कि किसी को स्थिति या व्यक्ति का महत्त्व न दें। क्योंकि जहन से वस्तु को महत्त्व मिलता है अतः अलग रहो, अजनबी की तरह कुछ न चाहो,

यश भी नहीं पद भी नहीं, गरिमा और आत्मगौरव भी नहीं। कामू के अजनबी में इसकी एक झलक मिलती है। लेकिन हिन्दी में यह बेमानगी और 'अस्वीकृति' भी भुनाने के लिए ही है—ऐसा लगता है।

अलबेयर काम् ने "द फाल" में आधुनिकता के नाम पर इस 'आत्मरति' का गहरा चित्रण किया है। अभी तक कोई ऐसा पर्यवेक्षण नहीं हुआ है जिससे पता चले कि आधुनिक मुद्रा धारणा करने के बाद बाजार में कौन कितने मँहगे या सस्ते बिके ? कितनों ने कितना रुपया पद यश और शिष्य प्राप्त करने के लिए क्या-क्या किया ? कितनों ने कितनों के साथ विश्वासघात किए ? मानवीय सम्बन्धों की अस्थिरता और अप्रतिबद्धता के नाम पर कितने कपटी मुनियों को कितना लाभ हुआ ? इत्यादि इत्यादि। मुद्राओं और कर्म के अन्तर्विरोध का अनुसन्धान अब होना ही चाहिए, क्या कोई साहसी अनुसन्धानकर्त्ता यह काम नहीं कर सकता ?

संग्रहमूलक समाज में संग्रह इसलिए किया जाता है कि सुख हो, और दूसरों का ध्यान आकर्षित हो, ताकि अपना भाव बढ़ सके। अगर रचना अन्यत्र नहीं छप सकती तो अपनी पत्रिका निकालो और उसमें अपनी तारीफ छापो। आत्मसाक्षात्कार हो न हो, नौकरी के लिए 'साक्षात्कार' के समय वह योगदान उपयोगी साबित होगा। मेरा मतलब यह हरगिज नहीं है कि नई पत्रिका निकालना गलत है लेकिन नवपत्रिका के पीछे दृष्टि क्या है ? जमने की और उखाड़ने की यानी अस्तित्व का संघर्ष या कोई और बड़ा उद्देश्य है ? विसंगतिवृद्धि में इस प्रवृत्ति का बहुत योग रहा है।

द फाल" में कथित आत्मरतिग्रस्त आधुनिक के कुछ 'स्वीकार' प्रस्तुत हैं ये हिन्दी के अनेक नकली आधुनिकों की असली तस्वीर पेश करते हैं—।

(१) मैं अन्यों के साथ सम्बन्धों में अप्रतिबद्ध हूँ क्योंकि मैं अपने को सर्वोच्च मानता हूँ।

(२) दूसरों के निरादर या अपमान किए बिना, दूसरों पर धाक नहीं जम सकती है।

(३) कोई भी व्यवस्था चाहे वह कितनी ही प्रतिभा-उज्ज्वल क्यों न हो शीघ्र ही मुझे ऊबा देती है लेकिन मैं उन प्रेमिकाओं के साथ नहीं ऊबता जिन्हें (जिस क्षण में) मैं चाहता हूँ।

(४) मैं मुक जाता हूँ क्योंकि मैं अपने को प्यार करता हूँ।

(५) ऊब की दवा औरत है।

(६) (कुछ लोग) दूसरों की नुक्ताचीनी इसलिए करते हैं ताकि उनकी आराधना न होने लगे।

(७) उन मित्रों का विश्वास मत करो जो आपसे कहें कि आप उनके प्रति सच्चे रहें।

(८) मैं कभी विश्वास नहीं कर सकता कि मानवीय विषयों को गम्भीरता से लेना चाहिए।

(९) 'मनुष्यों की आशा आकांक्षाओं या स्वार्थों में भागीदार न बनने के कारण मैं प्रतिबद्धता में विश्वास नहीं कर सका।''

(१०) "मैंने औरतों में शरण इसलिए ली क्योंकि वे कभी मानवद्रव्हता की निन्दा नहीं करतीं" ... दो स्त्रियों के मध्य ऐसा करने पर तृष्णा समाप्त होती है और आत्म यन्त्रणादायक नहीं रहती। दूसरे शब्दों में जीवित रहने का संकट समाप्त हो जाता है। (कम से कम कुछ समय के लिए !)

किन्तु इस आत्मग्रस्त आधुनिक" का कामू समर्थन नहीं करता अपितु वह इस आधुनिकता की विसंगतियों का पर्दा फाश करके रख देता है और इस पुराने नतीजे या 'मूल्य' पर पहुँचता है कि ऐन्द्रिय भोग कल्पनाशक्ति और निर्णयशक्ति का क्षय करता है। (पृ०७८) इसी तरह कामू ने यह भी महसूस किया था कि बहुत से लोग आजकल अपनी ही सूली पर इसलिए चढ़ रहे हैं (या कविता में यशा घोषित कर रहे हैं !) ताकि दूर से लोग उन्हें देख सकें और मजा यह है कि पहले से सूली पर चढ़े हुओं को कुचल कर वे स्वयं सूली पर चढ़ते हैं। सूली पर चढ़ने के लिए भी प्रतियोगिता है, आपाधापी है।

स्वराज्य, सुखी, समृद्ध जीवन बिताने की दृष्टि से भी नहीं तरक्की हुई है। अज्ञेय और मुक्तिबोध को मन में एक साथ रखकर देखने पर क्या लगता है ? लगता है नेहरूजी गांधीजी के साथ खड़े हैं यानी आधुनिकता में अज्ञेयियन मुक्तिबोध के पक्ष में है। मात्र भाषा संस्कार चेहरे और तब की लड़ाई तथा अवसरवादी हाथापाई अज्ञेय की विशेषता है और मुक्तिबोध में मुद्राएँ नहीं या स्वांग नहीं या संग्रहमूलकता नहीं असंगतियों का तीखा बोध या और अभिव्यक्तिउत्कट सावह—आत्मीय जीवन की ही तरह ! उधर कहानीकारों में जिनमें मुद्राएँ अधिक हैं विद्रोह की जगह आक्रोश अधिक है उनमें निर्देशन अब उभरता आ रहा है। गजानन माधव का स्थान ... में मुक्तिबोध के आतिथ्य के कारण हो हुआ है। श्री कान्त वर्मा जब 'मानीमांवी' रचनाओं में वह नहरा... नहीं आ पाई जो निर्मल वर्मा और दूधनाथसिंह की

कहानियो म है। अत 'पथ का तीरापन' या 'बनावटी न िन्च हिंसा एवमुन्न ही है और साथ ही अन्धविश्वास भी कि इसी तरह का टोन' अपना या देखने मे ऐसे लगो तो 'आधुनिक' मान लिए जाओगे।

आधुनिक कविता को टी० ई० ह्यूम ने जो दशन या मानसिक स्थि थी, उसमे मानववाद का विरोध किया गया था। धम से प्रेरणा लेने अलावा 'युद्धआहत' योरोप के सम्मुख अन्य कोई विकल्प नही था। इलिय और एजरा पौण्ड इस चेतना के प्रतिनिधि कवि थे। वे उस आधुनिकता विरोधी है जो सग्रथित चेतना' को लेकर नही चलती जिसमे सारा इतिहा नही बोलता अथवा जो अपने युग के लिए परम्परा का पुन उपाजन न करती अथवा जो भूत की वतमानकालीनता को नही पकड पाती। अज्ञेय को छोडकर अन्य अधिकांश आधुनिको ने तो नकारात्मक दृष्टि अपना ल क्योकि नकारात्मक होना सुविधाजनक है, उससे अपनी प्रतिष्ठा और स्था सुरक्षित होता है। सजन के स्तर पर, नयी भाषा या संवेदना की खोज नकारात्मक होना ठीक है लेकिन मानव नियति निर्धारण म या जीवन क जटिलताओ की तलाश म नकारात्मक या 'अस्वीकृति' अपनाना अबोधता य जडता है। और यह अस्वीकृति भी एक 'मूड' के रूप म रह तो कोई हज नह लेकिन इसे तो जीवनदशन' क रूप म प्रसारित किया जा रहा है सिफ दूसर से अपने को भिन्न सिद्ध करने के लिए।

इस विराट नकारात्मकता ने अनेक अन्धविश्वासों या पूर्वाग्रहो क जन्म दिया है जसे —

(१) कही कुछ नही हो सकता अत सिफ अपने को सम्बोधित रहो।

(२) विसगति ऊब अस्पष्टता और सन्देह क व्यतीकरण के लिए विसगत ऊबे हुए अस्पष्ट और सन्देहग्रस्त होकर जीना और भोगना अनिवार्य है तथा इसे व्याधि क रूप म नही उपचार और अनासिपन' क लिए अपनाना चाहिए।

(३) लेकिन सजन म किसी भी तरह की रोक का विरोध करो उदाहरण क लिए साठोत्तरी अमरीकी कविता म छन्दों का प्रयोग चल रहा है इस प्रवृत्ति की ओर स आँख मोड लो क्योंकि छन्द का अनुशासन न मानना ही हमारा ध्येय है अच्छी रचना बन या न बन।

(४) अपने को सकारो दूसरों को नकारो।

(५) धारणावाद का विरोध करो लेकिन मतवादपरकता की धारा धाओ म विश्राम करो।

(६) नया और पुराना परस्पर विरोधी होता है धारणा और अनुभव भी परस्पर विरोधी होते हैं तो फिर कथन और कर्म भी यदि परस्पर विरोधी हों तो इसमें क्या हानि है ?

आन्दोलन के अगुवा लेखक जो कहें उसे दुहराओ। जब उनकी जगह दूसरे नया आगे आ जाएँ तो उन्हें दुहराओ। इसकी चिन्ता मत करो कि कल तुम क्या कह रहे थे या कल क्या तुम कहोगे ?

अन्ततः और उलझता प्रश्न यह कि जिस 'विसंगति' या 'एब्सर्डिटी' के अस्तित्व की बात कही जा रही है वह जीवन और समाज में है, लेकिन उसकी बढ़ोतरी में भागीदार होना क्या वस्तुतः वांछनीय है ?

स्पष्ट है कि अपने वतन में जिस प्रकार अनेक राजनीतिक सिद्धान्तों की खिचड़ी पक रही है उसी तरह अनेक 'परस्पर विरोधी' आधुनिकताओं की भी खिचड़ी पक रही है, विसंगति का एक कारण यह भी है। इसलिए कोई किसी की नहीं सुन रहा है और वास्तविकता का अहसास एक दूसरे को काटती रेखाओं का अमूर्त चित्र बन गया है। इस दुष्चक्र को तोड़ने का उपाय तो राजनीतिक सामाजिक भी है किन्तु बौद्धिकस्तर पर इसे तोड़ने का उपाय है 'आधुनिकताओं का वस्तुगत अध्ययन"। विचारणीय यह है कि हमारे लेखकों के सम्मुख जो प्रारूप हैं नमूने हैं, वे कहाँ से आए हैं ? किन परिस्थितियों में उगे, पनपे और उनकी हमारे यहाँ संगति किस रूप में हो सकती है ?

उदाहरण के लिए एक 'आधुनिक दल' सिर्फ रचना प्रक्रिया के अध्ययन पर बल देता है तो दूसरा—रचना को प्राकृतिक कृति न मानकर (प्राकृतिक कृति में प्रयोजन और प्रभाव का अध्ययन नहीं होता यथा विज्ञान में। वहाँ रचना प्रक्रिया का ही अध्ययन होता है।) उसे मानव कृति मानता है और प्रत्येक 'मानव रचना' अपनी समग्रता में अपनी दृष्टि या प्रयोजन तथा प्रभाव को भी छिपाए रहती है। यारोपीय-अमरीकी आधुनिकता रचना के प्रयोजन और प्रभाव की चर्चा को गौण मानती है तो वामपंथी आधुनिकता प्रयोजन और प्रभाव के अध्ययन को 'रचना प्रक्रिया' का अपरिहार्य अङ्ग मानती है। पिछले दशकों की आधुनिकता के अध्ययन में रचनाकार और रचना के इरादों अभिप्रायों (चाहे वे कुछ भी कहें) की जाँच पड़ताल ही नहीं उस परिस्थिति या सन्दर्भ का भी विशेष विश्लेषण अनिवार्य है जिसमें एक खास तरह की मनस्थिति' आधुनिकता के प्रचार के लिए किन्हीं स्वार्थों द्वारा रचना गई

कर रहे है। (यानी साहित्य संस्कृति के क्षेत्र में वे धन का नियोजन कर रहे हैं, हम पर अहसान नहीं कर रहे।) वे हमें अपने जैसा बनाना चाहते हैं, वे चाहते हैं कि हमारी चेतना–मूलहीन और मूल्यहीन हो जाए। वे चाहते हैं हम उनकी जीवन विधि को यथावत् अपना लें। यदि हम उनसे भिन्न रहना चाहते है, अथवा अपने आप अपनी नियति का निर्माण करना चाहते है तब अपने विवेक को ही हमें निकष बनाना होगा जैसा कि अज्ञेयजी 'हिन्दी साहित्य के 'आधुनिक परिदृश्य (पृष्ठ ६–१६) में 'अन्तत' स्वीकार कर लेते हैं। यह क्या आकस्मिक तथ्य है कि नव्यतर किशोरों के द्वारा पिट जाने के बाद आधुनिकता के पूर्व दावेदार विवेक की बात करने लग जाते हैं? या यह भी स्वीकृति पाने की कोई मुद्रा है?

प्रबुद्धों की भूमिका

"प्रबुद्धवर्ग" ('इन्टेलेक्चुअल') इस अर्थ में एक वर्ग नहीं होता, जिस अर्थ में श्रमिक कृषक या सेठों का वर्ग होता है। प्रबुद्ध-वर्ग में सभी वर्गों, जातियों और समूहों से व्यक्ति आते हैं। पिछले बीस वर्षों में पीड़ित समूहों से, अनेक व्यक्ति प्रबुद्ध तबके में शामिल हुए हैं यह नीचे से ऊपर या लम्बाकार गति (वर्टीकल) बनती ही जायगी।

शिल्स ने भारतीय बुद्धिवादी वर्ग के विषय में कुल मिलाकर संतोषजनक धारणा व्यक्त नहीं की। शिल्स ने इस वर्ग की साधनहीनता-संस्कारप्रियता, अवाधता और अमौलिकता पर कटाक्ष किये हैं जो सही हैं। सम्भावना की दृष्टि से इस वर्ग से बड़ी बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं।

लेकिन इस शिविर की भूमिका के लिये भारतीय समाज की संरचना को ध्यान में रखना जरूरी है। भारतीय समाज विभिन्न जातियों, धर्मों और परस्पर विरोधी स्वार्थों का एक पिटारा है। इसलिए प्रबुद्ध वर्ग एक अजीब कशमकश में फँसा रहता है। मुख्य विशेषता यह है कि प्रबुद्ध व्यक्ति अपनी स्थिति की सुरक्षा के प्रति सर्वाधिक जागरूक रहता है। राजनीति शिक्षा, साहित्य और अन्य सभी क्षेत्रों में यही हकीकत है।

यही कारण है विचारों और चिन्तन प्रक्रिया का उतना महत्व नहीं रह जाता, जितना महत्व 'स्वरक्षा चेतना' को मिलता है। इस दशा या दुर्दशा में सक्रिय योगदान के लिए 'स्वतन्त्रता' एक सीमित मात्रा में ही दिखाई पड़ती है।

'स्वरक्षाचेतना' व्यक्तिवादी आदर्शों, आशाओं और धारणाओं की ओर ले जाती है। अनिश्चय, असहिष्णुता, निष्करणा और 'बहरेपन' का कारण भी यही है।

विज्ञान में विचारों का संघर्ष कम आविष्कारों का संघर्ष अधिक होता है। इसलिए वहाँ प्रबुद्ध व्यक्ति मानव और समाज सम्बन्धित प्रश्नों पर मौन रहता है लेकिन कला, राजनीति, समाज शास्त्र, संस्कृति और दर्शन के क्षेत्रों में वरण और चयन का प्रश्न आता है।

प्रस्तुत करना ही तत्ववेत्ताओं का काम है—दूसरा का मात्र हिंडोरची होना नहीं, चाहे वह दल या मत कोई भी क्यों न हो।

कोई नहीं कह सकता कि यह 'विवक पिछले बीस वर्षों म, वावजूद सारी विसगतियो और भटकावा के, बढा नहीं है। प्रबुद्ध वर्गों के सम्पक म छात्र, कायकर्ता, श्रमिक आदि पहले से अधिक सतक क्षुब्ध, सूचनायुक्त और अधिक सजकी-साहसी हो गये हैं, होते जा रहे हैं। इसके पीछे प्रबुद्धो की सगत-असगत भूमिका भी है और उनकी बेबसी क्लीवता और जडता भी।

यह रोमांटिक कल्पना है कि बिना किसी बडी उथल पुथल के प्रबुद्धवग किसी एक दिशा म, जनता का नेतत्व करेगा। परिवतन का भार श्रमिक' ढोते हैं, बुद्धिजीवी नहीं। बुद्धिवादी तो और भी नहीं क्योंकि विवेक की रक्षा के लिए उन्हें आराम स रहना पडता है— गमे कौम है लेकिन—आराम के साथ"।

लेकिन किसी व्यापक 'बल्लाव म अथवा समान—स्वाथ वाले सवालो (जसे देश की प्रभुसत्ता आदि) पर प्रबुद्धवग की एकता देखी जा सकती है। फ्रास की राज्यक्रान्ति मे अगुवा प्रबुद्ध थे लेकिन श्रमिकों के साथ अपना भाग्य न बाँधने और मध्यवर्गीयभ्रमो' के कारण प्रबुद्धो की ही क्लीवता प्रमाणित हुई थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद से देश के विभाजन का समझौता भारतीय प्रबुद्धो ने ही किया था जिसम गाधी नेहरू और जिन्ना सभी समान रूप से दोषी है। अगर श्रमिको और बुद्धिजीवियो का वास्तविक समीकरण नतत्व मे होता तो क्या देश बँट सकता था? क्या साधारण व्यक्ति को सम्प्रदायवादी भ्रष्टाचारी स्वार्थी, प्रभु' और प्रबुद्ध वग के ही व्यक्ति नहा बनाते? प्रभु और प्रबुद्ध अपना हृदय-परिवतन करलें तो ठीक अन्यथा मजदूरी म उन्हें बदलना होगा।

क्या यह कल्पना अधिक कठिन है कि हमारे प्रबुद्धो म अधिकतर बुद्धि वादिता को पेशा समझ कर आते हैं ध्येय समझ कर नहीं? यह क्या पहचानना असम्भव है कि औसत प्रबुद्ध' अहकार की दृष्टि से प्राड सज्जा की दृष्टि से रईस सस्कारो की दृष्टि स आदिम या अधिक स अधिक मध्य कालीन लहजे की दृष्टि से आधुनिक और नतिक साहस की दृष्टि स चूहा है? उसमे बिल्ली की चालाकी, कुत्ते की भक्ति, गिद्ध की दूरदृष्टि, वानर की वासना और शूकर की आत्मतृप्ति है। सूचनाओं की दृष्टि म है

की दृष्टि स नहीं। यह नि अपवाद अनेक हैं

प्रबुद्ध वर्ग, वस्तुत तब अपना भूमिका समझेगा जब वह प्रभु वर्ग' की नकल से बाज आएगा और दृढ़ता स अपना भाग्य आम जनता से जोड लेगा, इस जुडाव के अभाव के कारण ही 'साहित्यिक' किसिम के जीव 'तुडाव या अलगाव को 'शाश्वत जीवन दशा' मानने लगे हैं। यह 'व्यभिचारी भाव' है और सिर्फ सामयिक है।

साहित्य म प्रबुद्धचेतना के लिए आम आदमी की हरारत का हो चाट न हो बल्कि सकुल यथार्थ का वस्तुगत चित्रण और अधिक होना चाहिए। क्या क्याकारों ने प्रबुद्ध और समूहों की तस्वीरें पेश की हैं? मात्र गालियाँ देने स या 'यौनक्राति से नहीं, बल्कि पाठक के सम्मुख सामाजिक यथार्थ को विशद रूप म प्रस्तुत करना होगा। वयक्तिक सकटबोध को वाणी तो दी ही गई है। साहित्यकार इन प्रबुद्धा का असली हुलिया आम पाठक को पश क्या नहीं करत? हिन्दी म तो किसी न किसी नौकरशाह का भी निर्भय-क्लोस चित्रण नहीं है, न किसी वज्ञानिक का, न किसी 'बुद्धिवादी' की जब यह स्थिति है तब हम 'असाहित्यिक प्रबुद्धा' से क्या आशा कर सकते हैं?

आलोचना बनाम आलोचना

हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में 'आलोचना' (त्रैमासिक) की कहानी दिलचस्प है। श्री शिवदानसिंह चौहान इसके प्रथम सम्पादक थे— पाठकों की आशा बँधी थी कि अब हिन्दी में एक विशेष दृष्टि से साहित्य, संस्कृति और समाज को देखा जा सकेगा और इस "दृष्टि" (प्रगतिवादी) के सम्बन्ध में भी अन्य "दृष्टियाँ" मिलती रहेंगी लेकिन जब तक आलोचना का प्रगतिवादी स्वरूप निश्चित हो, जब तक आलोचना पर कम्यूनिज्म का आरोप लगाकर उसे—कम्यूनिज्म विरोधी, धर्मवीर भारती, विजयदेवनारायण साही वगैरह को सौंपने की स्थिति आई लेकिन चौहान जी जिस तरह अपनी द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि के बावजूद एक व्यापक लेखक समूह का साथ लेकर चले वह नवीन "सम्पादकों" के लिए असम्भव हो गया फलतः पुनः आलोचना को वहाँ से तलाक दिला कर उसे आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को सुपुर्द कर दिया गया लेकिन वाजपेयीजी की 'अध्यापकीय" ठण्डी और अछूत "भारतीय संस्कृति प्रधान" एवम् नवलेखन विरोधी दृष्टि के कारण पुनः पाठकों ने महसूस किया कि "वरण' में फिर गल्ती होगई। अन्य कारण भी होंगे। पुनः आलोचना चौहानजी के पास लौट आई। लेकिन अब तक चौहानजी भी उतने सक्रिय नहीं रह गए थे और यह भी था कि उनके साथ नायक प्रचारकों ने जो बर्ताव किया, उसके वह अभ्यस्त नहीं थे फिर भी उनमें अभी इतना तेज था कि वह आलोचना और उसके प्रचारक लोगों को छोड़ सकते थे। इस दुबारा तलाक की कार्यवाही में आगामी सम्पादक ने भी अपना सहायक योगदान दिया और आलोचना अब डा० नामवरसिंह के पास है।

बहरहाल डा० नामवरसिंह के पास आने पर आशा यह थी (अभी तक हिन्दी के पाठकों का भ्रमभंग नहीं हुआ है।) कि पिछले [illegible] द्वारा में जो उलझाव उत्पन्न हो गया है उस पर नामवरसिंह अब अवसर विचार करा देंगे और आलोचना को वास्तविक चिन्तन और चिन्तन का माध्यम बनाया जा सकेगा लेकिन आलोचना के दो अंकों को देखकर यह कहा जा सकता है कि नामवर आलोचना ने इस उलझाव को बढ़ाने के वास्ते कामयाबी हासिल की है और बिना सुने हुए और अगरचे बनाम में रचनाओं और

लखकों का सग्रह किया गया है वह गौरतलब ह । आलोचना से किन पक्षो पर प्रकाश अपेक्षित था ?

१-साम्यवाद और समकालीन साहित्य का स्वरूप और रिश्ता क्या है, क्या होना चाहिए ?

२-आइडियालोजी को पिछले दशकों के बहुत से लेखक नकारते रहे हैं, इनमें कुछ लेखक तो ऐसे हैं जो अपने को शहीदाना अदाज मे कम्यूनिस्ट भी कहते थे। आज ऐसे लखकों की हिन्दी मे स्थिति क्या है ? भारत भूषण (जिनकी कविता दी गई है) प्रभाकर माचवे, नमीचन्द जैन आदि की स्थिति यदि "चुनाव के बाद" स्पष्ट हो पाती तो 'साहित्यिक जनता" को अधिक लाभ होता क्योंकि चुनाव का या राजनीति का जो विश्लेषण दिया गया है उसका समकालीन साहित्यिक चेतना से सम्बन्ध जोडकर नहीं दिखाया जा सका।

साम्यवादी सिद्धान्त उसके असली रूप विशेषकर सन १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद, के 'बौद्धिक भ्रमभंग" का विश्लेषण हो सकता था लेकिन शायद 'बुलेपन" लडाकूपन तेजतर्रार (द्वितीय अक, पृष्ठ ८, सम्पादकीय) विशेषणों का सम्बन्ध 'अपनी स्थिति से नहीं है पराई स्थिति से ही है। और यदि यह आवरण, अस्पष्टता, सकेत, मौन वगैरह किसी विस्फोटक राजनतिक 'क्रांति" की प्रतीक्षा के कारण है तो वसा साफ कहने में क्या हानि है ? कोई उग्रवामपथी अपने इरादों को नहीं छिपाता। यदि मार्क्सवाद म मौलिक सशोधनो की आवश्यकता है तो उसे वैसा कहने मे क्या सकट है ? यदि मार्क्सवाद त्याज्य है तो क्या नामवरसिह उसे मन से छोड चुके हैं ? केवल तन से साम्यवादी होना अजीब स्थिति है। आखिर अब तो पाठकों को बताइये कि आप क्या हैं और क्या करना चाहते हैं ? जब तक आधुनिकता" और साम्यवादी चिंतन और व्यवहार का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं किया जाता तब तक पाठक को हक है कि वह सदेहवाद और अवसरवाद का आरोप लगाए। आलोचना को पढ़कर यह नहीं लगता कि सम्पादक सामाजिक दृष्टि-अवरोध की हालत म कोई दिशा देना चाहता है। हाँ अपनी दोस्ती दुश्मनी भॅजाने पर उसका ध्यान अधिक है। इसका सबूत है कमलेश्वर भारती के लगों का नामवरसिह पर आतंक। क्या प्रथम अक के सम्पादकीय का स्तर यही होना चाहिए था ?

हिन्दी का पाठक आपके निजी दोस्ती-अदावती मसलो मे कोई । नहीं रखता। वह सच्चाई जानना चाहता है जिस प्रथम सम्पादकीय

राजेन्द्र यादव की टिप्पणी पर सपादकीय नोट से छिपाया गया है। कल तक कमलेश्वर, यादव और राकेश प्रगतिकामी लेखक थे, आज वे अगत नहीं 'पूगत "पथभ्रष्ट हो गए। यदि यह सही है तब प्रगतिवाद के प्रथम उत्साह म जो सकीर्ण समाजशास्त्र पनपा था उसम और इस 'नय मार्क्सवाद" म क्या अन्तर है? सत्त्स सबधी गरजिम्मेदाराना रवय्ये का विरोध चाहे शत्रु कर या मित्र यदि आपका ध्यान सच्चाई पर है तो उसका स्वागत करना चाहिए। इसका यह अथ नहीं कि कमलेश्वर या यादव स आप सब जगह सहमत ही हो। अत नामवर की दृष्टि सत्योन्मुख' न होकर न होकर राजनतिक दावपचो क कारण, असत्य से 'डिफ्यूज्ड" हो जाती है और यह धनपञ्जन तथा डिफ्यूजन दोनो सपादकीयो म स्पष्ट देखा जा सकता है। साफ लगता है कि सपादक खुल नहीं रहा है कुछ छिपा रहा है, कुछ कहना चाहता है पर कहते कहते कुछ और कहने लगता है। ऐसा क्यो है, किसका डर है?

अब सपादक की कतिपय 'धारणाओं' पर विचार होना चाहिए।

जिस तरह प्रारभिक प्रगतिवाद ने नेतत्व के लिए छायावादी कवियो को जबरदस्ती अपने चौखटे म कसने का प्रयत्न किया था, और उनम भी अपने 'प्रिय कवि को क्रांतिकारी और अप्रिय को प्रतिगामी घोषित किया था उसी तरह (दावपच भिन्न हैं) नामवरसिंह ने अब 'समकालीन" लेखको का नेतत्व करना चाहा है। जब कि असलियत यह है कि आज का 'नवलेखक' बेचारे नामवरसिंह तो क्या मार्क्स माओ या फिर इलियट अन्य किसी को भी अपना नेता नहीं मानना चाहता। वह आलोचक, नेताओ अथवा पत्रकारो पर भी भरोसा नहीं करता क्योंकि पता नहीं कब, कौन नेता, लेखक विशेष के विषय म अपनी व्याख्या बदल दे। इस स्थिति मे आलोचना दादागीरी न करके यथासभव निर्मम होकर अपनी द्वद्वात्मक दृष्टि से, समकालीन साहित्य की विशिष्टताओं और न्यूनताओं पर विचार कर सकती थी सभी प्रगतिशील लेखको का सहयोग प्राप्त कर सकती थी लेकिन क्या ऐसा हो सता है?

यदि "कृति एक सास्कृतिक प्रक्रिया है और कृतिकार पाठक और आलोचक एक ही प्रक्रिया के अग हैं' (द्वितीय अक, पृष्ठ २ सम्पादकीय) तब परिवर्तनकामी, आलोचक के सम्मुख "शत्रुता मित्रता का 'द्वद्व' नहीं रह सकता। शत्रु वह है जो गति म बाधक है क्रान्ति का अवरोधक है चाहे वह क्रिया क रूप म हो या धारणा क रूप म। अत मार्क्सवादी चेतना म यह गर्व नहीं कर सकता कि "स्व अपने' लिए लिखता है। यह 'स्व' और 'बाह्य

'व्यक्ति और समाज", 'क्षण और प्रवाह' आदि को परस्पर विरोधी तत्वों के रूप में, जो पिछले दशकों में प्रस्तुत किया गया है, गलत है। यह बाह्य परिवेश में, भेदों और वैषम्यों की अधिकता तथा संग्रह मूलक सभ्यताओं (एक्वीजीटिव सोसाइटीज) का प्रभाव है जिससे हम तब तक नहीं बच सकते जब तक अपने देश की 'अर्धऔपनिवेशिक" स्थिति समाप्त करके हम १६ वीं शताब्दी की साम्राज्यवादी संस्कृति के अवशेषों से मुक्त नहीं होते। तब तक हम स्पष्ट विकल्प पाठक के सम्मुख रख नहीं सकते। लेकिन "आधुनिकता' के नाम पर नामवरसिंह, "समकालीन लेखन' व "अमूर्त समर्थन" में इस बन्धे हुए सांस्कृतिक स्तर को नकारते हैं, जो हैरीसन (इण्डिया द मोस्ट डेंजरस डिकेड्स) सीगल आदि अमरीकी लेखकों की कृतियों से उभर कर सम्मुख आ रहा है। संग्रहमूलक जनतन्त्रों की इस "आधुनिक सभ्यता" और उसके 'साहित्य" के प्रति "नामवरी' आलोचना की दृष्टि क्या है?

यदि 'आलोचना' त्रैमासिक मात्र प्लेटफार्म है तो भी कोई हर्ज नहीं लेकिन "विभिन्न प्रतिक्रियाओं के द्वन्द्व' से जो संगति निर्मित होगी उसका क्या पूर्वाभास सम्पादक को है? यदि यह पूर्वाभास सम्पादक को होता तो 'नई आलोचना', 'संघटनात्मक आलोचना' (स्ट्रक्चरल क्रिटीसिज्म) तथा 'शैली विज्ञान' के मात्र परिचय से संतुष्ट न होकर, सम्पादक इन नवीन 'मेथडालोजीज की न्यूनताओं को भी" रेखांकित करता। सत्य यह है कि 'माया-शैलीवादी विश्लेषण पद्धतियों में, रचना प्रक्रिया की अवधि में, विचारों की भूमिका को उपेक्षित कर दिया जाता है। अमरीका में वस्तुतः जिस 'नवरीतिवाद' का आविष्कार हुआ है उससे नामवरसिंह आतंकित लगते हैं। निश्चय ही, अमरीका की इस 'नयी आलोचना' या कृतीक्षा से भी बहुत सी बातें हम सीख सकते हैं लेकिन यहाँ तो 'अंधानुकरण' की परंपरा प्रबल है अतः खतरा यही है कि पाठक कहीं यह न समझ लें कि अन्य विधियाँ तो पिछड़ गई, नवीनतम विधि अमरीकी विधि है और इस नवीनतम विधि के अंधानुकरण का परिणाम यह होगा कि हमारे साहित्य चिंतन में सामान्य प्रश्नों पर (संस्कृति-समाज के संदर्भ में साहित्य पर विचार आदि) जो संवाद' होता है, वह असम्बद्ध हो जायगा। यह स्मरणीय है कि अमरीका में भी इस विवरण प्रधान विधि' से वहाँ के सभी आलोचक संतुष्ट नहीं हैं और स्वयं— एलन टेट' जैसे प्रबुद्ध नये आलोचक ने भी तथाकथित— नयी आलोचना' का साथ समझ कर ही प्रयोग किया है। उसके संकलित निबन्धों में 'सामान्य प्रश्नों पर भी विचार मिलता है। नामवर[illegible] मानना है कि

'नयी आलोचना' पद्धति म निहित, वस्तुगत या अ यक्तिगत 'एप्रोच' को ह स्वीकार किया जा सकता है, उसकी ' औपचारिक" विवरणपरकता को नही 'नयी आलोचना के नवरीतिवाद से चिढकर, शिकागो के नव अरस्तूवादियों पुन सद्धा तिक आलोचना का समथन किया है।

अत प्रश्न मानदण्डो का भी है और पद्धति का भी है। प्रत्यक आलोचक जान या अनजान म प्राय जानकर ही किसी विश्लेषण विधि' को अपनाता है। इस विधि क पीछे उसकी जीवनदृष्टि और रुचि रहती है और यह आवश्यक नही कि उसमें अ य विधियाँ सहायक न हो। उदाहरणत मार्क्सवादी विधि स यथावसर आप मनोवैज्ञानिक विधि, भाषाशास्त्रीय विधि आदि का प्रयोग कर सकते है इसी तरह मनोविश्लेषक समाज मनोविज्ञान को व्यक्ति मनोविज्ञान क साथ ही अपने अवधान म रख सकता है। जब भी हम किसी चीज का अध्ययन करना चाहते हैं तुर त 'विधि' का प्रश्न आ जाता है स्वय—मार्क्सवाद या द्वद्वात्मक भौतिकवाद यदि एक दृष्टि है तो एक विधि भी है और प्रत्येक विधि स विवच्य वस्तु पर नूतन प्रकाश पडता है। आधुनिक" ज्ञान के विकास का एक बडा कारण इन विधियो और उनक लिए धारणाओ का ही विकास है।

इसी स दभ म विश्लेषण क अस्त्रो और मानको के रूप म प्राचीन काव्यशास्त्र सौ दयशास्त्र आदि के पुनमू ल्याकन की आवश्यकता होती है। प्रत्येक युग म परम्परा का मन्थन होता है। त्याग और ग्रहण होता है विदेशो से तुलना और सादृश्य प्रस्तुत होता है यह चयनवाद' (एक्लेक्टिसिज्म) नहा तलाश है प्रयोग है—और तलाश और प्रयोग म भूतकाल का बहिष्कार सम्भव नही है। मानवज्ञानशाखाओ (ह्यूमनिटीज) म, प्राचीन शास्त्र यदि कही किसी विवेचन बिन्दु पर महत्वपूर्ण आलोक देते हो तो उसे वैज्ञानिक दृष्टि रखने वाला व्यक्ति कसे त्याग सकता है?—एक्लेक्टीसिज्म' वहाँ होता है, जहाँ आप सग्रह क लिए सग्रह करें अथवा चयनवाद वहाँ होता है जहाँ किसी एक पद्धति क आधार पर अ य पद्धतियो धारणाओ का समन्वय (इन्टीग्रेशन) नहा हो पाता। उदाहरण के लिए मार्क्सवादी लेखक द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि और पद्धति क आधार पर अ य दृष्टियो और पद्धतियो का, सर्जनात्मक उपयोग' कर सकता है उदाहरणत क्रिस्टोफर काडवेल न, भौतिकवाद क आधार पर, इसी समन्वित पद्धति का प्रयोग अपने चिन्तन और आलोचना म किया है। इसक सिवा वतमान प्रश्नो के समाधान क लिए ही तलाश होता है और उस प्रक्रिया म भूत का अध्ययन होता है, वहाँ उस

"चयनवाद" कहना अविवेक है। जहाँ मात्र ज्ञान प्रदान के लिए "अभिनवगुप्त, रिचर्ड्स, वाल्टर" आदि को एकत्र किया जाय, वहाँ चयनवाद होता है किन्तु उद्बोधित चिंतन के लिए, सत्य के अनुसंधान की एक शृंखला होती है जिसमें पत्र की कड़ी से अगली कड़ी बनती है, स्वयं मार्क्स इसके सबूत हैं। प्रत्ययवादी विचारकों और विशेषकर हीगेल के 'प्रत्ययवाद' के संदर्भ में, विरचित 'द्वन्द्ववाद' का 'चयन' ही मार्क्स ने किया था क्योंकि मार्क्स सामयिक अनुगूँजों और तमाशों से प्रभावित नहीं थे। वे मात्र नवीनता नहीं, 'सत्य' की तलाश में थे और इसीलिए प्रत्ययवाद के घोर विरोधी थे लेकिन थे उसी के ऋणी। लगता है नामवरसिंह सामयिक गूँजों-अनुगूँजों के शोर में अपना स्वर खो रहे हैं अथवा वे जानबूझ कर "फ्रॉड" कर रहे हैं।

क्योंकि विज्ञान की भाषा तनाव पक्षपात, आवेश, रुदन, और हाय हाय से बचकर चलती है अतः आलोचना का आदर्श रूप वही होगा जिसमें भावुकता न हो और जो अपने विश्लेषणपरक स्वरूप को न खो दे। रामचन्द्र शुक्ल की शैली इसीलिए चल पड़ी क्योंकि वह 'पत्रकारिता' से बचकर (शुक्ल जी के पूर्व पत्रकारिता की शैली प्रबल थी) विवेचनात्मक (एनालिटिकल) व्यक्तित्व बनाकर चलती है। लेकिन यत्र तत्र किसी भी "गम्भीर" किन्तु 'सजीव' व्यक्ति की तरह वह चुटकियाँ लेती है चिकोटियाँ काटती है और मौज आ जाए तो झापट भी रसीद कर देती है। लेकिन उसका मुख्य रूप विवेचनात्मक ही है। इस शैली में ध्यान कृति प्रवृत्ति या प्रतिमान के विश्लेषण पर रहता है मूल्यांकन छनकर स्वतः आ जाता है। इसमें अपनी रुचियों, पक्षपातों से ऊपर उठना पड़ता है और अपने निष्कर्षों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है (प्रत्येक बात पर सन्देह करो'—मार्क्स) किन्तु संदेह और आत्मालोचन का अर्थ—संदेहवादी होना नहीं है। इस प्रकार आलोचना का प्रामाणिक स्वरूप और उसकी भाषा विवेचनात्मक (एनाल्टीकल) ही होगी क्योंकि पाठक आलोचना को मनोरंजन के लिए नहीं कृति की विशेषताओं न्यूनताओं के उद्घाटन सृजनकर्म से सम्बन्धित सामान्य चर्चा (कला क्या है सार्थकता क्या है कथ्य और रूप क्या है, संस्कृति और समाज में उसका क्या स्थान है आदि) के लिए पढ़ते हैं। यह अच्छा है कि नामवरसिंह ने शुक्ल जी के उद्धरण से बात शुरू की है लेकिन वे यह भूलते हैं कि शिवदानसिंह चौहान और स्वयं उनकी अपनी भाषा भी शुद्ध शुक्ल परम्परा की है और यह भी कि डा० रामविलास शर्मा सर्वत्र सर्वस्वीकृत पद्धति नहीं अपनाते। निबंधों के अलावा उन्होंने पुस्तकें भी लिखी हैं। (शिवदानसिंह रांगेय राघव, राहुल आदि के नामों का बहिष्कार ध्यान देने योग्य है)

सजनशील आलोचना का अपना महत्व है, लेकिन अतत बुनियाद चितन के लिये वह कच्ची सामग्री ही साबित होती है। प्रारम्भ म प्राय प्रभाव आविष्ट आलोचना आती है, धीरे धीरे कृतियो और युगो का वस्तुग वज्ञानिक अध्ययन अनुसधान चल पडता है अत विश्वविद्यालयों म प्रचलित "शली" का दोप नही है, दोप आत्म सतुष्टि का है जो तलस्पर्शी, प्रश्नाकुल और वज्ञानिक नही होने देती है। अतिविशेषीकरण स साहित्य को जो निरपेक्ष रूप म देखा जा रहा है वह ज्यादा बडा खतरा है। वस्तुत अपने "मुहावरे" के विकास के चक्कर म विभिन्न ज्ञानविज्ञान से अपरिचित रहना और व्यवस्थित चि तन न करना अब फशन बनता जा रहा है, "बचकाने पन" का एक बहुत बडा करना यह है।

अ त मे ' मार्क्सवादी आलोचना" के विषय मे पुन कुछ कहना आव श्यक है। लुकाच का कथन है कि मार्क्सवादी सौ दयशास्त्र का विकास सभव है (इट्रोडक्शन टू ए मोनोग्राफ आफ इस्थटिक्स) इससे एक ओर तो ' प्रत्यय वादी चितन" का प्रभाव कम होकर 'वज्ञानिकता" बढ सकेगी और दूसरे समकालीन सग्रह मूलक समाजो को जस्टीफाई" करने वाली और वस्तुत इसी उद्देश्य के लिए उत्पन्न की गई रचनाओ—धारणाओ और आलोचनाओं का—शील भग किया जा सकेगा। आलोचना ' म इस तरह की— वचारिक जागरूकता का कही परिचय नही मिलता।

मैं आलोचना के लेखको की धारणाओ पर यहाँ विचार नही करना चाहता क्योकि लेखको को आलोचना" म लिखना है और धमयुग या सारिका म भी छपना है अथवा जो ' सादर ' उनके रचना, मांगे उसम प्रकाशित होना है। किन्तु यह क्या आकस्मिक है कि हिन्दी म सिफ दो ही आलोचक माने गये, एक श्री विजयदेव नारायण साही दूसर आलोचना के सम्पादक डा० नामवरसिंह ! यह क्या आकस्मिक है कि आलोचना म जिस ग्रुप ने साम्यवाद की कुत्सित नि दा की और जो अब भी या तो सेठो की थलिया के चट्टे बट्टे हैं अथवा अपने मध्यवर्गीय भ्रमो के कारण कम्यूनिज्म विरोध का काय बडी हैकडी से कर रहे हैं उसी ग्रुप क—लेखको को विशषकर, आमन्त्रित किया गया, 'नए लेखको म पक्षधरता' को भी लतियाया गया ? क्या नामवरसिंह अज्ञेय या कान्त वर्मा रघुवीर सहाय वगरह की वचारिक अगगतियो स वाकिफ हैं या जानबूझ कर अपन कि हा विरोधियों क खिलाफ उन्ह इस्तेमाल करना चाहते हैं ?

निराला . समसामयिक सौन्दर्य में

"अंग्रेजी कविता में सक्रान्ति" नामक पुस्तक मे वी० पिंटो ने लिखा है कि अंग्रेजी कविता में आधुनिक और पारम्परिक की खाई भर ली गई है, कि टी० एस० इलियट, ई० सिटवल और सी० डे० लीविस को न 'आधुनिक' कहा जा सकता है, न 'पारम्परिक' क्योंकि इन कवियों ने आधुनिकता से सबक लेकर अंग्रेजी काव्य परम्परा को अपने में समेट लिया है किन्तु बाह्य परिवेश में अब भी सक्रान्ति है जो अब भी सगति नहीं पा सकी है। अपने स्वरूप की रक्षा के लिए कविता अब भी केवल कुछ लोगों की कविता बनी हुई है। एफ० आर० लीविस का कथन है कि जनता के बिना कविता जिन्दा नहीं रह सकती। साधारण व्यक्ति कविता को नहीं पढ़ता, यह महत्वपूर्ण सत्य है।[1]

किन्तु आस्ट्रेलिया में जनवरी १९६७ में होने वाले 'आस्ट्रेलिया और एशिया के साहित्यों में आदान प्रदान' विषय पर परिसवाद में कवयित्री जूडिथ राइट ने आतरिक खाई और बाह्य खाई दोनों को स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता में कवि की स्थिति दु खद है। पूर्वी देशों में कवि कम जितना सहज और सामान्य माना जाता है या कम से कम कुछ दिन पहले माना जाता था पाश्चात्य देशों में उतना नहीं माना जाता। कवि यहाँ अजूबा होकर रह गया है। कवि को आदर निश्चय ही प्राप्त है, यानी अगर आलोचक किसी कवि को महान् घोषित कर दें तो लोग उसका नाम जान जाएँगे भले ही उसकी कविताएँ उन्होंने कभी न दी हों। लेकिन यह विचित्र प्रकार की प्रतिष्ठा है। इससे कभी कभी सरक्षण भाव की गध आती है हमे भूत चुडैलों में आस्था नहीं है लेकिन एक माने में उनका स्थान कवि ने ले लिया है। अधिकतर लोग मानते हैं कि कवि और कविता का सम्बन्ध कुछ निषिद्ध और गोपन विषयों से है। किसी गप गोष्ठी में किसी कविता का उद्धरण प्रस्तुत कीजिए और फिर देखिए कैसा सन्नाटा छा जाता है। हम कविता पर भरोसा नहीं है, हमारे लिए निश्चय ही यह किसी चुनौती

---

१ Crisis in English Poetry, V de S Pinto, Page 234 235

का रूप नहीं है। हम डर है कि अगर हम उसे कच्चा खाने की कोशिश करेंगे तो वह हम कच्चा खा जायगी। कविता से भावात्म अपच हो जाएगा किसी न किसी रूप में हमारी कलई खुल जायगी। इसीलिए हम बिचौलिए की माँग करते हैं। हम कहते हैं कि कोई अध्यापक या आलोचक हमारे और कविता के बीच आकर खड़ा हो।"[१]

इससे स्पष्ट है कि बाहरी खाई के अलावा आतरिक खाई भी अभी है और यही समसामयिक कविता की स्थिति है। इस आतरिक खाई की पहचान ही नयी कविता, अकविता, दिगम्बर कविता भूखी पीढी की कविता, क्रुद्ध युवकों की कविता, युयुत्सावादी कविता, विद्रोही कविता, ताजी और ठोस कविता के विभिन्न रूपों में सामने आती रही है। बाह्य परिस्थिति में भी उलझन इतनी अधिक है कि प्रत्येक साधारणीकृत निष्कर्ष जल्द ही अधूरा लगने लगता है।

निराला जी के काव्य के प्रारम्भिक दौर में, कम से कम कवि की दृष्टि से परिस्थिति और प्रबन्ध प्रयोता के मध्य 'द्वन्द्व' को एक रोमांटिक 'मिथ द्वारा 'सगति' दी गई थी जो समसामयिक दृष्टि से आरोपित लग सकती है किन्तु निराला के लिए वह स्वय उपलब्ध विश्वास के रूप में थी। प्रश्नों परेशानियों में सकट को विवेकानन्द ने अद्वैत' वेदान्त के आधार पर, सुलझा लिया था और निराला ने वहीं से 'अधिवास' प्राप्त कर लिया था जिसके बल पर जीवन और प्रकृति ही नहीं, आधुनिक और पिछड़ी सभ्यताओं के व्यक्ति मात्र की एकता और मुक्ति घोषित हो रही थी।[२]

यह 'समन्वय सूत्र', आज की दृष्टि से 'भ्रम' होने पर भी 'सौन्दर्य' की सृष्टि के लिए, विराट और उदात्त के प्रति उन्मुखता के लिए एवन् दूसरी

---

१ दिनमान १८ फरवरी सन् १९६७ ई०

२ "साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में देख पड़ती है, इस तरह जाति के मुक्ति प्रयास का पता चलता है, चित्रों की सृष्टि होती है, पर यहाँ उन तमाम चित्रों को अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की बड़ी चेष्टा रहती है साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है और यही मुक्तिप्रयास के चिह्न भी हैं जाति के मस्तिष्क में विराट दृश्यों के समावेश के साथ ही साथ स्वतन्त्रता को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं—

— 'परिमल' की भूमिका'

आर 'भाग्मत्ता' के अभावजन्य 'दानों' के प्रति तादात्म्य के लिए भी एक सहायक तत्व है जिसकी अभिव्यक्ति 'विधवा', 'भिक्षुक' आदि में और मनुष्य की विवशताओं परतन्त्रताओं के विरुद्ध 'बादलराग' 'जागो फिर एक बार', शिवाजी का पत्र जैसी रचनाओं में हुई है अत दिक्काल की—अतिक्रान्ति करने वाले इस 'ब्रह्म' का बोध, स्वच्छन्दतावाद व मानववाद का अविरोधी बनकर आया था, जिसमें अपूर्णता का निषेध था, पूर्णता का नहीं। 'जुही की कली', सन्ध्या सुन्दरी, 'तरंगों के प्रति' गीतिका के गीत, तुलसीदास और राम की शक्तिपूजा में कमनीय और महान को अपने में उतारने का वह प्रयत्न, समन्वय का उन आदर्शों से जोड़ता था जो अन्तिम व्याख्या में निराला के शब्दों में 'कुरूपता' से "मुक्ति का व्यापक प्रयास" था।

किन्तु परवर्ती प्रयोगशील काव्य में निराला जहाँ अर्चना और आराधना में उक्त "मिथ" के प्रति निवेदन करते रहते हैं वहाँ 'कुकुरमुत्ता' 'नए पत्ते', बेला' और अणिमा—विशेषकर प्रथम दो में, असंगतियों को वे 'अविनश्वर' से नहीं जोड़ते हैं वह सीधे सामयिक' की कुरूपताओं को प्रस्तुत करते हैं। अवयवों में अनुपात और अविच्छिन्नता खोजने वाली उनकी चेतना कण्ट-जालों और विसंगतियों पर ही ध्यान केन्द्रित करती है। अभिव्यक्ति का 'छायावादी' रूप अस्त होता हुआ, आक्रोश और व्यंग्य का मार्ग अपना लेता है। वस्तुत यहीं से समसामयिक प्रयोगशील काव्य का प्रारम्भ मानना चाहिए।

कुकुरमुत्ता' में ही सर्वप्रथम 'वार्तालापात्मक' शैली मिलती है। इसी कविता में सर्वप्रथम प्राचीन, नवीन प्रगति अप्रगति का विद्रूप प्रस्तुत होता है। नए पत्ते' की 'आजकल पण्डित जी देश में विराजते हैं' में 'वीर-पूजा के खिलाफ विद्रोह मिलता है जो नए मानव मूल्यों की खोज में एक नया तत्व है, साधारण व्यक्ति या लघु मानव के प्रति निष्ठा अब भी शेष है और यह 'श्रम सामयिक कविता की एक धारा में गूंजता भी है।

निराला के इस प्रयोगशील काव्य में उनके 'कुल्लीभाट और चतुरी चमार' की तरह आक्रोश की आँच व्यंगों के आवरण में[1] साफ महसूस होती है। यद्यपि पूर्वकाव्य भी निराला के लिए प्रयोग ही थे और उनमें उदात्त और सुन्दर के प्रति आसक्ति के साथ-साथ 'बादल राग' आदि में क्रान्ति

---

१ आज कल तो खूनी सटायर की हो हो रही है।' —'निरुपमा'

का घोष सुनाई पड़ता है किन्तु परवर्ती काव्य म निराला अर्चना–आराधना करते हुए भी भारतीय समाज की जड़ता और रीढ़हीनता की खबर मुख्यत 'विद्रूप' से लेते हैं। प्रकृति को छोड़कर सारा परिवेश अतुकान्त, असंगत और निरर्थक लगने लगता है, उन्हें केवल साधारण व्यक्ति म विश्वास और आशा का अवलम्ब मिलता है —

"अधिक सोच न सका, मालूम किया जो कुछ पढ़ा है कुछ नहा, जो कुछ किया, व्यर्थ है जो कुछ सोचा है स्वप्न। कुल्ली धन्य है, वह मनुष्य है इतने जम्बुको म सिंह है।" वह अधिक पढ़ा लिखा नहीं लेकिन अधिक पढ़ा लिखा व्यक्ति कोई उससे बड़ा नहीं। उसने जो कुछ किया सत्य समझकर।[1]

राष्ट्रीय नेताओं के द्विविध जीवन को देखकर निराला स्पष्टत उनके नकली नेतृत्व म सदेह करते थे। "शक्ति का विकास होने पर दूसरे अशक्तों से मनुष्य भिन्न हो जाता है—भारत की जनता की मौन करुणध्वनि ने दूसरी सत्ताओं को शासन के लिए बुलाया।"[2]

एक ओर यह "मौनकरुणध्वनि" और दूसरी ओर चारो ओर फली एब्सर्डिटी नेतृत्व की सम्भ्रान्ति आदि द्वन्द्वा न निराला की विद्रोही चेतना को टूटने न दी, अवसाद और ऊब दी जो बनावटी नहीं, असली अनुभूति थी अत उनका आक्रोश पाखडियो पर फूट पड़ता है

आजकल पडितजी देश मे विराजते हैं
लन्दन के ग्रेजुएट, एम० ए० और बरिस्टर
बीसियो भी पत्तों के अन्दर खुले हुए
राजो के बाजू पकड़, बाप की वकालत से
बड़ी जमीदारो की आखो तले रखे हुए
मिलो के मुनाफा खाने वालो के अभिन्न मित्र
देश के किसानो, मजदूरो के भी अपने सगे
विलायती राष्ट्र से समझौते के लिए
गले का चढ़ाव बोजु आजी का नहीं गया।[3]

दुःख ही जिसक जीवन की कथा है' उस 'लघु मानव' ने अपने नेत्रो के सम्मुख जन स्वाधीनता के सौदागरों को देखकर और दूसरी ओर—सामा

---

१ कुल्ली भाट, १६३६ ई०
२ प्रभावती
३ नए पत्ते

जिक जडता का साक्षत्कार कर जो सहा था, उसने अमर्ष को प्रज्वलित करके उन्हें तोड डाला। असगत परिवेश के इस त्रास को कवि ने पूर्व ही स्वीकार कर लिया था —

हो गया व्यर्थ जीवन, मैं रण मे गया हार
सोचा न कभी ! (वन वेला)

अथवा

धन्य मैं पिता निरर्थक था, कुछ भी तेरे हित कर न सका।
रखकर अनय आर्थिक पथ पर, हारता रहा मैं स्वार्थ समर।
दुःख ही जीवन की कथा रही, क्या कहूँ आज जो नहीं कही।[1]

निराला म यह 'भ्रम भग" की स्थिति वास्तविक अनुभूति के रूप में मिलती है अपने ही प्रामाणिक अनुभव' से वह उन्हें मिली थी, यह 'आयातित" भ्रमभग नही है। 'जुही की कली' की इकाई मे विराट की स्वच्छन्द सृजन प्रक्रिया के दर्शन कर, अतिक्रान्तिमयी चेतना भी इस 'भ्रमभग' से कवि को बचा नहीं सकी। विद्रोह लक्ष्यवेध मे असफल होकर अपने आश्रय को मारता है। विद्रोह म चित्तवृत्ति या तो पूर्ण अथवा कुछ नहीं'' (All or nothing) का भाव रहता है विद्रोही अपने 'भोलेपन" (Innocence) में विश्वास करता है और 'समझौता' पसन्द नही करता क्योंकि उससे 'प्राप्ति" चितकबरी हो जाती है जो बदले म चितकबरी पीढ़ी तयार करने लगती है। विद्रोही का भ्रमभग स्वाभाविक होता है क्योंकि जो वास्तविक करुणा' से प्रेरित होता है वह कभी सन्तुष्ट नही हो सकता[2] और जो व्यक्ति विद्रोह करता है वह प्रकारान्तर से अन्य व्यक्तियों मे तादात्म्य करता है।[3] इस स्थितिमें अपने विरोधी को यदि वह नही मारता तो वह स्वय अपने को मारने लगता है।

निराला ने सहसा आत्महत्या नही की किन्तु उनकी सजग चेतना ने स्वत आत्महत्या की थी धीरे धीरे अपनी एक एक डोर तोडकर अपनी

---

1 सरोजस्मृति, १६३५ ई०

2 There is no salvation for the man who feels real compassion' (The Rebel Albert Camus London Page 52)

3 When he rebels a man identifies himself with other men ' वही पृष्ठ 23

रोमांटिक विद्रोह के विषय में कहा जाता है कि उसमें पाप को 'प्यति' को अधिक पसन्द किया गया था। उसमें अव्यावहारिक 'निरत्व के लिए, पाप करने की विवशता का अनुभव था। शैतान अपने स्रष्टा के प्रति इसलिए विद्रोह करता है कि उसे दबाने के लिए ईश्वर ने शक्ति का प्रयोग किया था। अन्धकार के इस देवता ने अन्धकार का समर्थन मार्ग इसलिए चुना क्योंकि ईश्वर ने निरत्व की ऐसी परिभाषा की, जिसके द्वारा बल प्रयोग होता है। यह भी कहा गया है कि दिखाऊ बांकीपन, जो रोमांटिकों की विशेषता थी, अन्त में इस भाव में परिणत हो जाता है कि जिन्दगी भर दर्पण के सामने रहेंगे और मरेंगे तो भी दर्पण को सामने रखकर।[1]

किन्तु निराला में न तो पापप्रियता है और न 'रुग्ण व्यक्तिवाद' ही मिलता है उनमें बेगानगी' और हर चीज के जिगर में प्रश्न चिह्न भोंकते चलने की भी स्थिति नहीं है किन्तु एक अकेलापन और आघातित" होने का तेज अहसास मिलता है। उनका अहंकार भी मौन और मरणासन्न आम आदमी की दमित प्रखरता का विस्फोट था, उनमें महानता इसलिए थी कि वह साधारण के असाधारण प्रतिभू थे। भीड़ अपने लिए ही अपनी किसी इकाई को अपनी विशिष्टता देकर उनके सामने खड़ा कर देता है जो यह नहीं मानते कि भीड़ सचेतन जीवों का समूह है। अतः भारतीय रोमांटिक विद्रोह' का भारतीय रूप पक्ष करता है उसमें भ्रम है किन्तु यह स्मरणीय है कि साहित्य में वह उल्लेखनीय विद्रोह है। उसके कुछ पक्षों से अलगाव जरूरी है किन्तु उसने सरहपा, कबीर और सरमद से जिस तरह अपने को काट कर नहीं देखा उसी तरह हमें समसामयिक विद्रोही चिंतन में (जो पूर्ण स्वीकृति का दावा करता है) उस अस्वीकृति को नहीं भूलना चाहिए जो प्रत्येक विद्रोह के मूल में रहती है और निराला तो इसलिए भी इस विद्रोहीधारा से जुड़े हुए हैं कि उन्होंने सृजन में प्रयोगों मुखता का सर्वप्रथम परिचय दिया था। कुकुरमुत्ता और नए पत्ते के बाद विरोधी दल के सभी कवि अस्वीकृति' की आधार शिला पर खड़े हुए हैं, इनमें रामविलास शर्मा हैं, शमशेर हैं गजानन माधव मुक्तिबोध हैं केदार और त्रिलोचन हैं नागार्जुन हैं राजकमल चौधरी हैं मुझे लगता है कि 'अंधेरे में' मुक्तिबोध निराला के ही मार्ग पर हैं—

अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।[2]

---

१ कामू पृष्ठ ४६
२ "चाँद का मुँह टेढ़ा है"

"अभिव्यक्ति के खतरे' निराला ने सबसे ज्यादा उठाए थे। जिस नई कवि म उस मौन करुणा की ध्वनि है, उसम निराला का ही आत्मदाह उनके प्रयोगों को कागज के फूल नही बनने देता। 'मुक्तिबोधों' का, जसे अपनी व्यथा सौंप कर ही निराला जी होश को अनावश्यक समझ सके और आज प्रयर कवि चाहे वह प्रथम तारसप्तक और 'प्रतीक' से नूतन काव्य का प्रारम्भ मानता हो अथवा 'नयी कविता'' (१९५४) से या नयेपत्ते (१९५३) से किन्तु य सब कुकुरमुत्ते'' क ही नये पत्ते'' हैं। कुकुरमुत्ते भी तरह तरह के हो सकते हैं और जिस गुलाब और 'जुही' को निराला ने इतनी ललक स देखा था, उसे तो वह स्वय छोड़कर, "गम पकौड़ी जवाहरा बहुत महगा रहा' तथा कुकुरमुत्ते को अपना लेते हैं। टी० एम० इलियट [illegible] ईट नही का रोड़ा' को वह पहचानते हैं। अज्ञेय जी माइकल मधुसूदनदत्त और पत जी क नय रोमान्टिसिज्म की चर्चा करते हैं किन्तु यह स्पष्ट नहीं कहते कि उनसे पूर्व निराला प्रयोगशील काव्य के प्रवर्तक हैं, उनके परिवार के अन्य कवि भी यह नहीं कहते। इसका जो भी कारण हो लेकिन अन्य नये कवि निराला को प्रथम प्रयोगशील कवि मानते हैं। 'चाँद का मुँह टेढ़ा' की भूमिका म शमशेर बहादुर सिंह मुक्तिबोध द्वारा चित्रित सघर्ष मग्न मनस का चित्र उद्धृत करते हुए कहते हैं कि इसम निराला की याद उभरती है।

दिल के भीतर गम इट है गम ईट है
जले हुए ठूँठ के तन सी, स्याह पीठ है
जमीन की जीभ निकल पड़ी है।

ज्यों कोई च्यूँटी गिलाफ़ पर चढ़ती है अगर अंदर रेंगती नहीं कुछ पड़ी है त्यों मन भीतर के रेशों को छू लेता है केवल [illegible] बेचार टटोलता है पर पकड़ नही पाता उसके अन्दर (मुक्तिबोध)

निराला के काव्य म करुणा ही नहीं है एक 'गन्दगीपन' भी है। और इस निराला के कारण हम हैं हम जो बरबाद होने के बाद ही हम यह जान पा सके कि हम किन्ता म कांटा बनते रहे, हम एकदम मधूक बानी नहीं बन सके —

---

१ मराजन डा० रामदरश मिश्र ... पृष्ठ ४१ ([illegible] मिश्र का काव्य सकलन म मौन है)

ठीक है कि हम भी तो दब गए
हम जो विरोधी थे
कुँआ तहखानों में कैद बन्द
लेकिन, हम इसलिए मरे कि जरूरत से
ज्यादा नहीं, बहुत बहुत कम हम बागी थे।

(मुक्तिबोध)

हम कुछ भी कहें लेकिन हममें यह बोध है। यही संकट है। यही अन्तर्द्वन्द्व का कारण है। समाज भी जानता है। वह हमें उन नजरों से देखता है, जिससे हमारी आत्मसजगता जगी रहती है और 'हम दबे जा रहे हैं' यह ज्ञान "शहादत" के लिए हमें विवश करता है। यही कारण है कि सामयिक कवि प्रत्येक देश में आज अभूतपूर्व बेचैनी से पीड़ित है। वह न पश्चिम में स्वीकृत है न पूर्व में, न घर न बाहर। यदि निराला के [illegible] जैसी उसमें ईमानदारी है तब विद्रोह की कीमत देकर भी (धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध) यह संतोष रहेगा कि टूटने या तोड़ने वालों में हम पहले नहीं हैं। अन्य परम्पराएँ चाहे स्वीकृत न हों पर विद्रोह की परम्परा तो माननी ही होगी।

निराला अपने और पराये दुःख को बड़ी गहराई में महसूस करते हैं, जो कभी कभी भावुकता में बह उठता है— [illegible] धिक्कार है जिसमें सदा विरोध ही रहा। यह सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व की स्वाभाविक [illegible] है, जिसे निराला ओढ़ लेता है लेकिन समकालीन [illegible] के विद्रोह में अपने पर तरस खाने की प्रवृत्ति नहीं है। अन्तहीन लड़ाई और किसी भी तरह की आशा के अभाव में कवि अपने को इतिहास की अविच्छिन्न विरोधधारा से जोड़कर और विद्रोह को प्रत्येक युग प्रत्येक व्यवस्था में कवि धर्म समझकर (क्योंकि असंगतियाँ हमेशा रहेंगी) वह विद्रोह को अपने जैसे [illegible] और विद्रोहियों के लिए नियति मान लेता है। सिसिफस की नियति व्यवस्था के सिर पर पड़ा पत्थर रहा। इस अनन्त यातना में [illegible] अब सहते हैं इसलिए इनका विद्रोह एक आत्मस्वीकृति में आता है वह किसी पर तरस नहीं खाता लेकिन यह विरोध उन लोगों का करता है जो जम गए हैं और जो अपनी व्यवस्था में न कुछ उगने देते हैं और [illegible] मरे हुए [illegible] बोझा बनाते हैं और हर एक [illegible] सिर दिए हैं। [illegible]

[illegible] अगम्भीर हो जाता है [illegible] नकारते, अमानवीयता से नकारते विद्रोह के [illegible]

वना दती है उसम, नतिक शक्ति का तेज रहता है और 'मैं सही हूँ, य गलत हैं गलीज है गिजगिजे हैं", इस अहसास स आत्मविश्वास भरता है। ऐसा व्यक्ति रो नही सकता, न इसे दु ख का विषय मानता है कि उसे दु ख क्यो मिला क्योकि उसका दु ख वरण किया हुआ है, वह उस पर आरोपित नही किया गया है इसलिए वह न रिरियाता है न गरजता है, न तडपता है वह ज्वालामुखी की तरह नही फूटता, बुरादे की तरह चुपचाप जलता है। लकिन जलन को वह स्वीकार कर चुका है उसे कोई पश्चाताप कोइ ईर्ष्या, कोई लोभ नही होता। ठण्डी नफरत' आत्मकवच है और सजन का गत भी। ऐसा सजन, पाठक का माथा नही बदलता भीतर का गूदा बदल दता है। मुझे हिंदी क किसी कवि के व्यक्तित्व म यह ठण्डी और सजनात्मक नफरत अस्सी फीसदी भी नही मिली हा दस बीस फीसदी एसी नफरत जरूर मिलती है। कुछ म तो यह पच्चीस प्रतिशत भी है।।

निराला की चीख सच्ची है, इसलिए उसका असर होता है, उनम सयम भी है तरस ' स तराशी गई पक्तियाँ निराला म कम ही हैं। उनकी रचनाओ मे, इस वतन के एक किसान की गरज और गूज है जो न क्रोध छिपाती है और न अनुराग को "आउट आफ डेट घोषित करती है। एक असली, जाने पहचाने कम्पिल किसान का मन तपता है, भीगता है और ठिठुरता है लकिन जो गडगडात बादलो म उस तूफान की गरज सुनता है जो आना चाहता है, कुछ कदम कभी-कभी चलता भी है लेकिन कमबख्त फिर रुक जाता है।।

पटकथा और समकालीन संदर्भ

नयी कविता के ताव और तेवर बदल रहे हैं, एक सीमा तक बदल गये हैं। इधर भीड़ की सच्चाइयों की तरफ फिर ध्यान गया है। अभिनय कविता में कवियों की अंतर्मुखता बाहरी हकीकत से अपने को काटकर अपने में ही घुमड़ कर नहीं रह जाती बल्कि भीतरी और बाहरी अपने और पराये, जिस धुंधा में भटकने वाली रचना प्रक्रिया को एक बार फिर नये नजरिये से नया रूप दिया जा रहा है कि 'वैयक्तिक और सामूहिक समानान्तर नहीं चलते। यही सबब है कि इधर की रचनाओं में बाहरी मुसीबतों को इस तरह पेश किया जा रहा है जैसे वे अपनी और भीतरी हों। निराला जी ने कहा था 'मैंने मैं शैली अपनाई'। किन्तु इसी रचना में एक दुखी भाई को देख आने और उससे आँखें भर आने की वास्तविकता को भुलाया नहीं गया है।

असलियत यह है कि बहुत कम रचनाओं में इस पद्धति के प्रयोग में सफलता मिली है। मैं की प्रधानता में रचना में आन्तरिक कसाव का अभाव अथवा आत्मालाप, विस्तृत प्रलाप और शब्दों के साथ अश्लील व्यवहार अधिक हुआ है जो इस तरह की रचनाओं में वह उबाऊ ऊबापन नहीं मिलता जो साठोत्तरी कविताओं में बुरी तरह बढ़ रहा है। फिर भी अपने भीतर सामयिक युग के गहरे और उथले संकटों को उतार कर अथवा अपने में समाहित कर का विस्तृत साक्षात्कार और अपने पर उसकी प्रतिक्रिया महसूस करते समय, आत्मालापपरक शैलीकार को बहुत अधिक सावधान रहना चाहिए अन्यथा आंतरिकता और एक खुलेपन में कोई अन्तर नहीं रहता। खुलेपन की स्थिति में कवि भीतर गुनगुनाता अधिक है और तनाव में पड़ना अपने आस पास घूमने लगता है जिस की बातें बकबक करना और गुनगुनाना है। नतीजा यह होता है कि बाहरी दबावों में मनोग्रन्थियों की अनिवार्यता साकार नहीं हो पाती और स्वभावतः वास्तविकता एक अमूर्त रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की उलझन, पुनरावृत्ति और अमूर्तन दोनों खुलेपन के कारण ही आता है। अमूर्तन और अनावश्यक विस्तारों के लिए स्वतन्त्रता को बहुत अधिक छूट देकर चलना पड़ता है। अन्यथा अनर्गल प्रलाप शैली मात्र अमूर्त प्रलाप शैली बन जाती है।

'पटकथा' दूसरे ध्रुव पर सपाटता[1] के बिंदु पर पहुँच जाती है, यो शुरुआत मैं विधि से ही होती है—

'जब मैं बाहर आया मेरे हाथों में कविता थी—और दिमाग मे आतो का एक्सरे, वह काला धब्बा, जो कल तक एक शब्द था मैंने सोचा और सस्कार के वर्जित इलाको म अपनी आदतो का शिकार होने स पहले ही बाहर चला आया।

यहाँ 'मैं', अपनी कथा कहने लगता है 'बाहर हवा थी धूप थी मैंने कहा आजादी।''

लेकिन धूमिल की चेतना म भुन भुनाहट नहा है, मानसिक घटना को सफाई से पकडने का रुमान है। उनके साथ दिक्कत यह है कि वह जल्दी जल्दी 'पकड' क चक्कर मे रहते हैं। नतीजा यह होता है कि 'नाटकीयता आजाती है जस किसी नाटक म कोई वक्ता एव विशेष प्रभाव की सृष्टि करने के लिये विदग्ध सवाद प्रस्तुत कर रहा हो

'मैंने कहा, आ जा दो
और दौड़ता हुआ खेतो की ओर गया—
वहाँ कतार के कतार, अनाज के अ कुर फूट रहे थ।
मैंने कहा, जसे कसरत करते हुए बच्चे।
तारो पर चिड़िया चहचहा रही थी
मैंने कहा, काँसे की बजती हुई घटियाँ।
खेत की मेड पार करते हुए।
मैंने एक बल की पीठ थपथपाई।
सडक पर जाते आदमी से उसका नाम पूछा और कहा, बधाई'!

यह सचाई है कि 'नयी कविता' म ऐसा 'क्लान्त स्वर' खोजने से ही कहीं मिलेगा। नयी कविता व प्रगतिशील रचनाकार मुक्ति-बोध शमशेर आदि भी इस साफगोई और सरलता से काम नहीं लेते। फटसी खडी करने या नवीन बिम्बो की तलाश पर तब ज्यादा ध्यान दिया जा रहा था। भाषा या तो प्रयोगात्मक होने से अस्वाभाविक हो जाती थी या 'कविभाषा' (पोयटिक डिक्शन) का रूप धारण करने लगती थी। लेकिन पटकथा जसी रचनाओं म, लगता है भाषा को रोजमर्रा की भाषा क निकट ले जाया गया हो। नयी

१ यह सपाटता प्रतिश्रुत सपोद्गी (सम्पादक [illegible]) म भी आवश्यकता से अधिक मात्रा म मिलती है।

कविता का आग्रह कविभाषा का गद्य के निकट ले जाने पर था, अभिनव कविता म 'कविभाषा' को कविगद्य के स्थान पर 'जीवन म प्रयुक्त वास्तविक गद्य' के निकट ले जाया जारहा है। इस कारिश की प्रशसा होनी ही चाहिए।

लेकिन पूर्वपीढी के प्रति प्रतिक्रिया के जोश म उसकी उपलब्धियो की उपेक्षा गलत है। धूमिल की कविता म या 'कविताकथा' म बिम्ब प्राय अलकार बन जाते हैं। यहा सादृश्य तो है लेकिन बिम्ब म जो कुछ और होता है वह इनम नहा मिलता—'अनाज के अकुरो को कसरती बच्चे कहन स अथवा चिडियो की बोली को कासे की बजती घटियाँ कहन म बारीक बीनी नहीं है। दूसरी पक्ति म कही अधिक कामयाबी मिली है। कासे की घटिया 'एक खास ढग स बजाई जाए' तो पक्षियो की चहचहाहट का भान हो सकता है पर धूमिल रुक कर रूप रचना म उलझना नही चाहते, वह 'अपनी जाच पडताल करके एक कलात्मक 'कामूनीपन' को अपना कर चलते हैं—

हवा म गरदन उचका उचका कर
लम्बी लम्बी सास खीचता रहा
देर तक महसूस करता रहा
कि मेरे भीतर, वक्त का सामना करने के लिये औसतन जवान खून है।

यह सरलीकृत' औसतिया जहनियत उलझी हुई स्थितियो की सारी शिराओ धमनियो रक्त अस्थि मास वगैरह की पहचान नही करना चाहती और न प्रतिपक्षी विचारो के वजन का अन्दाजा लगाना चाहती है। यहाँ तो 'आस्था' के लिये खाली दडबो म कबूतरो का जोडा छोड देना काफी समझा जाता है। इस तरह की सरलता स पाठक हर बात के तुरन्त फसले स, पहले तो बहुत खुश होते हैं लेकिन जब वह देखते हैं कि रोटी कपडा की समस्या तो अब सिर्फ तकनीकी ज्ञान से ही हल हो सकती है तो क्रांतिबोध उन्हे फाल्तू लग सकता है। धूमिल ही नहा अन्य साठोत्तरी कवियो का असन्तोष और आक्रोश सामान्य क्रान्तिचेतना म सहायक तत्व है लेकिन क्रान्ति यहा हो धोखेबाज शब्द है क्रांति सिर्फ आर्थिक ढाचे को बदलने तक ही सीमित नही होती, प्रत्येक अमानवीयता या कुरूपता अथवा प्रत्येक प्रकार की असगति के विरुद्ध निरन्तर सघर्ष ही क्रांतिबोध है।

साठोत्तरी पीढी का भ्रम है कि सिर्फ वक्तव्यपरक हो जाने स काम चल जायगा। लेकिन वक्तव्यता एक अन्य भ्रम की सृष्टि करता है। वह

'मनुष्य की अनुभूतियों का स्वकर अध्ययन नहीं करती सरलीकृत निष्कर्षों की, बातूनी' सहजे मे अभिव्यक्ति करने लगती है। वह मध्य वर्ग जिसका वह भ्रम दूर करना चाहती है, उसे कविता न मान कर, मात्र प्रचार कहकर टाल जाता है, क्योंकि सच्चाई अपने सरलीकृत रूप मे इतिहास समाजशास्त्र और अन्य नाना के पास रहती ही है। वक्तव्यता' के हलके रूप इस रचना म बहुत हैं—

सस्कृति, जाति मनुष्यता
ये सारे शब्द व सुनहरे वादे थे
बुराफहम इरादे थे, सुन्दर थे, मौलिक थे।
इस तरह के भाषणो के मध्य कभी कविता भी कौंध जाती है—

' भीड बढती रही, चौराहे चौडे होते रहे।'

दरअसल, कविताहीन महज गद्य मे गहराई भरकर कहने पर साठोत्तरी पीढी को और अधिक ध्यान देना होगा। इस गहरे लेकिन बोधगम्य गद्य मे कविता लिखने के लिये मेरी दृष्टि से एक विशेष तरह की अतिक्रांति' की जरूरत होती है। कवि अपने तनाव और आवेग और फफस्ता भाषा की सीमाओ का छोड़कर, ऊपर इस तरह देखे जैसे वह किसी और की भीतरी हरारत को देख रहा हो। अ तरावेग्शन मे 'अजनबी' न हो सकने का नतीजा यह होता है कि इस तरह की लफ्फाजी कविता के नाम पर मिलती है—

हिमालय से हिन्दमहासागर तक फैला हुआ, सीली मिट्टी का ढेर है
जहाँ हर तीसरी जुबान का मतलब, नफरत है साजिश है अधेर है।
यह मेरा देश है। और यह मेरे देश की जनता है जनता क्या है एक शब्द
सिर्फ एक शब्द है।

इस भाषण म यकतय' कोई पक्ति ध्यान अवश्य खीचती हैं—
' (अपना देश) एक पेड है जो ढलान पर
हर आती जाती हवा की जुबान म
हाँऽऽ हाँऽऽ करता है।

..

जो चेहरा आत्मलीनता की स्वीकृति में कधे पर लटक रहा था
किसी भनभनाते हुए चाकू की तरह खुलकर खडा होगया।

"एक समूचा और सही वाक्य टूटकर, बिखर गया है।'

धूमिल हाल की घटनाओं का सतही जायजा लेते हैं और चुनाव, अकाल और साम्प्रदायवाद की झांकियाँ प्रस्तुत करते हैं। फिर हिंदुस्तान को एक हमशक्ल के रूप में अपने सामने पेश करते हैं (यह 'देश' का मनुष्य या 'माता जी' बनाकर पेश करना रूढ़िगत है)।

इस नाटक में भी कुछ पंक्तियाँ दिलचस्प हैं। पटकथा में 'वातावरण सृष्टि' की कोशिश भी है लेकिन इस काम में मुक्तिबोध अब भी अद्वितीय हैं। वातावरण सृष्टि और भाषण साथ नहीं चल सकते। फिर भी यह 'उदाहरण' गौरतलब है—

एक अजाब सी प्यार भरी गुर्राहट
जैसे कोई मादा भेड़िया अपने छौने को दूध पिला रही है।
और साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है

धूमिल में तमतमाहट खूब है। दुश्मन को उसकी 'मशहूर' हरकतों के साथ उखाड़ने के लिये भीड़ को बोधित करने की सामर्थ्य भी कम नहीं है। वह 'फसले तक जाते जाते बात का रुक जाना या चन्द टुच्ची सुविधाओं के लालच के सामने अभियोग की भाषा के चुक जाने' के, समकालीन संकट की नब्ज सही तौर पर पहचानते हैं लेकिन उनकी कविता कहानी के विवरण और नाटकीय अन्दाजों में ढलने लगती है। स्थिति का विश्लेषण न होकर, विशेषणों की बौछार होने लगती है—

'कुछ रोगी हैं कुछ भोगी हैं
कुछ हिजड़े हैं कुछ जोगी हैं
तिजोरियों के प्रशिक्षित दलाल हैं
आँखों के अन्धे हैं घर के कंगाल हैं
गूंगे हैं बहरे हैं

वे इस बात पर सहमत हैं कि इस देश में असंख्य रोग हैं और उनका एकमात्र इलाज चुनाव है।

यह विशेषणपरक शैली छायावादी ही नहीं, शास्त्रीय काव्यों की भी परिचित शैली है और अखबार भी इसका प्रयोग करते हैं। यों सटीक विशेषण की खोज करना है लेकिन उसके अभाव में 'अखबारी' होने से विरूपीकरण तो होता है वास्तविकता का 'बिम्बन' नहीं होता। तस्वीर न बनकर 'कारटून' बनने लगता है।

असगतियाँ तीव्रतम होने पर और विकल्प अस्पष्ट होने पर, जो 'समूहशास्त्री' हैं या 'सामाजिक इंजीनियर हैं, वे निर्भ्रांत स्वर मे एक बुनियादी तब्दीली की माग करते हैं और वे अपनी बुनियादी तब्दीली की धारणा को इतने व्यापक मानवीय और प्राय सभी प्रश्ना के उत्तरा सहित प्रस्तुत करते हैं कि कवि के आक्रोश को माग मिल जाता है, मार्क्स ऐसा ही सामाजिक तत्ववेत्ता था और उसकी दृष्टि ही धूमिल को, अपने सामान्य रूप म, दिशा देती है। यही कारण है कि 'पटकथा' 'आलोचना' मे प्रकाशित हुई है।

निश्चित रूप से राजनतिक चेतना जाग्रत करने की दृष्टि से पटकथा, एक जोशीली राजनतिक कविता है। वह किसी भी कवि सम्मेलन मे या राजनतिक सभा म हडकम्प मचा सकती है लेकिन आलोचना म प्राय सतही, राजनतिक कविताएँ ही क्यो प्रकाशित होती है ? सम्पादक, चितन मे अनिर्णय का शिकार है लेकिन सजन के लिये जो प्रारूप' या माडल वह प्रस्तुत करता है, वह प्रचारात्मक क्यो हो जाता है ? एक ही कवि एक तरह की रचना आलोचना' म लिखता है, दूसरे तरह की धर्मयुग म लिखता है।

यदि किसी रचना मे निम्नमध्यवर्गीय लेखक अपनी सशयग्रस्तता या असगतियों का गहरा चित्रण करता है तो क्या वह मार्क्सवाद द्वारा बहिष्कृत हो या उसे 'अनिवार्य स्थिति के प्रतिबिम्ब' के रूप मे अपनाया जाय ? क्या अजय भारतीय, नरेश मेहता, कुँवर नारायण सर्वेश्वर, लक्ष्मीकान्त वर्मा निम्न मध्यवर्गीय चेतना के यथार्थ का कलात्मक रूप म प्रस्तुत कर सके हैं ? यदि वे ऐसे न होते जसे वह हैं तो क्या बीसवी शताब्दी के पिछले दशक के 'मानसिक मौसम' को उसके उतार चढाव के साथ व्यक्त किया जा सकता था ? क्या सशय और अनिर्णय सिर्फ वगगत हैं अथवा बौद्धिको म सशय के लिये स्वय रूसी, चीनी और नामवरसिंह जसे हिन्दुस्तानी साम्यवादी भी जिम्मेदार हैं ?

असलियत यह है "पटकथा एक सरलीकृत भ्रान्तिबोध की रचना है। इस सरलीकरण के विरुद्ध 'आलोचना' के सम्पादक आक्षेप करते आये हैं लेकिन उनकी कविता के चयन मे वहा सरलीकृत सपाट मनोदशा मिलती है। साधारण व्यक्ति यह समझता है कि प्रगतिवाद, ऊपरी राजनतिक चेतना का नाम है। वह व्यक्ति और समाज के गूढ़स्तरो और अगाध मनोवृत्तियों की जाँच पड़ताल या अहसास को समझने के लिये कोई अन्य पमाना खोजता है।

इस 'द्विविध दृष्टि' की उपज में पटकथा के कवि की उतनी भूल नहीं है जितनी सम्पादक नामवरसिंह की क्योंकि वह 'युवालेखन' के अंतर्विरोधों को साफ कहने में कतराते हैं। यह हरकत पुरानी है। कुछ समय पूर्व वह कमलेश्वर–राजेन्द्र यादव–मोहनराकेश के सिर्फ 'मुनादिये' थे। शुरू से ही अगर सच कहना शुरू कर दिया जाये तो रचनाकार की आलोचना के विषय में भ्रम नहीं रहता।

लेकिन ध्रुवीकरण की तलाश में एक ओर तो 'प्रचार' और 'कविता' (पूर्वप्रगतिवादी दौर की तरह) एक हो रही है, दूसरी ओर यह भ्रम उत्पन्न किया जा रहा है कि युवालेखन विशेषकर हिन्दी प्रदेश का 'युवालेखन' एकदम क्रांतिकारी है और यह कि क्रांति का अर्थ सतही राजनीतिक क्रांति है। इस भ्रम से नतीजा यह निकलता है कि एक ओर तो एक शिविर में 'आंतरिकता' गहराई या भीतरीपन के नाम पर 'घुन्नेपन' को प्रचारित किया जा रहा है, तो दूसरे शिविर में धूमिल जैसे सम्भावनाशील कवियों की प्रत्येक रचना में सामूहिक यथार्थ सर्वदा ऊपरी तहों को ही छूकर रह जाता है। अतः प्रतिक्रियावादी शिविर प्रगतिकामी शिविरों को प्रचारवादी, साहित्य सौष्ठव से हीन वगैरह विशेषण देते हैं। दिलचस्प बात यह है कि प्रगतिकामी आलोचना में अ० किशोर के विचार भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें रचना को एक 'स्पन्दित' रूप में माना गया है। पटकथा में तत्त्व अलग है कथा अलग है नाटक अलग है। उसमें उसी प्रकार एकान्विति का अभाव है, जिस तरह धुएँ रचनाओं में। इस एकान्विति का, परस्पर विरोधी तत्वों का मानसिक संगतियों का, तथा रचनाकार में आये घन तन्मयता के अभाव और उलझन का कारण प्रतिभा के अभाव के अतिरिक्त सम्पादकों की धाँधली भी है। यह सम्पादकों का कबीला स्वयं को पूर्णस्वच्छन्दता नहीं देना चाहता। लेखकों के कृतित्व को पसन्द या नापसन्द होने के कारण नहीं बल्कि प्रायः अपनी प्रकाशन-क्षमता के बल पर गलत मान लिया जाता है। जिस तरह बुर्जुआ समाज के उच्च पदाधिकारी अपने पद का दुरुपयोग करते हैं उसी तरह सम्पादक अपनी रुचि सम्बन्धी और शरारतों के द्वारा लेखकों को गुमराह करते हैं अथवा दबाकर उन्हें वश करना पड़ता है।

और अन्त में सिर्फ यह कि आलोचना के सम्पादक के 'मौसम' का प्रभाव धूमिल की हानिकारक रचनात्मक शक्ति को कहीं 'धुएँ और धूल' में न बदल दें अन्यथा हिन्दी साहित्य की सम्भावनाओं में एक कवि से हाथ धोना पड़ेगा।

नव कथा साहित्य से भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति की धारणा बहुत उलझी हुई धारणा है। अगर
ारतीय संस्कृति का अर्थ 'हिन्दू संस्कृति" लिया जाये तो अधिक सुविधा हो
कती है क्योंकि तब वेद, पुराण, षड्दर्शन स्मृति और धर्मशास्त्र नाट्यशास्त्र
ौर कालिदास की सांस्कृतिक परम्परा मूल्य और मान्यताओं पर ध्यान
न्द्रित हो सकता है, लेकिन "भारतीय संस्कृति" का यह अर्थ 'संकीर्ण" है।
सलिये स्वभावत बौद्ध, जैन, सिख पारसी तथा इस्लाम के आदर्शों, जीवन-
र्धियों, मूल्यों और कलाओं वगैरह को भी शामिल किया जाता है। नतीजा
ह होता है कि एक 'अनमेल' या अधमेल–सांस्कृतिक धारणा, "भारतीय
स्कृति" के नाम से उभरती है।

इस स्थिति में, '"व्यतिरेक–विधि" द्वारा 'भारतीय संस्कृति" क्या
ही है, इस पर विचार किया जाए। प्रथम भारतीय 'जाति", अभारतीयो
अरबों, यूरोपियनो आदि) से स्पष्टत भिन्न दिखाई पड़ती है। हिन्दू, मुसल-
ान, पारसी ईसाई या बौद्ध विदेशियो की भीड़ में, भारतीय कौम के रूप में
लग से पहचान लिये जाते हैं (कुछ सीमाओ पर बसी जातियों को छोड़कर)।
र भारतीय चेहरे के रूप साहित्य और कलाओ मे चित्रित होते आये हैं—
कराती नही राधिका" में उषा प्रियम्वदा ने और "कृष्णकली' में 'शिवानी'
इसी भारतीय चेहरे को पहचाना है। अनजाने ही कथाकारों द्वारा मुद्राओं
र बनावटो के विवरणो मे भारतीयता का वर्णन हो जाता है। शायद
सी कथाकार ने यह नही कहा कि भारतीय रूप' से वह ऊबा
ा है।

लेकिन भारतीयों का अभारतीयों से एक स्वतन्त्र 'स्वभाव' भी होता
। विवादास्पद होते हुए भी इस भारतीय स्वभाव' को लक्ष्य किया जा
कता है। क्षेत्रीय वैविध्य होने पर भी शताब्दियो की अवधि में–हम एक
शिष्ट वातावरण से प्रभावित रहे हैं। यह वातावरण लगभग सारे देश में
ा सा रहा है। आधुनिक 'युग के पूर्व यह स्वभाव' अधिक व्यापक था।
िछले दो सौ वर्षों में, पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा, वैज्ञानिक चेतना आदि के कारण

इस "स्वभाव" म अन्य तत्वो का मिश्रण बढ़ा है, फिर भी अभी यह मिश्रण सिर्फ शिक्षितो (इलीट) म ही अधिक हुआ है ।

इस भारतीय स्वभाव की प्रथम विशेषता "भावुकता" है। सम्भवत यह भावुकता सभी उष्ण देशो की विशेषता मानी जा सकती है। एशिया और अफ्रीका के देशो म यह "भावुकता" अधिक मिलती है। अत भारतीय भावुकता की तुलना, योरोपीय स्वभाव के 'ठडपन' से की जा सकती है। इस प्रसग म यह भी कहा जा सकता है कि भाव-ऊष्मा सामान्य जनता की विशिष्टता है। बौद्धिको म "ठडापन" या ठहराव या सतुलन अधिक होता है, लेकिन "दिमागी आँख' से यह साफ देखा जा सकता है कि भारतीय अधिक भावुक होते हैं,[1] भाव या रस प्रधान साहित्य इसी स्वभाव की परिणति है। लेकिन नवकथा-साहित्य म इस 'स्वभाव' पर प्रहार पर प्रहार किये गये हैं। बगाल के शरत् चन्द्र चटर्जी की कथाओ म भी यह भावुकता मिलती है लेकिन प्रेमचन्द और शरत् के बाद के कथाकार इस भावात्मक टायप" की जगह अधिक सतुलित" ऊपर से 'ठण्ड', भीतर से गहर' उत्तेजनारहित और मननशील टायप के विकास म जाने-अनजाने मदद कर रहे हैं।

भावुक व्यक्ति परिस्थिति का निर्मम विश्लेषण नहीं कर सकता। वह एक "भ्रम" मे रहता है, निरर्थक मोह पालता है जो टूटने पर भावुक व्यक्ति को, घृणा, उदासीनता या वैराग्य के दूसरे ध्रुव पर ले जाता है। कथा साहित्य म 'प्रेम' से सम्बन्धित भावुकता का पर्दाफाश सर्वाधिक मात्रा मे हुआ है। कारण यह है कि यह भारतीय सस्कृति, औद्योगिक सभ्यता के प्रतिकूल पडती है। "भारतीय सस्कृति एक दीर्घ सामन्ती समाज व्यवस्था म विकसित हुई है जिसम "भाव' के लिये पर्याप्त स्थान रहता है। स्वामी-सेवक, माता-पिता, पिता-पुत्र आराध्य आराधक प्रकृति मानव आदि रिश्तो म मात्र 'मुद्रा' (रुपया) ही निर्णायक नही होती बल्कि 'भाव' भी निर्णायक होता है। इस "भाव' को बनाये रखने के लिये कवि कविता लिखते हैं (रामायण भक्ति के पद रीतिकालीन प्रेम आदि) कलाकार चित्र बनाते हैं और सगीतकार शाश्वत प्रेम के गीत गाते हैं लेकिन यह भावात्मकता", औद्योगिक-तकनीकी युग मे विशेषकर पूजीवादी प्रतिष्ठानो म अयोग्यता' और पिछड़ापन मानी जाने लगती है। सम्बन्धो का "सातत्य' समाप्त होता है और सम्बन्धो की मानवीयता मुद्रा परक सम्बन्धो म बदल जाती है, प्रतियोगिता और

१ एशियाई होने पर भी चीनी लोग उतने भावुक नही होते।

क्रय-विक्रय हा प्रधान हो जाता हैं, "मूल्यो" के स्थान पर 'मुद्रा" वरेण्य हो जाती है।

इस मानव मूल्यहीन वातावरण मे 'नवीन" कथाकार वह है जो इस भाव की हत्या स उत्पन्न स्थिति का चित्रण करे और "नवीन" सबधो को पहचान ले। यही कारण है कि राजेन्द्र यादव की एक कहानी म (एक कटी हुई कहानी) नायक विवाह के बाद बधन महसूस करता है और स्वच्छन्द प्रेम की लालसा क कारण, अपनी प्रेमसी से कहता है कि विवाह एक दूसरे को "बोर" करने का विधान है। इसी तरह हास्य रस [1] मे ज्ञानरजन ने विवाह प्रक्रिया को हास्यास्पद रूप म चित्रित किया है—

"अगर प्रेम स छुटकारा मिल गया है, तो इसमे दुख की कोई बात नहो है। दरअसल, मुझे समझ नही आ रहा है कि क्या किया जाए अथवा क्या किया जा सकता है। मेरी पत्नी सतुष्ट और निश्चिन्त है और उसके खिले हुए चेहरे स मुझे प्रसन्नता नही हो रही है। यह खिला हुआ चेहरा और कुछ नही, विजय का गर्व है। यह स्पष्ट है कि मैं घाटा खा चुका हूँ और मुझे पराजित करने वाला मेरा साथी तत्काल हर चीज की माँग करने का अधिकारी हो गया है।'

तो प्रश्न 'स्वच्छन्दता' का है विवाह इस स्वच्छन्दता मे बाधक है इसलिए यह सब ऊहापोह है। स्वतन्त्रता आधुनिक व्यक्ति की मूल विशेषता है और "भारतीय-सस्कृति" का सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रयत्न इस स्वतन्त्रता को कर्तव्यो म कसने पर रहा है, (पितृ ऋण, ऋषिऋण आदि)। स्वच्छन्दता मे व्यक्तित्व का विकास मनमाने ढग से हो सकता है बधन म "टायर" हल करने हैं। यही सबब है कि भारतीय सस्कृति के अनुगामियो मे स्वतन्त्र व्यक्तित्व सिर्फ यत्र-तत्र ही मिल पाते हैं। 'भारतीय सस्कृति' वासना को अनुशासित करने और परिवार की व्यवस्था के चलाने के लिए विवाह को अनिवार्य करती है किन्तु इस व्यवस्था म स्वेच्छा से वरण का अभाव होने से [2] नवीन कथा साहित्य इसके विरुद्ध विप्लव कर रहा है।

यह प्रसग वस्तुत औद्योगिक तकनीकी और पूँजीवादी सभ्यता के

१—अणिमा का कथा विशेषाक।

२—पूर्व काल म स्वयवर की परम्परा थी, पर यह कभी जनप्रचलित प्रथा नहीं रही। अत 'भारतीय सस्कृति' म यहाँ अप्रचलित आचन विधि से ही लेना चाहिए।

लिए व्यक्तियों को तयार करने का साहित्यिक आयोजन है और साथ ही इसके पूँजीवादी रूप का विरोध भी हो रहा है

सामंती घेरों में मनुष्य को बाँधने का एक उपाय यह था कि "असामाजिक" समझी जाने वाली अनुभूतियों और भावनाओं को गुप्त रखा जाए। मसलन पुरानी कथाओं में प्रेम के बाद विवाह आवश्यक है (फिल्मों में अब भी यही भारतीय परम्परा चल रही है) या यह कि वासनाओं का वर्णन निषिद्ध है, उनका एकान्त भोग हो तो हो पर उसे गुप्त रखा जाए। इस "भारतीय प्रवृत्ति का" पर्दाफाश, नवीन कथाओं में बहुत हुआ है। वर्जनाओं या अवचेतन मन की विकृतियों का वर्णन नए कथा साहित्य की विशेषता है। 'अपना मरना' और 'रीछ" नवीनतम कथा प्रमाण उदाहरण हैं। 'अपना मरना' में गंगाप्रसाद विमल ने एक ऐसी पत्नी का अंकन किया है जिसका पति एक "बकरी' से रति करता है या उसे इस तरह का भ्रम होता है। प्रत्येक पति किस तरह भीतर ही भीतर अपनी पत्नी से ऊबकर या तो बाहर प्रेम प्रसंग खोजता है या विकृति तक पहुँच कर 'पशु रति' करता है यह एक आम प्रवृत्ति है। नतीजा यह निकला कि विवाह प्रथा घातक है। "रीछ" में दूधनाथसिंह मन में छिपे हुए रीछ का कलात्मक वर्णन देते हैं। इस मन के रीछ से सभी पीड़ित हैं लेकिन किसी में भी साहस नहीं जो "भारतीय संस्कृति' के बंधनों को तोड़कर स्वच्छन्द जीवन जिए क्योंकि सामाजिक सम्मान विवाहवादियों को ही प्राप्त है। सरकार ने नियम बनाया है कि तलाक सम्भव है लेकिन इसमें झंझट भी तो बहुत है अतः भीतर ही भीतर छटपटाहट रहता है।

"ऐयाश प्रेतों का विद्रोह" शीर्षक लेख में कमलेश्वर ने स्वच्छन्दतावादियों की अराजकता पर कशाघात किए हैं। इस पर भारतीय संस्कृति के बंधनों का विरोध स्वागत योग्य होने पर भी उस अराजकता तक नहीं पहुँचने देना चाहिए यह भावना भी ठीक है। लेकिन कमलेश्वर ने अराजक आधुनिकों में इस अधैर्य को रेखांकित नहीं किया कि प्रेम सम्बन्धों की स्वच्छन्दता की माँग अभी तक सतही स्तर पर ही हुई है। आधुनिक लेखक ने बंधन में उत्पन्न घुटन का वर्णन तो खूब जमकर की है लेकिन यह बहुत कम सोचा गया है कि सम्बन्धों की अस्थायित्व परिस्थिति सापेक्ष है यह 'शाश्वत सत्य' नहीं है जो मनुष्य को प्रकृति या परमेश्वर से अनिवार्यतः मिलती है। यह भी नहीं सोचा गया कि विवाह और स्वच्छन्द सम्बन्ध दोनों विकल्प अपनी-अपनी मुसीबतें उत्पन्न करते हैं। कमलेश्वर ने स्वच्छन्दता में

के विकल्प की असफलता की ओर ध्यान खीचा है। उधर साम्यवादी देशो में भी विवाहविधि उतनी असफल नही हो सकी क्योकि वहाँ मुक्त प्रतियोगिता पर समाज सपटना नहा की गई। 'सहयोग' के आधार पर वहा सामाजिक रचना की गई है। लेकिन इस 'विकल्प की ओर नव्य कथाकार ने ध्यान ही नही दिया और अगर सहयोग की स्थितियों का विश्लेषण कथासाहित्य म हो तो "भारतीय सस्कृति' के इस 'पुरान' सत्य को स्वीकार किया जा सकता है कि प्रेम मे भोग और त्याग दोनो की सगति होती है। यानी प्रेम सबधों के भीतर मानव मूल्य रहते हैं, प्रेममात्र वासना नही है। प्रेम का सारा प्रपच, मनुष्य का खडा किया हुआ है, जिसम केवल ऐन्द्रिय स्तरो की सतुष्टि ही नहीं है, मनोवज्ञानिक स्तरो की तृप्ति भी शामिल है।

अतएव ऐयाश प्रेमी के विद्रोह मे जो अतिवाद है वह बिना सोचे समझे विराध की दिशा म बढते चलना या नजर का अधापन है। प्रेम की समस्या कितनी गभीर है, इसके लिए ज्या पाल सात्र का सेक्स पर निबन्ध पढना शिक्षाप्रद हो सकता है। प्रेमम, प्रमी को अपने व्यक्तित्व के निरन्तर 'परीक्षित' होने का सकट सताता रहता है। मैं देखा जा रहा हूँ (I am being looked at) यह प्रतीति प्रेमिका और प्रमी को एक दूसर के प्रति सावधान रखती है। जब प्रेम म भोग और प्रेम के स्तर के अतिरिक्त उनम एक आपसी इम्तहान भी चलता रहता ह जो विग्रह का कारण बन जाता है। वासना का पक्ष ढीला होने पर अत म यह 'इम्तहान' ही बाकी रह जाता है। इस 'परस्पर सूक्ष्म परीक्षण' स बचना नामुमकिन है इसलिए 'स्वच्छन्द प्रेम" का समाधान कुछ राहत दे सकता है लेकिन उसमे इतनी उलझनें हैं कि फिर आदमी शाति के लिए व्याकुल होने लगता है और यह शाति तभी मिल सकती है जब प्रेमियो म एक दूसरे को सतुष्ट करने की स्पर्धा हो। इस प्रकार का प्रेम, उस परीक्षण को भी क्रीडा मे बदल सकता है।

इस तरह भारतीय सस्कृति मे जो आरोपित निग्रह और दमन है उसका विरोध यदि भारतीय सस्कृति का ह्रास है तब अवश्य नवकथा-साहित्य म वह मिलता है। लेकिन यह भी तो सभव है कि पश्चिमी देशो, विशेषकर अमरीका की तरह ऊब कर पुन प्रेम को एक मानव-मूल्य मान लिया जाए और उस अराजकता से आदमी थक जाए जिसकी आज व्यर्थ बधनो को तोडने के लिए एक सीमा तक आवश्यकता भी है। सहयोग के आधार पर नया समाज जब बनेगा तब पुन भारतीय सस्कृति के पुराने प्रेम मूल्य रुचने लगेंगे। इस म रामचरित मानस मे चित्रित प्रेम इसीलिए प्रिय लगता है।

रामचरित मानस के किसी पाठक राम सीता के एक अखण्ड प्रेम को

ऐसा प्रेम राजाओं या शासकों की ही बपौती नहीं है साधारण व्यक्ति भी, इससे प्रेरणा ले सकता है। लेकिन प्राचीन प्रेममूल्यों म, जो 'सामंती' तत्व हैं ("पति' शब्द स्वय सामंती है, 'पिता" शब्द भी, क्योंकि ये 'पत्नी" को "रक्षिता" और पुत्रको 'पोषित मानते हैं) उन्हें छोड़ा जा सकता है।

इसी तरह 'भारतीय संस्कृति मे अन्य मानवीय सम्बधो की 'स्वीकृति भी व्यक्तिवादी प्रतियोगी आधुनिक समाज की अस्वीकृति' म बदल रही है। रमेश बक्षी की एक कहानी म पत्नी के छोड जाने पर नायक अपने अबोध शिशु को शराब पिलाता है। लेकिन यहाँ भी नए संबधों की तलाश है। नयी कहानियों म पिता माता, अध्यापक आदि गुरुजनो के प्रति विद्रोह मिलता है। यह भी स्वच्छदता की प्यास है। भारतीय संस्कृति म भले पिता माता, सतान को अपने अनुरूप ढालना चाहते हैं लेकिन नयी पीढ़ी भटकाव का खतरा उठाना चाहती है। वह किसी तरह का अकुश नही चाहती वह गुरुजनों से अधिक दोस्तों को मानती है। कविता और कहानी म यह 'समान धर्मा मित्रवाद कल्पित नहीं एक वास्तविकता है। नवशिक्षित किशोर अपने मित्रों की सहायता से जम सकता है, तरक्की कर सकता है अत माता पितादि "फालतू' लगने लगते है। घरा म सुविधाओ या अभाव होता है अत विद्रोह और बढ़ता है। बड़ो की अगर पूछ होती भी है तो तभी जब पेन्शन वगैरह का लोभ हो य प्रभाव का या अन्य किसी प्रकार की सुविधा का। भीमसेन त्यागी की पेन्शन कहानी इस प्रवत्ति की ही परिचायक है।

मानवी रिश्तो की पुरानी धारणाएँ तो टूट ही रही है अस्तित्व सबधी सवालो पर भी आधुनिक कथासाहित्य भिन्न रुख अपनाता है। भारतीय दर्शन और धर्म के सम्मुख अस्तित्व सम्बन्धी प्रश्नों का कोई सकट नहीं हैं। यहाँ हिन्दू हो या बौद्ध या मुसलमान-अस्तित्व के ऊपर एक महाअस्तित्व स्वीकृत है, जिसमे लय होना ही मोक्ष है। लेकिन आधुनिक व्यक्ति इस महा अस्तित्व को कल्पना मानता है। उसके लिए 'ईश्वर मर गया है। आस्था का तब आधार क्या होगा ? इस प्रश्न के उत्तर की चिंता आधुनिक को नहा है क्योंकि 'महाअस्तित्व के बिना भी अस्तित्ववाद जैसा तत्ववाद मिल सकता है और 'सीमाओ के क्षेत्र' (बाडर सिचुएशन्स) म जाकर जीवन की असलियत जानी जा सकती है अथवा एक 'अनपहचानी स्थिति म भी रहा जा सकता हैं। रवीन्द्र कालिया की थकन' कहानी इस स्थिति का उदाहरण है।

उसे भी मालूम नहा कि मन स्विच कहाँ है और उसका नम्बर क्या है और ग्लूकोज कहाँ रखा है, क्योंकि मरी हा तरह न यह कमरा उसका है न

नौकर। न ड्रेसिंग टैबिल और न रजिस्टर। दरअसल इस घर का हमें बहुत कम ज्ञान है।

यह अनिश्चय, खोज और हालात की पहचान का अभाव, एक अनाति वचना हम लूटे जाने का है कुछ इस तरह का भास, या मृत्यु आशका, विव शता, गतव्य का गैप और उलझन यह सब स्वीकृत भारतीय सस्कृति की दृष्टि स त्याज्य है क्योंकि हमारे दर्शन म आस्था है विश्वास है मजिल निश्चित है आत्मा का स्वरूप निश्चित है तथा साधना का मार्ग निश्चित है। नयी कथा म इस 'निश्चितता' के विरुद्ध विद्रोह है। यह 'आरोपित निश्चय' प्रत्येक व्यक्ति को सावन नहीं रहता, व्यक्ति का भीड म बदलने लगता है। "दरअसल इस घर का हम बहुत कम ज्ञान है", इस समसामयिक स्थिति म आधुनिक विचारधाराओं के परस्पर विरोध पुरानी मान्यताओं की सपाटता राजनीति की आपाधापी, हर बात पर सदेह की प्रवृत्ति आदि ने स्थितप्रज्ञ या निश्चयात्मक बुद्धि को एक भँवर म पटक दिया है, अत "किंकर्तव्य विमूढ़ता' ही नवीनतम प्रवृत्ति हो गई है, हम सवालों म जी रहे हैं, उत्तरों मे पुराने लोग जीते थे। यह स्थिति है।

इस दृष्टि स जीवन को देखने पर वह विसंगतियुक्त या हास्यास्पद लगता है अथवा वह एक उनटवासी सा प्रतीत होता है। काफ्का की कहा नियो म जीवन की इन विसंगतियो और विडम्बनाओ का खूब मजाक बनाया गया है। अवधनारायणसिंह के 'अनिश्चय' मे उस निश्चयहीनता का ही एक रूप है।

प्राय कहानियो म इस तरह की स्थितियों के चित्रण से यह पता नहीं चलता कि य हालात किसी परिस्थिति की गडबडी के कारण हैं अथवा यह मनुष्य जीवन की प्रकृति ही है। सत्य यह है कि आज का व्यक्ति इन सबको 'दहधरे का दण्ड' भी मानता है और यह भी कि ये कहीं समाज रचना, शिक्षा वगैरह की असंगतिया से भी उत्पन्न होते हैं। परेश की 'कुछ कहा था उसने' कहानी म यह बात देखी जा सकती है। लेकिन सिद्धेश के अर्थहीन वह मैं तथा दूधनाथसिंह की सपाट चेहरे वाला आदमी की वह कहानियाँ म भारती की गुल की बन्नो और रागेयराघव की गदल और 'ऐयाश मुर्दे' एवन् कमलेश्वर राकेश तथा राजेन्द्र यादव की अनेक कहानिया को पढकर लगता है कि सकट दार्शनिक नहीं परिस्थितिजन्य है।[1] और जिस

---

[1] कमलेश्वर की ताजी कहानी आसक्त (कहानी जून, १९६६) तन्मयता और कलात्मक यथार्थवाद का एक अच्छा उदाहरण है।

सीमा तक संकट, बाहर के हालात की बेवकूफियों में है उस सीमा तक आदमी उसे दूर कर सकता है। शायद उसे दूर करने के लिए ही वह अपने माध्यम से सबके अंतर्द्वन्द्व, संकट और त्रास का वर्णन कर रहा है।

भारतीय भाषाओं के नव लेखन में जिस [redacted] का वर्णन है, वह सामंती व्यवस्था से आधुनिक औद्योगिक तकनीकी व्यवस्था की ओर बढ़ने के कारण उत्पन्न हुआ है। नवीन परिवेश के प्रति मानव चेतना के अनुकूलीकरण के प्रयासों में, कहानीकारों का योगदान कम नहीं है। उधर इस औद्योगिक सभ्यता के कारण भी संकट उत्पन्न हुआ है एवं पूर्व प्राचीन मूल्य-व्यवस्था नष्ट हो रही है—प्राचीन संस्कृतियों के विघटन हो रहे हैं। स्थिरता, पिछड़ी तकनीक, स्थायी मानव मूल्य और मायपरक कल्पना के आधार पर निर्मित भारतीय संस्कृति के प्रचलित आचार विचार रीति रिवाज और मर्यादाएँ ध्वस्त हो रही हैं लेकिन मेरी दृष्टि, में भारतीय संस्कृति का मूल तत्व" धोती-कुर्ता नहीं है, न मंत्र और सत्यनारायण की कथा है न भजन पूजन है न देवता और पूजा की पूजा है, न नुमाज आरती उसका अमल रूप है साम्य वेदान्त, वगैरह भी विचारों के सोपान मात्र हैं उनका असली तत्व निम्न। ऊर्ध्वगति, अधकार से प्रकाश की ओर गति की प्रेरणा है। श्रेय और प्र। "दोनों' का अभ्युदय और समन्वय है। दम्भ और पलायन भारतीय संस्कृ नहीं है, न रुढ़ियों का नाम भारतीय संस्कृति है—राजा पुरोहित स्वामी सबके स्थायी रिश्ता का नाम भी भारतीय संस्कृति नहीं है। चावल, गोश्त, मसाला डोसा इडली और आचार को भारतीय संस्कृति नहीं कह सकते। हमारे पास जो कुछ श्रेष्ठ है और वरेण्य है सिर्फ वही भारतीय संस्कृति' है जो काल के आगे दम के साथ खड़ा होकर कह सके कि मैं अमर हूँ। जो परिवर्तनशील है वह ऊपरी है। स्थायी तत्व सृजन चेतना है जो वेदों पुराणों तन्त्रों कलाकृतियों पुस्तकों आदि में हैं, लेकिन प्रत्येक 'सृजन" को किस तरह ग्रहण कर यह "द्रष्टा" पर निर्भर करता है। मानवचेतना, उच्च संघर्ष करने के लिए सर्वदा भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों की ओर उन्मुख होती रहेगी। 'भारतीय संस्कृति" की 'ऊँचाई" और 'गहराई' उसकी इस मूल प्रवृत्ति में है कि प्रतीतिमात्र ही सब कुछ नहीं है, उसके भीतर जो सत्य छिपा है, उसे खोजो। विज्ञान में भी प्रतीति और सत्य का यही स्वरूप मिलता है ऊपर से ठोस लगने वाले पदार्थ के भीतर परमाणु प्रवाह" रहता है। अपने (मानवीय रूप) में भारतीय संस्कृति वस्तुतः मुक्ति' या स्वच्छंदता की ही धारणा है—अतः यदि आधुनिक कथा साहित्य में मध्यकालीन या प्राचीन

बन्धनो और घेरा के विरुद्ध सघर्ष है तो उसे "अभारतीय" नही कहा जा सकता। "अभारतीय" उसे तभी कहा जाएगा, जब प्रवाह की शोध बन्द होने लगेगी, सांस्कृतिक दीपशिखा बुझने लगेगी, मनुष्य प्रतीतियो म ही उलझकर रहने लग जाएगा अथवा वह प्रकृति और समाज को मानव के हिता के अनुकूल बनान का प्रयत्न बन्द कर देगा। किन्तु हमार कथाकारो मे तो अद्भुत सजीवता है उखाड़ने की शक्ति वाला ही जमा सकता है। एक सवथा नवीन सामाजिक प्रयोग की कामना 'अभारतीय" नही हो सकती, इस प्रकार असली भारतीय सस्कृति मनुष्य की स्वच्छन्दता की साधना मे है। यह आजादी समाज व्यक्ति आदि प्रत्येक स्तर पर होगी और स्तर और व्यक्ति एक नही, अनेक हैं, वहा स्वच्छन्दता मे अराजकता न होकर, दूसरा की स्वच्छन्दताओ का आदर भी उस धारणा म स्वीकृत होगा। अत दूरगामी दृष्टि स तो सतयुग' की अवतारणा के लिए ही यह विराट प्रयत्न हो रहा है लेकिन सत्य का माग सीधा नही होता। उसमे बडे भटकाव होते हैं और य भटकाव भी आदमी का प्रामाणिक अनुभव ही देते हैं। कोर उपदेशो और रूढ़ियों के पालन से सत्य की खोज असम्भव है अत नचिकता' और "वाजिद अली शाह' दोनो मानवात्मा की पहुंचा या प्राप्तियो क ही आलख है। स्वय कृष्ण जस 'योगिराज" भारतीय सस्कृति के सर्वोच्च प्रतीक है जो भौतिक और उच्चतर मानसिक जीवन म एकसूत्रता स्थापित करने और अखण्ड कमयोग का उपदेश देते हैं। परम स्वतन्त्रसिद्धा (बीटस ,हप्पी तथा अवागाद साहित्यिक इन्ही के आधुनिक सस्करण हैं) की साम्य मूलक और सहज जीवन पद्धति भी भारतीय सस्कृति का ही अग है। भेदभाव तथा रूढ़ि जब जब प्रबल होती है तब तब यहाँ क्रान्ति द्रष्टा उत्पन्न होते रहे हैं 'आधुनिक नव लेखक" इसी क्रान्तिकारिणी भारतीय परम्परा के ही अग है। उनका 'निवासन या आत्मनिर्वासन" उसी रूढ़िविरोधी "सतत क्रान्ति चेतना' का अग है, जो सवदा अन्याय पर आधारित स्थापित व्यवस्था का शत्रु होती है। अतएव भारतीय मन और समाज के "कायाकल्प" के लिए मैं नव कथाकारा का प्रयत्न अभिनन्दनीय मानता हूँ। सस्कृति की खोल को उतार कर उसक भीतर के 'अमृत" के अनुसधान के लिए यह आवश्यक है कि भारतीय सस्कृति' के नाम पर साम ती मूल्यो, अन्धविश्वासा, मानव विरोधी रीतियो आदि का डट कर विरोध हो तभी सवथा नवीन समाज व्यवस्था मे नूतन और प्राचीन का विरोध शान्त हो सकेगा, अन्य कोई पथ नहीं है नान्य पन्था विद्यते।

सामयिक संकट और विद्रोह साहस

साहित्य संस्कृति और समाज म पिछले डेढ दो दशको मे बाहरी और भीतरी टकराहटो क विभिन्न रूप सामने आये है। हम इस अर्थ मे अपने को भाग्यशाली कह सकते हैं कि हम बडी दिलचस्प शताब्दी म जी रहे हैं। विज्ञान की अद्भुत उन्नति इसी अवधि म क्षितिज छू पाई है इसी अवधि म अनेको देश सुप्तमहाद्वीपो म आजाद हुए है। निर्माण और संकट क तरह तरह के परिणाम सामने आए है। इसी अवधि म जहाँ सारे संसार म 'आइडियालाजी' क कारण उत्पन्न अन्तर्विरोधो स हम परिचित हुए हैं वही चीन और उसके समर्थक तत्वो म आइडियालाजी के आधार पर ही अफीम के नशेबाज' नशे की जगह एक अभूतपूर्व संकल्पशक्ति का उदय हुआ है और विकल्पपीडित' जनता की और समाजवादी देशो क बौद्धिको के लिए अब यह एक नयी चुनौती बन गया है—क्या विकल्प स संकल्प को पराजित या अनुशासित किया जा सकता है? क्या चीनी वियतनामी हवा को एशिया क अवरुद्ध त्रस्त और यग कोटरो म सुरक्षित समाज रोक सकेगे?

और उधर एशिया—अफ्रीका के देशो मे बढ़ता अमरीकी प्रभाव धारणावाद' का विरोधी है। विश्वविद्यालयो म मानव विज्ञानो म अमरीकी अनुकरण अपरिवर्तनकामी चिंतन और सत्य को बिना किसी परिप्रेक्ष्य क टुकडों म बाँटकर किया जानेवाला अध्ययन इस अनुकरण की विशेषता है। क्रांति नहीं 'एडजस्टमेंट' ही इस प्रवृत्ति का रहस्य है। 'आजादी' शब्द के अर्थ म इसका ध्यान केवल थोथी व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर ही है यह ऐसे समाज की कल्पना है जिसके पेट भरे और पेट सूखे और भूखे हो लेकिन जिस पर चेहरा अमरीकी हो और तेवर—तेवरो की क्या जरूरत है तेवर तो प्रतिबद्धता स उत्पन्न होते हैं!

और ऊपर स विश्व विनाश का भय—संस्कृतिवेत्ता टायन्बी चाहते रहे है कि हम और अमरीका यदि एक नहीं होंगे तो चीन विश्वयुद्ध करा देगा और तब यह न रहेगा जो हमारा कविता और चिंतन का माध्यम रहा है हमार

प्रम और पराक्रम का अखाड़ा—वह कुछ मदान्धो की मृत्यु-कामना या विकृति से, उबलत तजाब, गस और आग की लपटो का मेहमान बन जाएगा।

इस पहली-जसी स्थिति म बौद्धिक उलभन मे है, और स्रष्टा इस उलझन भरी नजर से परिचित है। उसन इसीलिए अपन को बेगाना' और 'बाहर-बदर घोषित कर दिया है। भीतर रहना असगत लगता है—बाहर रहना व्यर्थ' लगता है, लकिन स्वीकार किस करें—नकाबो के पीछे क्या है यह तो नकाबपोश स्वय नही जानते। क्योकि जन्म लेन के साथ ही नयी खाल की जगह समाज नयी नकाब उगाता है। इन्ह उतारना सम्भव ही नही लगता इसलिए एकदम सबको 'नामजूर करो। अस्वीकारो और अपन मे जियो आउट साइडर !!

साहित्य के अग्रिम दस्ते म इसीलिए अन्धता तथा अन्धेर का चित्रण अधिक हुआ है। प्रत्यक आत्महत्या अन्धकार स ही शुरू होती है, सन्देह से ही ढलान पर लुढकना सार्थक लगता है। अत आतरिक असगतियो की खोज, सामयिक साहित्य की विशषता रही है और दूसरी दृष्टि से यह 'आत्म-अनुसधान भी कहला सकता है। हर एक बडे काम के पूव आदमी अपने को तौलता है, जब रेखायें समानान्तर न हो एक दूसर को काट रही हो सब कुछ अस्पष्ट-अपरिभाषित और अपरिचित होता जा रहा हो, सामन बठे व्यक्ति, सामने के पदार्थ और घटनाय विशृ खल और बमानी लगने लग, तब इस स्थिति म बहुत समय तक (डेढ दशक !) रह लेने पर कौन निर्णय कर क्या कर किस आधार पर करे ?

ऊपर सतही स्तर पर जीनेवाला सादा आदमी आज भी सघर्ष करता है। वह घर म गाँव गली मे लडता है सरकार से लडता है देश के दुश्मन स लडता है—उत्सवो म मस्त होता है प्यार करता है खाता-पीता है स्वप्न देखता है और सपनो क लिए ही खटता हुआ मरता है। मरने के बाद भी औसत आदमी की खुली आँखो म सपन होते हैं कोई भी यह सब औसत आदमी क पास जाकर उसकी मरणासन्न आँखो म देख सकता है।

तसवीर का दूसरा पहलू भी है जो अब उपेक्षा का विषय बनता जा रहा है। यह पहलू उस प्रतिबद्ध आदमी का है जो गैबमह सम्प्रदाय के सनकियो को पुराने वैराग्यवादियों की औलाद कहता है जो मनुष्य की भावनाओ का अपमान करते थे और साथ ही उसी मनुष्य का लिया खाते थे। यह आदमी कहता है कि जीवन का घाट अपन म कोई अर्थ

न हो, किन्तु जीने की निर्लज्ज इच्छा जीवन का साधक बनाने के लिए हम अभिशप्त कर चुकी है। यह आदमी जीवन का इकहरा नहीं मानता सकुल मानता है—एक लहर का सागर मत समझो सागर लहरों का संघात है, द्वन्द्वों का अनवरत उत्सव। अत प्रतिकूल के विरुद्ध पराक्रम ही जीवन है। बेगाना बन कर तमाशा देखना भी तभी सम्भव है जब अधिकतर व्यक्ति तमाशा कर रहे हों और उस तमाशे को वास्तविक समझते हों।

इसलिए यह व्यक्ति 'विकल्पबोध' के बावजूद सकल्प को आत्मपरीक्षण का विषय बनाता है। वह जानता है, यह सामयिक सकट कोई पहला सकट नहीं है। सामयिक सकट की विशेषता यह है कि यह सभावनापूर्ण है। यह खोखला सकट नहीं है। हमारी आज की असगतियाँ बाँझ नहीं हैं इसलिए विश्व विनाश से बचने के लिये कुछ बेगाने भी अपनों से सहमत हैं। सहमति के ये स्तर एक नहीं हैं अनेक हैं 'स्वीकृति' का यह रूप अस्वीकृतिवादी भुला देना चाहते हैं। 'आधुनिकता' इन सहमतियों के स्तरों को स्वीकारने में भी है। 'अस्तित्व' का अर्थ केवल होना नहीं है विकसित होते रहना भी है।

सारी सास्कृतिक विशिष्टताये उस आधुनिकता से टकराती है, जिसमें देश काल रहित धारणामात्र का चित्रण होता है जो हर देश में एक सा ही होता है। इसके विरुद्ध वास्तविक आदमी किसी देश और काल का हाड-मास का और चेतनायुक्त व्यक्ति होता है—उसे अपने सकट को निरलम्बित कर देखना-समझना पड़ता है, सामूहिक स्तर में स्वर मिलाकर गाना पड़ता है उसका दिल बनकर धड़कना पड़ता है। अपने पक्षपातो, अपनी पूर्व कल्पनाओं को विसर्जित करना पड़ता है। असली आदमी को उसके वस्त में होने वाली प्रक्रियाओं में समझना पड़ता है। प्रक्रिया से खीचकर व्यक्ति की नियतिमात्र का चित्रण गलत है अनाधुनिक है और विशिष्टता और आधुनिकता की इस टकराहट और समीकरण में हम विशिष्टता का स्वरूप और महत्व इसलिये नहीं समझ पाते क्योंकि हम बेगानेपन को एक पूर्वाग्रह या केवल 'मूड' के रूप में लेते हैं। इस धारणा से चित्त रग जाता है, जो यह भ्रम उत्पन्न करता है कि हम केवल आत्म विश्लेषण कर सकते हैं दूसरो को न समझ सकते हैं न दूसरो की भावनाओं-आकाक्षाओं के गुण और परिमाण का अन्दाज लगा सकते हैं। 'भ्रमभग हुआ' इसमें सन्देह नहीं किन्तु कौन से नये भ्रम उत्पन्न हुए हैं इस ओर ध्यान नहीं जाता। इस स्थिति में स्वय 'भ्रमभग' की स्थिति एक भ्रम बन जाती है।

अनुभव से यह भी सिद्ध नहीं होता कि जो व्यक्ति और समूह मोह में पल रहे हैं उनसे भ्रममुक्त व्यक्ति या समूह श्रेष्ठ हैं अथवा यह कि पश्चिमी

देशों में भ्रमों पर विजय प्राप्त कर ली गई है। पश्चिमी योरोप के नीत्शे जैसे निषेधवादी विचारकों से नाजियों ने सामूहिक हत्या का पाठ पढ़ा, जबकि नीत्शे का मन्तव्य यह नहीं था। दूसरी ओर, अमरीका में आज भी 'संकल्प-शक्ति' अधिक है और अपनी समृद्धि की रक्षा के लिये, पिछड़े देशों में परिवर्तन कामना से उत्पन्न सिद्धान्तवादिता के विरुद्ध अमरीकी चिंतक 'एडजस्टमेंट' या की सामञ्जस्य का 'भ्रम' प्रचारित कर रहे हैं। साथ ही यदि पिछड़े देश अमरीकी स्वार्थों के साथ 'एडजस्ट' नहीं करते, तो उन्हें इस भ्रम से प्रेरित किया जाता है कि अमरीकी 'एडजस्टमेंट' का विरोध गलत है।

इसमें सन्देह नहीं कि विचार-दर्शन या सिद्धान्त व्यवहार में अतिवाद से ग्रस्त हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक 'आइडियालाजी' एक प्रबल संवेग उत्पन्न किये बिना स्थितिशीलता में परिवर्तन नहीं कर सकती। किन्तु सत्य यह भी है कि पिछड़े देशों में विभिन्न स्तरों पर तीव्र परिवर्तनों की जरूरत है जो बिना किसी 'आइडियालाजी' के सम्भव नहीं है। 'आइडियालाजी' का जन्म परिवर्तन के लिये होता है और 'मनोराज्यों मुक्तता' (यूटोपिया) वस्तुगत स्थिति का परिणाम है विचारकों की सनक मात्र नहीं। पश्चिमी देशों में यूटोपिया के प्रति घृणा है, क्योंकि वे विकास की कई मंजिलें पार कर चुके हैं और दो-दो युद्धों के बाद उनके भ्रम टूट चुके हैं। स्पेंगलर औद्योगिक सभ्यता के ह्रास की करुण कथा कहता है और साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में औद्योगिक सभ्यता की अपेक्षाकृत असफलता के कारण वह प्राचीन साहित्य और संस्कृति की ओर ललक भरी दृष्टि से देखता है। किन्तु अमरीका में इस प्रकार का भ्रमनाश नहीं हुआ, फिर भी एक विनाश-आशंका से वह पीड़ित है। और जो है वह बना रहे सारे प्रयत्न इसी दिशा में हैं।

पिछड़े देशों के पीछे संस्कृति और साहित्य की परम्पराएँ हैं। आज के बन्द से प्रश्नों के बीज उनमें मिलते हैं उत्तरों के संकेत भी। जीवन के अनेक रूप उनमें चित्रित हुए हैं—एक निरन्तरता के प्रवाह में बदलते आदमी की तस्वीरें उनमें सुरक्षित हैं। संकटों के क्षणों में बार बार पुराने समाज गुजरे हैं और हर बार आदमी ने परिस्थितियों पर अन्तिम व्याख्या में विजय प्राप्त की है। इसलिए पिछड़े देशों में आज भी यह भ्रम बना हुआ है कि आदमी सभी बाधाओं पर विजयी होगा जब कि पश्चिम और एक सीमा तक कयामतवादी तबकों में शुरू से ही यह विश्वास रहा है कि कयामत करीब ही है। इसके विपरीत भारत जैसे देशों में काल-बोध अधिक गम्भीर रहा है। यहाँ काल की चक्राकार गति कल्पित की गई है। काल के किसी क्षण में

सभ्यताएँ नष्ट भी हो सकती हैं किन्तु जीवन का नाश नहीं हो सकता। और महाप्रलय भी हो जाय तो भी पुनः सृष्टि होगी। इस 'निरन्तरता-बोध' के बल पर ही यहाँ संकटों का सामना किया गया है। बोध अस्तित्व से अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि बोध प्रक्रिया में अस्तित्व ही बोलता है। अतः जब चिन्तन अस्तित्व विरोधी होता है तब अधिक स्वस्थ चिन्तन की माँग होती है। और यही आइडियालॉजी के विकास का क्रम है। किन्तु शायद हम भारी आइडियालॉजी द्वारा स्वार्थों को छिपाते हैं।

कामू ने 'रिबेल' में इस संकट का सर्वस्पर्शी वर्णन किया है। 'क्रांति' (Revolution) नयी सरकार बनाती है, यथा १७८९ की फ्रांसीसी राज्यक्रांति अथवा १९१७ की बोल्शेविक राज्यक्रांति। प्रथम ने पूँजीवादी जनतंत्र की सृष्टि की, दूसरी ने एकदल की तानाशाही कायम की। किन्तु 'विद्रोह एक सतत प्रक्रिया है' वह अन्तर्विरोधों का शत्रु होता है और व्यवस्था अपने गर्भ में अन्तर्विरोधों को रखती ही है। अतः कामू के अनुसार लेखक को क्रांतिकारी नहीं विद्रोही बनना चाहिए। क्योंकि सरकार बनते ही क्रांतिकारी लेखक सरकार का प्रचारक बन जायगा और जो लेखक ऐसा नहीं करता वह सताया जाता है। फिर विद्रोह होता है।

विद्रोह को इतने गम्भीर रूप में, एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में हिन्दी के आधुनिक साहित्य में नहीं लिया गया क्योंकि बौद्धिकता के नारे बुलन्द होने पर भी हिन्दी में बौद्धिकता अभी प्रारम्भ की स्थिति में ही है। फिर भी 'क्रांतिकारी' प्रगतिवाद और एडजस्टमेंटवादी सनातनवाद—दोनों के विरुद्ध 'विद्रोह' के स्वर अत्याधुनिक साहित्य में रूपायित हुए हैं। आज का साहित्य किसी भी विचार व्यवस्था में बँधना नहीं चाहता। यहाँ तक कि 'कमिटमेंट' के रूप में भी वह किसी विचार-व्यवस्था को नहीं स्वीकारना चाहता। उसमें परिवर्तन की तीव्र पुकार है और जड़ता का तो वह शत्रु ही है। यह शुभ है किन्तु विद्रोह में जिस 'संयम' पर कामू बल देता है उस पर ध्यान नहीं दिया गया। और हमारा विद्रोह भावुकता में उसी प्रकार परिवर्तित हो जाता है, जिस प्रकार 'क्रांतिवादी' साहित्य भावुकता से प्रारम्भ में नहीं बच पाया था।

इसके सिवा 'विद्रोह समझौता स्वीकार नहीं करता। 'ब्रूटस यदि रोमन जनतंत्र के शत्रुओं को नहीं मारता तो वह अपने को मारता'—विद्रोह का यह अवश्यम्भावी परिणाम होता है। पूर्ण अस्वीकृति की स्थिति में या तो शत्रु का वध हो अथवा आत्मवध—अन्य कोई उपाय नहीं है। तभी आत्महत्या का प्रश्न आता है, जिसकी गूँज कहानीकारों और कवियों में सुनाई पड़ती है। किन्तु

हिन्दी के 'विद्रोही' साहित्य में विद्रोह इकहरा है सर्वस्तरीय नहीं है, वह 'यशलिप्सा से बुरी तरह पीड़ित है। जीवन के सक्रिय क्षेत्रों में वह विद्रोह सक्रियता में परिणत नहीं हो पाता और न वह लेखक में 'आत्महत्या' का साहस ही भर सका है। फलत यदि क्रांतिवादी साहित्य संकीर्णता से पीड़ित हुआ, तो 'विद्रोही साहित्य' समझौते से ग्रस्त हुआ है। स्वभावत स्थितिशील या रूढ़िवादी तबके विद्रोहियों को निष्क्रिय करने के लिये प्रस्तुत रहते हैं और प्राय सफल होते हैं।

'विद्रोह' में श्रम विभाजन नहीं चल सकता कि हम केवल 'लेखन' में विद्रोह करेंगे 'साधारण लोग' जीवन में विद्रोह करें। साधारण लोगों में 'मूल्स' के अनुकरण की प्रवृत्ति उतनी नहीं होती जितनी कर्म के अनुकरण की। विद्रोह' यदि कोरे निषेध पर आधारित होता है तो निषेध सर्वदा हत्या' में परिणत होगा। हिन्दी का निषेधवाद' तो मौखिक और 'फैशनपरक' अधिक है। यहाँ एक भी ग्रुप' ऐसा नहीं है जो वस्तुत तेजस्वी हो अत विद्रोह प्रियता और अप्रियता' तक ही रह जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि हिन्दी के विद्रोही साहित्यकारों में सर्वाधिक 'कमनीय और 'वल्ड रड' लोग हैं फलत उनका काव्य बनावटी हो जाता है। भीतरी ताप के अभाव में साहित्य कागज का फूल बनता है। नये दीपकों की तो बाढ़ आ जाती है किन्तु केवल सहना' और सहने की स्थिति का भोग हुए और कुहरे की सृष्टि करता है अग्नि की नहीं। यह स्मरणीय है कि कामू कहीं नहीं कहता कि विद्रोह एक धारणा नहीं है मात्र अनुभव है। वस्तुत अनुभव और धारणा को अलग करना सरल नहीं है।

यदि विद्रोह दमन पर विचार किया जाये तो जिस तरह काम ने उसे क्रांति से अलग किया है वह सम्भव नहीं लगता। विद्रोह और क्रांति की समस्या वस्तुत व्यक्ति और समूह की समस्या है। अराजकतावाद क्यों असफल हुआ ? इसलिये कि व्यवस्था के बिना समूह नहीं चल सकता। इसी तरह ज्ञान' विचारों की व्यवस्था के बिना विकसित नहीं हो सकता। अत विद्रोह-दमन का वास्तविक रूप क्रांति का विरोधी नहीं होता। क्योंकि क्रांति जब व्यवस्था में परिणत होगी तब विद्रोह वर्गविटव रूप में सक्रिय रह सकता है और यदि कोई क्रांति विद्रोह के दमन का मार्ग अपनाती है तो उसी क्षण से वह आततायी बन जाती है। एकदलीय शासनों की असफलताओं का एक कारण उनकी स्थितिशीलता है वास्तविक अनुभव या यथार्थ की उपेक्षा है— 'विद्रोहियों की यह बात सही है। किन्तु विद्रोह और क्रांति दोनों मानव

स्वभाव' की कमजोरियां को यदि पहचान समझ बैठें तो कहना होगा कि विद्रोह में संयम और धैर्य का अभाव है, यानी विद्रोह बोध ही एकांगी है।

'साम्यवाद ही एक ऐसी विचार व्यवस्था है, जिसने इस "मानव स्वभाव' में व्यापक परिवर्तन के लिये व्यक्ति और समूह के सभी 'द्वन्द्वों की समाप्ति के लिये व्यापक कार्य किए हैं। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि किसी विशाल जनान्दोलन की प्रक्रिया में ही मानव-स्वभाव में गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है। साम्यवादी आन्दोलन इसका एक उदाहरण है। साम्यवाद की उपलब्धियाँ उसकी कमियों की तरह 'असाधारण हैं अभूतपूर्व हैं। दिशा सही है अवरोध और संकटों के विरुद्ध संघर्ष आवश्यक है, किन्तु इसके लिये केवल कमियों को देखकर, दूसरे ध्रुव पर जाकर, पूर्णनिषेध की पुकार, विद्रोह में संयम के अभाव की द्योतक है। इस देश को यह सुविधा है कि अन्य देशों के 'प्रयोग इसके सम्मुख हैं, अतः दूसरे देशों की भूलों से, 'आत्महत्या और सामूहिक हत्या' के मार्ग से बचकर, वैयक्तिक और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा 'समाजवादी जनतन्त्र' को सफल बनाने की सम्भावनाएं सम्मुख हैं। यह भी पूर्णनिषेधवादी दृष्टि से एक भ्रम है किन्तु जैसा कि कहा गया है कि सभी 'भ्रम' त्याज्य नहीं हो सकते। अतः भ्रमों में भी 'वरण' करना पड़ता है। आत्यंतिक दृष्टि से तो स्वयं जीवन भी एक भ्रम ही है निरर्थक भ्रम किन्तु इस दृष्टि से तो सिवा आत्महत्या या संन्यास के अन्य कोई रास्ता नहीं रहता। और यह आत्यंतिक दृष्टि सार्वजनिक' नहीं हो सकती सार्वभौमिक नहीं हो सकती, अतः विद्रोह भी दो प्रकार के हो सकते हैं। वास्तविक विद्रोह —जिसमें जीवन और समाज की असंगतियों के विरुद्ध संघर्ष एक अनवरत प्रक्रिया के रूप में स्वीकृत होता है और प्रयोजन होता है पूर्णता'। और व्यक्तिगत या व्यक्तिवादी विद्रोह में 'सनक ही प्रक्रिया होती है, और सनक' ही प्रयोजन होता है। सामयिक साहित्य और संस्कृति में इसी सनकी विद्रोह की मात्रा बढ़ रही है मूल्यों की संक्रान्ति का कारण एक यह भी है। विधि' के बिना 'निषेध की धारणा परस्पर विरोधी कथन है। प्रयोजन के बिना परिवर्तन की माँग अराजकतावाद है अतः सामयिक साहित्य में 'बौद्धिकता का स्वरूप 'पराये बोधों' से पीड़ित है। बिना स्वबोध के स्वप्न में क्रांति और विद्रोह केवल समझौते में ही परिणत होंगे, स्वबोध साहस—कामू के शब्दों में संयम (Restraint)—की अनुभूति ही वास्तविक आत्मबोध या आधुनिक बोध है।

रेखाचित्र और रिपोर्ताज

हिन्दी की अपेक्षाकृत कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा-साहित्य आदि को अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका। वस्तुतः प्राचीन साहित्य में काव्य को जिस प्रकार सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त था, और उसी को लेकर सिद्धान्तों का जिस प्रकार निर्माण हुआ उसी प्रकार हिन्दी ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी काव्य और तत्पश्चात् कथा को ही अधिक जनप्रियता प्राप्त हुई। आज भी यही स्थिति है। हिन्दी की सिद्धान्त समीक्षा अधिकांशतः 'काव्य' को आधार बनाकर प्रस्तुत होती रही है अथवा इधर कथा-उपन्यास की चर्चा अधिक हो रही है। गोष्ठियों, परिसंवादों और विशिष्ट व्याख्यानों में भी काव्य और कथा का ही ऊहापोह अधिक होता है स्वभावतः अन्य विधाओं के लेखक उपेक्षित अनुभव करते हैं और इन विधाओं को साधारण प्रतिभाएँ ही प्राप्त हो पाती हैं। कभी-कभी अन्य विधा विशेषज्ञ इन अप्रचलित विधाओं में भी कुछ लिख लेते हैं किन्तु हिन्दी में इन विधाओं में अभी तक गम्भीर प्रयत्न नहीं हुए हैं। आलोचना की एक भी अच्छी कृति इन विधाओं पर अभी तक प्रस्तुत नहीं हो सकी है, फलतः यदि इन विधाओं के लेखक यह कहते हैं कि हिन्दी में कवि, कथाकार और आलोचक अन्य विधाओं का विकास नहीं देखना चाहते तो इस आरोप में सत्य का अंश अवश्य है।

एक दृष्टि से किसी साहित्य की समृद्धि और व्यापकता का पता इस तथ्य से चलता है कि उसमें कितनी विधाओं में उच्चतम कोटि का साहित्य विद्यमान है और यह भी कि उसके साहित्यशास्त्र या सैद्धान्तिक आलोचना में व्याप्ति कहाँ तक है? हिन्दी का रस सिद्धान्त पण्डितों के द्वारा अभी तक इतना व्यापक नहीं बन पाया है कि उसके द्वारा इन कम प्रचलित विधाओं का परीक्षण हो सके। अतः अप्रचलित विधाएँ हमारे सम्मुख इस प्रकार की कुछ चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। सिद्धान्त-शास्त्र केवल सारतत्व (Essence) पर ही आधारित होकर नहीं चल सकता क्योंकि वह दर्शन की तरह केवल 'मूलतत्त्व' पर विचार का अभ्यस्त होने के कारण सम्पर्कहीन और सतही बन जाता है।

सारतत्ववादी दृष्टि से साहित्यमात्र की विशिष्टिता, विचार भा. और सवेदनाओ की कलात्मक अभिव्यजना है। स्पष्टत इस महाव्याप्ति म रेखाचित्र रिपोर्ताज भी आ जाते है किन्तु इससे साहित्येतर और साहित्य का भेद प्रस्तुत हो जाने पर भी कुछ स्पष्ट नही होता। वस्तुत प्रत्येक विधा अपने मूल म एक जीवन दृष्टि—एक परिप्रेक्ष्य छिपाए रहती है। वास्तविकता के चित्रण म परिपेक्ष्य स चित्रण विनघता आती है अतएव काव्य कथा नाटक से रेखाचित्र रिपोर्ताज-सस्मरण आदि म जो चित्रण वविध्य है उसका कारण लेखक का परिपेक्ष्य परिवतन है। स्वय रेखाचित्र और रिपोर्ताज आदि के मध्य इस परिपेक्ष्य-अतुवेध को देखा जा सकता है और केवल इसी आधार पर इनकी विशिष्टताओ और भेदो को समझा जा सकता है। काव्य रूप की समस्या मात्र बाह्य विभाजन नहा है, अपितु विधास्थित दृष्टि या परिपेक्ष्य का अनुसधान है।

कम प्रचलित विधाओ और काव्य कथा नाटक म मुख्य अ तर यह है कि उपन्यास काव्य आदि की तुलना म रेखाचित्रादि वस्तु-सम्पूणतावादी दृष्टि लकर नही चलत। महाकाव्य और महानाटक तथा उपन्यासो म वास्त विकता को उसकी पूणता म बिम्बित चित्रित किया जाता है जबकि रेखाचि आदि म एक स्थान पर स्थित होकर (Positinal) वस्तु या व्यक्ति को देखा जाता है। रेखाचित्रादि व्यक्तिगत, तथा समष्टिगत जीवन की सभी धाराओ, सभी कालक्रमो और सभी प्रश्नों समाधानो एवम् प्रवत्ति को नही देख सकते। सत्य और तथ्य की सागोपागता (Totality) इन विधाओ म नही मिलती। कम से कम हि दी की अपेक्षाकृत अप्रचलित विधाओ के विषय म यह कथन सही लगता है।

दृष्टि के अतिरिक्त दृष्टिप्रेरक तत्वा—मनोवगो उद्देश्यो और भावा वेगो (Impulses) की मात्रा, विस्तार और गम्भीरता की दृष्टि स भी अप्र चलितविधाओ और काव्य कथादि म अन्तर उपस्थित हो जाता है। रेखाचित्रादि मे लेखक की सम्पूण चेतना (Total Consciousness) समाविष्ट नही हो पाती, शायद इसीलिए इन्ह साहित्यकार उतना महत्व नही देना चाहते। परन्तु इसीलिए इनका विशिष्ट महत्व भी सिद्ध होता है क्योकि समुद्र क अतिरिक्त सुन्दर सरोवरों, लघु वीचिविलासमय सरिताओं और किसी प्रस्तर या पल्लव पर चमकती एक बूद का भी अपना अद्वितीय सौन्दय होता है। शायद 'लघु' हमारे जीवन के अधिक निकट प्रतीत होता है अत महत्ता का अभाव होने पर भी ये लघुविधाए परिचित ससार का परिचित पद्धति पर

आत्मा करती हैं। अपने अस्तित्व की नम्रता और लघुता समझकर भी ये विधाएँ साहित्य और जीवन का एक अपनत्व देती हैं। परायेपन का अभाव, आतंक का अभाव और 'अतिरिक्त' मर्यादागत—कल्पनागत ऊहापोह का अभाव इनकी उपलब्धि है।

कम प्रचलित विधाओं में संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज परस्पर निकटतम विधाएँ हैं। संस्मरण में भावात्मक प्रियता अधिक कायरत रहती है उदाहरणतः पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी की 'संस्मरण' नामक पुस्तक में पंडित श्रीधर पाठक आदि पर लिखित संस्मरणों में प्रियता लेखक के चित्त को वर्ण्यव्यक्ति की उन जीवन स्थितियों पर केन्द्रित कर देती है, जो उसे प्रिय हैं, पसन्द हैं। अतः संस्मरणों को पढ़ते समय लेखक के व्यक्तित्व का भी अध्ययन होता चलता है। हिन्दी में ऐसे संस्मरण बहुत कम मिलते हैं, जिनमें स्मर्यमाण व्यक्ति का तटस्थ स्मरण किया गया हो। इसका कारण यह है कि दिवंगत व्यक्तियों के विषय में भारतीय धारणा अप्रिय पक्षों की चर्चा को मृतात्मा के प्रति असम्मान समझती है। राग-द्वेष से रहित 'शव' को यहाँ परम पवित्र माना गया है और जो उपस्थित नहीं है उस व्यक्ति की सत्ता 'शव' है। 'शव' के प्रति सम्मान-पूर्ण दृष्टि का अर्थ यह है कि व्यक्ति पूर्ण नहीं होता, कोई कृति पूर्ण नहीं होती। इसलिए जीवन-सत्यों में सहायक पक्षों और मूल्यों का स्मरण ही विधेय है। प्राचीन काल से 'परम्परा' के प्रति जो यह दृष्टि रही है वही संस्मरण लिखते समय लेखक के मन में समाई रहती है अतः भारतीय संस्मरणों में शुभ पक्षों का ही उद्घाटन अधिक होता है जानने पर भी कुत्सित पक्षों का उल्लेख अवाञ्छनीय माना जाता है।

रेखाचित्र संस्मरणों से अधिक तटस्थ अंकन है। 'रेखाचित्र' शब्द से तो लगता है कि इस विधा में केवल व्यक्ति या वस्तु या स्थान का शब्दचित्र रहता है। मूलतः यह चित्रकला के क्षेत्र की प्रवृत्ति है, जहाँ रेखाओं द्वारा व्यक्ति या वस्तु का आभास प्रस्तुत किया जाता है। रेखाओं के चित्र में रंग अनावश्यक होते हैं इसी तरह शब्दों के माध्यम से अंकित चित्रों में भाव की ऊष्मा अनावश्यक है। किन्तु रेखाओं से चित्र बनाते समय व्यक्ति या वस्तु के प्रति—एक उन्मुखता आवश्यक है। उसी प्रकार साहित्यिक रेखाचित्र में व्यक्ति या वस्तु के प्रति एक राग उन्मुखता अनिवार्य तत्व है। वाह्याकृति अंकन के लिए वर्ण्य व्यक्ति या वस्तु में कोई विशिष्टता लेखक को आकर्षित करती है। यह विशिष्टता आकृतिगत ही नहीं आचरणगत अभ्यासगत (आदत सम्बन्धी) स्वभावगत और पद्धतिगत भी हो सकती है अतः प्रायः जीवन

म प्रचलित और स्वीकृत मान्यताओं से भिन्न जब किसी व्यक्ति में कुछ विश धारणा दिखाई पड़ती है तब वह रेखाचित्र के योग्य बनता है। "यह व्यक्ति अपने में एक 'कैरेक्टर' है यह रेखाचित्र के योग्य है,—इस प्रकार के कथन प्राय सुनाई पड़ते हैं। फिर भी साधारण से साधारण व्यक्तित्व में कुछ अद्वितीयता होती ही है। प्रत्येक व्यक्ति इस अर्थ में अद्वितीय होता है और इस दृष्टि से एक सामान्य साँचे के भीतर ढला हुआ होने पर भी प्रत्येक व्यक्ति कुछ स्तरों पर विलक्षण होने के कारण रेखाचित्र का विषय बन सकता है। उपन्यासों, कथाओं में रेखाचित्रों का बहुत अधिक प्रयोग होता है। प्रत्येक उपन्यास में द रेखाचित्रात्मक स्तर वर्णित वस्तु या व्यक्ति को वाणी देते हैं। रेखाचित्र द्वारा वस्तु और व्यक्ति सबाक हो उठते हैं, उनकी असाधारणता स्पष्ट होती है अत रेखाचित्र प्रचलित और स्वीकृति लोगों के मध्य व्यक्ति के गौरव का गो य और आकर्षण का वविध्य और महिमा का आकलन कर जाता है। रेखाचित्र यह सिद्ध करते हैं कि प्रत्येक अस्तित्व में सामान्य और विशिष्ट की एक संगति रहती है। इस प्रकार एक बहुत बड़ा सत्य रेखाचित्र लगभग अनजाने ही हमारे सम्मुख प्रकट करता है।

रेखाचित्र में उपयुक्त तटस्थता और उन्मुक्तता की संगति जितनी अधिक होगी, उतना ही वह सफल होगा। तटस्थता का अर्थ रुचि का अभाव नहीं है। 'तटस्थता का अर्थ है कि हम व्यक्ति' को अपने साथ छुड़ी—रिक्तताओं-वस्तताओं से ऊपर उठकर—एक सौन्दर्यपरक दृष्टि से देख सकते हैं। इससे व्यक्ति की विलक्षणताएँ एक सौन्दर्य विषय के रूप में प्रस्तुत हो जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति के प्रति हमारे मन में कोई राग नहीं होता। राग होता है पर यह आवेगन या भावुकता बनकर रेखाचित्रण की स्थिति में हम सम्मोहित नहीं कर लेता। तटस्थता और उन्मुक्तता की सामान्य स्थितियों के भीतर रेखाचित्रलेखक की रुचियाँ मूल्य और जीवन दृष्टियाँ भी क्रियरत रहती हैं उसका सौन्दर्यबोध भी संलग्न रहता है अत एक ही व्यक्ति वस्तु और स्थान पर विभिन्न प्रकार के रेखाचित्र मिलते हैं। विशाल भारत के 'शहीद अंक' में शहीदों पर लिखे गये रेखाचित्रों में बाह्याकृतियों के सम्पुञ्जन और आरेखन में यह दृष्टि क्रियरत है कि शहीद महामानव थे, वे मानवता के उद्धारक तथा सर्वस्वहोमी थे अत उनकी साधारण चाल ढाल रूप हावभाव, चेष्टादि उनके विकट कर्मों के परिचायक निर्देशों या चिह्नों का रूप धारण कर लेते हैं। ऐसा लगता है जैसे यदि उनका रेखाकन भिन्न होता तो वे ऐसे विकट कर्मा नहीं हो सकते थे और यह सत्य ह

कि दृढ़ संकल्पी व्यक्ति की शरीर रचना चाहे जैसी हो, उसकी चितवनि और चाल-ढाल में कुछ अजीब आकर्षण आ ही जाता है। गठन, गति से रूप पाता है। रेखाचित्र इस बाह्य गठन आदि को ही अंकित करता है, वह 'गति' के साथ सम्बन्ध जोड़कर कारण-कार्य परम्परा अपनाकर विश्लेषण नहीं करता अतएव रेखाचित्र प्रतीतियों का अंकन है ऐसी प्रतीतियों का जिनके कारणों की चेतना रेखाचित्र-लेखक के मन में होती है पर वह उसकी व्याख्या नहीं करता। वह परिणाम को देखता है। उसका ध्यान 'सृष्टि' पर है तथ्य पर नहीं कि वह इस प्रकार की ही क्यों है इससे अन्यथा क्यों नहीं है ?

कुछ रेखाचित्र व्यक्ति या वस्तु की विलक्षणता के रोचक अंश पर ही अधिक ध्यान देते हैं, यथा सुरेशनाथ दीक्षित के 'पण्डित जी' में अथवा बाबू गुलाबराय के 'नापिताचार्य' में। कुछ लेखक व्यक्ति के भीतरी उपकरणों पर अधिक ध्यान देते हैं यथा वृन्दावनलाल वर्मा के 'हुनकू' में। यह स्पष्टतः 'इन्टिमेट' है। कहीं केवल बाह्य आकृतियों और प्रतीतियों का आकलन होता है जैसे भगवतशरण उपाध्याय के 'वो दुनिया' में। कुछ स्थान का शब्दचित्र प्रस्तुत करते हैं जैसे सुहृदय के 'रावी के प्रपात' तथा रासविहारीलाल के 'दरवाज़ा खोलते हैं' में। यहाँ लेखक 'दृश्य' के साथ अपनी दृष्टि का तादात्म्य करता है एक ऐसी दृश्यबोधात्मक तटस्थता के साथ। मानवप्रेमी प्रवृत्तियों पर सर्वाधिक ध्यान देकर रेखाचित्र बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखे हैं जैसे नवीन जी पर उनका एक रेखाचित्र है। यह स्मरणीय है कि संस्मरण और रेखाचित्र की विधाएँ एक दूसरे में समाविष्ट होती चलती हैं। इन दोनों में भेदक तत्व सिर्फ भावात्मकता की मात्रा का है—संस्मरणों में भाव लेखक को पर्याप्त मात्रा तक अनालोचक बनाये रखता है, रेखाचित्र में उन्मुक्तता अथवा रागात्मक स्पर्श मात्र से ही काम चल जाता है।

रेखाचित्र व्यंग्यमयी चितवृत्ति में भी लिखे जाते हैं और हास्यहीन, अजटिल सी दयवाचक स्थिति में भी। ये दोनों स्थितियाँ एक ही दृष्टि में मिली भी रह सकती हैं। घोर नम्रता की मानसिक स्थिति बनाकर खिल्ली उड़ाने की मानसिक दशाओं में भी रेखाचित्र लिखे जा सकते हैं लेकिन ऐसी दशा में राग चित्रित व्यक्ति में न होकर लेखक की धारणाओं में प्रतिबद्ध होता है। मेरी जानकारी में हिन्दी में पूर्ण वैज्ञानिक स्थिति में लिखित रेखाचित्र एक भी नहीं मिलता। वस्तुतः रेखाचित्र मानवप्रेमी विधा है एक विशेष प्रकार की सहानुभूति और तादात्म्य इसके लिए अनिवार्य है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने साधारण जनों पर दीप जले शंख बजे कृति में अनेक रेखाचित्र प्रस्तुत किए

है, यहाँ मानवीय सहानुभूति के कारण साधारण जन विशिष्टता प्राप्त करते हैं। रामवृक्ष बेनीपुरी के 'गेहूँ और गुलाब' में भी यही प्रवृत्ति है। बेढब बनारसी के उपहार में हास्यरसात्मक शब्दचित्र हैं। हास्यरस के लेखकों के लिए रेखाचित्र के क्षेत्र में असीम सम्भावनाएँ हैं। बेढब, काका, निर्भय, बरसानेलाल चतुर्वेदी, घोष, कुल्हड़ आदि ने पद्यात्मक रेखाचित्र प्रस्तुत किये हैं और उनमें भाव रोचक हैं!

रेखाचित्रों में चित्रण की प्रधानता होती है संस्मरणों में विवरण अधिक होते हैं। संस्मरणों में प्रसंगों और कथाओं का प्रयोग होता चलता है। घटित का विवरण और उसमें वर्ण्यव्यक्ति की विशिष्टता या उपलब्धि पर प्रकाश प्रक्षेपण संस्मरण की प्रचलित विधि है जबकि रेखाचित्र में उसकी शैली में रूप अभिव्यक्तिकारक नपे तुले शब्दों का प्रयोग अधिक होता है अतः रेखाचित्र संस्मरण से कहीं अधिक बड़े कलाकार की अपेक्षा करता है। संस्मरण में वर्ण्यव्यक्ति के कृतित्व और महिमा का बल रहता है क्योंकि पाठक या श्रोता का ध्यान लेखक के विवरण से होता हुआ वर्ण्यव्यक्ति के गौरव या विशिष्टता का अनुसन्धान कर उससे आकर्षित होता है और संस्मरण की दुर्बलता को वर्ण्यव्यक्ति की महत्ता दबा ले सकती है किन्तु रेखाचित्र में कलाकार की शब्दशक्ति पर रूप को स्पष्ट और सजीव करने की क्षमता पर पाठक या श्रोता का सीधा ध्यान रहता है। सफल से सफल संस्मरण लेखक वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति को वह गौरव नहीं दे सकता जिसके लिए वह वर्ण्य वस्तु या व्यक्ति अयोग्य होता है हाँ, असफल संस्मरण लेखक वर्ण्य व्यक्ति की महत्ता को अस्पष्ट रख सकता है। अतः जिस सीमा तक असफल संस्मरण लेखक अपने विषय का गौरव घटा सकता है सफल संस्मरण लेखक अपने प्रतिपाद्य का गौरव उसी सीमा तक बढ़ा नहीं सकता। सफलतम संस्मरणों में गोर्की का तोल्स्तोय पर लिखा संस्मरण इसलिए भी अधिक सफल हुआ है क्योंकि उसका विषय है तोल्स्तोय। इस संस्मरण में हमें गोर्की और तोल्स्तोय दोनों प्रभावित करते हैं। साधारण व्यक्तियों पर लिखित संस्मरणों में गोर्की उतना प्रभावित नहीं कर सके। रेखाचित्र जब किसी प्रसिद्ध और पूर्व से ही मन में बसे व्यक्ति पर लिखा जाता है तब उसे भी यह उक्त सुविधा मिल जाता है किन्तु साधारण व्यक्तियों पर लिखे रेखाचित्रों और संस्मरणों में रेखाचित्रकार का कार्य अधिक कठिन है।

पद्मसिंह शर्मा और श्रीराम शर्मा के क्रमशः 'पद्मपराग' और 'बोलती प्रतिमा' में वह शब्दशिल्प नहीं मिलता जो बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' और

प्रकाशचन्द्र के 'मिट्टी के पुतले' और 'पीपल', 'सण्डहर' आदि मे मिलता है। विपक्षर बेनीपुरी के रखाचित्र अधिक सफल हुए हैं क्याकि वहाँ विषय के लिए शब्द का विम्बपरक चुनाव किया गया है। यह शब्दचयन जितना अधिक वास्तविकता के सदृश होगा अथात वास्तविकता की अनुरूपता का वह जितना अधिक आभासक होगा, उतना ही रेखाचित्र अधिक सफल होगा। महेन्द्रनाथ की 'घास वाली' हृपदेव के 'पण्डित पानेप्रसाद' आदि म वह शब्द अन्तर्दृष्टि नहा मिलता जो बेनीपुरी की 'गेहूँ और गुलाब' और माटी की मूरत' में मिलती है। प्रकाशचन्द्र गुप्त न निर्जीव वस्तुओ यथा लटर बक्स तोता का ताल पुरानी दरवाजा' आदि का अपन शब्दचित्रो से सजीव कर दिया है। इसका कारण लेखक की निर्जीव वस्तुओ मे भी जान डाल देने की क्षमता है जो वस्तुओ म अपनी चेतना प्रक्षेपण की क्रिया है। विस्तृत हृदय का व्यक्ति ही यह चेतनादान कर सकता है। यह दृष्टि स्पष्टत प्रकाशचन्द्र गुप्त को प्रगतिवादी मानववाद से मिली है और बेनीपुरीजी का समाजवादी मानववाद से, जबकि बाबू गुलाबराय को पराई पीर समझने वाली वष्णवता से और पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी को उनकी प्रिय अराजकतावादी उदात्त व्यक्तिवादिता और मानवप्रेम से मिली है। यह प्रेम वस्तुओ तक फलकर उन्हे जीवन्तता के विच्छुरण की शक्ति देता है और दूसरी ओर यही प्रेम किसी व्यक्ति या वस्तु पर केन्द्रित होते ही रचक की चेतना म सार्थक शब्दो को उसी तरह उभारता है जस मथन दुग्ध से नवनीत को जन्म देता है अत संस्मरणों और रेखाचित्रो मे हिन्दी की यह मानव प्रेमी प्रवृत्ति ही परिलक्षित हुई है।

यात्रा साहित्य और संस्मरण कही जाने वाली कृतियाँ वस्तुत रेखाचित्रो की भी उदाहरण बन जाया करती हैं क्योकि प्राय हिन्दी लेखकों म संस्मरण लिखते समय पहले या मध्य म रेखाचित्र प्रस्तुत करने की एक परम्परा ही दिखाई पडती है। इस दृष्टि स अरे यायावर रहेगा याद, एक बूँद सहसा उछली (अज्ञेय), ठेले पर हिमालय (धर्मवीर भारती) सुबह के रंग (अमृतराय) लन्दन से लन्दन (ब्रजकिशोर नारायण) सागर की लहरों पर (भगवतशरण उपाध्याय) दूसरी दुनिया (अभयकुमार जैन) आदि यात्रात्मक साहित्य म रेखाचित्र के अश मिलते हैं। संस्मरणो म अतीत के चलचित्र स्मृति की रेखाएँ (महादेवी) संस्मरण (बनारसीदास चतुर्वेदी) क्या भूलें क्या याद करूँ (बच्चन) रेखाएँ बोल उठी (देवेन्द्र सत्यार्थी) जजीरें और दीवार (बेनीपुरी) जो न भूल सका जो लिखना पडा (भदन्त आनन्द कौसल्यायन) पदचिह्न परिव्राजक की प्रजा (शान्ति प्रिय द्विवेदी), भूले हुए चेहरे, जिन्दगी मुस्कराई

(प्रभाकर), साहित्यिक जीवन के संस्मरण (किशोरीदास वाजपेयी), मेरी असफलताएँ, कुछ उथले कुछ गहरे (गुलाबराय) स्मृति कण (सेठ गोविन्ददास), पहली सलामी (चतुरसेन), चाँद पत्रिका का 'फाँसी अंक' ज्यादा अपना, कम पराई (अश्क), आदि कृतियों में रेखाचित्र भरे पड़े हैं। रेखाचित्रों की दृष्टि से भी इनका उल्लेख आवश्यक है।

इसी प्रकार 'इण्टरव्यू साहित्य' में भी रेखाचित्रात्मक अंश मिलते हैं, 'मैं इनसे मिला' (डा० पद्मसिंह) के अतिरिक्त पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित इण्टरव्यू साहित्य विपुल मात्रा में मिलता है, कथा और उपन्यासों में प्राप्त रेखाचित्रों का उल्लेख किया जा चुका है।

रेखाचित्रों की दृष्टि से बेनीपुरी प्रभाकर, बनारसीदास चतुर्वेदी और प्रकाशचन्द्र गुप्त का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

रिपोर्ताज हिन्दी की नवीन विधा है। संस्मरण और रेखाचित्र हिन्दी में आजादी के बहुत पूर्व लिखे जाने लगे। लेकिन रिपोर्ताज १६४० के बाद ही लिखे गए। किसी घटना की रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को रिपोर्ताज कहा जाता है। किन्तु इसमें लेखक घटना का प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है यों सुनी हुई घटना पर भी रिपोर्ताज लिखे जा सकते हैं। इस दूसरी विधि में घटना के होने के काल का, कल्पना और पूर्वानुभव से मानसिक प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। द्वितीय महायुद्ध में इस विधा का विशेष विकास हुआ। इलिया एहरेनबुर्ग के रिपोर्ताज प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में बंगाल के अकाल पर रांगेय राघव ने शक्तिशाली रिपोर्ताज लिखे। प्रकाशचन्द्र गुप्त अमृत राय प्रभाकर माचवे आदि ने भी रिपोर्ताज लिखे हैं। आकाशवाणी से मेलों उत्सवों, पीडाओं, खेलकूद जन्म मरण आदि अवसरों पर जनसमूह की क्रिया प्रतिक्रियाओं का क्षणपरक वर्णन प्रसारित होता है, ये रिपोर्ताज प्रसारित हुए हैं गांधी नेहरू और शास्त्रीजी की मृत्यु के अवसर पर प्रसारित रिपोर्ताजों में यदि करुणा जनक दृश्यों का साक्षात्कार किया गया है जो पर्वों उत्सवों के के विवरणों में हर्षोल्लास का। खेलकूद के विवरण में उत्साह और विनोद की अभिव्यक्ति होती है। अभी यह साहित्य मात्रा और गुण में प्रारम्भिक स्थिति में ही है।

रिपोर्ताज में घटना का यथावत् वर्णन और लेखक का उत्साह ये दो मुख्य तत्व होते हैं। यहां भी लेखक किस दृष्टि से घटना को देखता है और उस 'होने' (becoming) को अपने स्व से कैसे जोड़ता है यह बहुत महत्वपूर्ण होता है। मात्र हाल की रिपोर्ट या तो पुलिस थाने में लिखी जाती है या अन्य

अधिकृत सूचनाओं म । किन्तु घटना एक सकुल प्रक्रिया है । व्यक्तियों के समूह घटना को जन्म देते हैं अत उनकी आशा-अकाक्षाएँ उनकी चेष्टाएँ, सन्देह और निश्चय, पराजय और पलायन आदि सभी कुछ रिपोर्ताज मे व्यक्त होते हैं। रेखाचित्र म लेखक एक सौन्दर्यबोधक तटस्थता बरतता है किन्तु रिपोर्ताज में—पक्षधरता ही अधिक व्यक्त होती आई है। रांगेयराघव के अकाल पर सस्मरणों में केवल भूख स तडपते बगाल के व्यक्तियों का ही शब्दचित्र नही है अपितु लाशों पर मँडराते गिद्धों—अन्न के लिए अस्मत बेचती नारियों, मुनाफाखोर धनासेठों की लालचग्रस्त आँखों, अफसरो की लापरवाह मुखमुद्राओ और सरकार क पाखण्डो का भी जीताजागता चित्रण किया गया है और इन सारी घटनाओं को एक सूत्रता देने वाली दृष्टि है, लेखक की जनता के प्रति प्रीति। यदि रांगेयराघव की जगह कोई प्रतिक्रियावादी लेखक अकाल पर रिपोर्ताज लिखता तो वह भारतीयों के भाग्यवाद, अगरेजशाही की कठिनाइयों और उदारता से विवरण मे एकसूत्रता का काम लेता । इस प्रकार परिप्रेक्ष्य क प्रति पक्षधरता अथवा प्रतिबद्धता अथवा प्रतिबद्धता के बिना रिपोर्ताज मे लेखक का उत्साह व्यक्त नही हो सकता ।

रिपोर्ताज इस म बहुत लिखे गए विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के समय । वहाँ लेखकों का युद्ध के मोर्चों पर भेजा गया और वहा स उन्होंने युद्ध म रमी जनता की वीरता और बलिदान का युद्ध की भयकरता और विनाश का जीवन्त चित्रण किया । भारत पर चीन और पाकिस्तान क आक्रमण के समय लेखकों को मोर्चे पर नहा भेजा गया कुछ चित्रकार बाद म अवश्य भेजे गए अत स्वतन्त्रता के बाद रिपोर्ताज का यह स्वर्णिम अवसर निकल गया । निर्माण-कार्यों के स्थलो पर भी रिपोर्ताज नही लिखवाए गए । खेद का विषय है कि इधर अब भी ध्यान नही दिया जा रहा है ।

रिपोर्ताज वस्तुगत सत्य को प्रभावशाली बनाता है उसका सम्बन्ध सिर्फ वर्तमान से होता है किन्तु उसका लेखक वर्तमान के उस बिन्दु पर होता है जिसम भूतकालीन मूल्य और भावनाएँ रहती हैं और भविष्य के प्रति उत्कट लालसा भी अत रिपोर्ताज म सर्वत्र इकहरा वर्णन नही होता । इनम लेखक की गूढ चेतना से उठते हुए और चिंतन और अनुभव से सवलित शब्द और वाक्य अनायास ही सम्मिलित होते चलते हैं और साथ ही आमूलचूल स्पंदित भावकण क्षण प्रतिक्षण घटने वाली वास्तविकता को मानवीय सन्दर्भ देते हैं । कभी लेखक घटना का क्षण क्षण परिवर्तित रूप आकलित करता है तो कभी उस म 'पूर्व और पर का जोडकर उस एक काल प्रवाह

मे रखकर देखता है, कभी उस घटना के स्वरूप और व्यक्तियो पर नजर डालता है तो कभी घटना और मनुष्य की नियति पर विचार करता है अत रिपोर्ताज-साहित्य क्रिया के क्रम म स्थित होकर रचा जाता है। रिपोर्ताज का लेखक घटना का स्वय अश है और उसका द्रष्टा भी है। वह मात्र सिहाव लोकन नही करता न वह चित्रकार की तरह दूर से दृश्य को देखता है, वह घटना का साक्षात् भोक्ता बनता है। अकाल म रागेयराघव का लेखक भूख के साथ भूख की पीडा से तडपता है दो मुटठो अन्न पाकर वह उस भोजन के आनन्द की कल्पना को अनुभव म बदलता है। इसी तरह युद्ध म रिपोर्ताज लेखक मारने वाले के साथ मारता है और मरने वाले के साथ मरता है। अत रिपोर्ताज म लेखक घटना और द्रष्टा के मध्य की दूरी को अपने माध्यम से समाप्त कर देता है और विरोधाभास यह कि फिर भी वह एक स्तर पर तटस्थ रहता है। वह चन्द्रबरदाई की तरह द्रष्टा भी है और भोक्ता भी, लेखक भी है और मरजीवा भी। बिना कल्पना को अनुभव म बदले सफल रिपोर्ताज नही लिखे जा सकते और साथ ही अनुभव म पकाए बिना भी वह रिपोर्ताज का सफल लेखक नही बन सकता।

इस प्रकार रेखाचित्र की तटस्थता का विगलन और साथ ही रेखाचित्र की तटस्थता रिपोर्ताज का अनिवार्य तत्व है। रिपोर्ताज म कल्पना भाव और बुद्धि सर्वाधिक रूप म सक्रिय रहते हैं अत यह विधा साहित्य का सबसे अधिक क्रियात्मक विधा है जसे एक ही व्यक्ति म ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों एक साथ क्रियारत हो और फिर भी एक स्तर से परमब्रह्म की तरह लेखक अपनी चेतना के इन तीनो सक्रिय आयामो को साथ-साथ देखता चल रहा हो ।।

ऐसी सक्रिय विधा म शब्द उसी प्रकार त्वरा पकडते हैं जसे स्वचालित बन्दूक से निकलने वाली गोली। यह स्वयचलित प्रक्रिया रिपोर्ताज लेखन के समय उपयुक्त शब्दो को स्वत चेतना म अवतरित कर देता है क्योंकि शब्दशिल्प के लिए वरण और चयन का समय रेखाचित्र-संस्मरण आदि म मिल सकता है रिपोर्ताज म नही। अत यहाँ सरस्वती जसे विद्युत आघात पा जाती है और लेखक के मुख या लेखनी से बाह्य घटना विद्युत की तरह झटके देकर उसका श्रेष्ठ रचनात्मक तत्व खीचकर बाहर निकाल देती है। इस प्रकार रिपोर्ताज म ध्यान धारणा कल्पना और भाव की गति म समन्विति होता । जबकि रेखाचित्र म इन सबकी सगति स्थिरगति म होती है। रेखाचित्र म लेखक की चेतना का चमत्कार मिलता है रिपोर्ताज म क्रिया और लेखक पर उसकी

तीव्रतम प्रतिक्रिया, इन दोनों का। अत रिपोर्ताज क्रिया का सौन्दय है, सस्मरण क्रिया और व्यक्तित्व क स्मरण का सौन्दय है और रखाचित्र वाह्याकृतियो और चेष्टाआ की पुनप्रस्तुति का सौन्दय है।

रेखाचित्र और रिपार्ताज के क्षेत्रो म लखको की सफलता की असीम सम्भावनाए विद्यमान हैं। काव्य, कथा और आलोचना के वशीभूत हिन्दी लखक यदि इन प्रचलित विधाआ को भी आवश्यक समय और शक्ति दे तो न केवल साहित्य जीवन के अधिक निकट पहुँच सकेगा अपितु हिन्दी का साहित्य चिन्तन जिस सदेहवाद और निरथकतावाद स पीडित हो रहा है, उससे भी उस मुक्ति पाने में मदद मिलेगी। अप्रतिष्ठित या कम प्रतिष्ठित विधाओं को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रिया म लेखको को भी प्रतिष्ठित होने का अवसर मिलगा और साथ ही हिन्दी की भागीरथी का प्रवाह भी विस्तृत होगा। आशा है लखक बधु इधर ध्यान देंगे।

कविता—अनुशंसा की समस्या

देश विदेश में अनेक समकालीन रचनाकारों का मत है कि कविता और कला का अध्यापन सम्भव नहीं है। कक्षा में सम्मुख कविता अनुशंसा (एप्रीशियेसन) असम्भव है। इसके लिये प्राय दो प्रमुख कारण दिए जाते हैं। अध्यापक, "कालजयी कृतियों को पढ़ाते हैं लेकिन उन "पुरानी रचनाओं की "रचना प्रक्रिया" अस्कुल थी, उनकी मानसिकता भी सहज और स्पष्ट थी अतएव वह विश्लेषण अनुशंसा वगैरह का विषय बन सकती थी, किन्तु नवीनकला और कविता एक जटिल युग की अस्पष्ट और परस्पर विरोधी, अनिश्चित और संशयग्रस्त स्थितियों का व्यक्त करती है और ये स्थितियाँ ऐसी हैं जिन्हें निराकार (एब्सट्रैक्ट) अथवा उच्छृंखल उपायों (मुक्त आसंग विधि चेतनाप्रवाह विधि आदि) द्वारा ही सुझाया जा सकता है कदाचित काव्य-कला की विधि पर कहा नहीं जा सकता है तब अनुशंसा कैसे सम्भव होगी?

दूसरा आपत्ति यह है कि विश्वविद्यालयों में अधिकांशत अध्यापक समकालीन सृजन से कोई वास्ता नहीं रखना चाहते न उसमें भागीदार बनते हैं, उलटे वे प्राय नवलेखन के प्रति विरोधी रुख अपना लेते हैं और जब कोई रचना रचनाक्षेत्र में उभर कर ऊपर आ जाती है तो वे उसे पढ़ाने लग जाते हैं। वे उस रचना को उभार कर स्वयं नहीं लाते बल्कि सिर्फ उभरे हुए को चुन लेते हैं। ऐसी स्थिति में परम्पराग्रस्त व्यक्ति उन सारे रचनात्मक संघर्षों, तनावों और प्रक्रियाओं से अपरिचित रह जाते हैं जिनके बिना नवीन रचना की पहचान नामुमकिन हो जाती है।

बहरहाल, द्वितीय आपत्ति में अधिक बल नहीं है क्योंकि अब पिछले वर्षों में कालेजों विश्वविद्यालयों में रचनाकार प्राध्यापक अथवा प्राध्यापक नुमा रचनाकारों की संख्या बढ़ रही है अमरीका में तो धीरे धीरे रचनाकार और प्राध्यापक का अन्तर बहुत कम होता जा रहा है क्योंकि वहाँ प्रयोगशीलता अधिक है।

प्रथम आपत्ति में भी अधिक दम नहीं है। जेम्स ज्वायस का 'यूलिसिस' नामक नवीनतम शैली के उपन्यास का 'विश्लेषण' विदेश मे खूब हुआ है। एक भारतीय विद्वान ने 'जेम्स ज्वायस पर भारतीय प्रभाव' इस विषय पर लखनऊ विश्वविद्यालय से उच्चतम शोध उपाधि प्राप्त की है और इस विश्लेषण की बड़ी प्रशंसा हुई है (डा० बालाप्रसाद मिश्र, अब दिवंगत)। उधर नवलेखन म अनेक प्राध्यापक भागीदार हैं। स्वयं रचनाकारो ने अपने रहस्योद्घाटन भी कम नहीं किए हैं, और इस सामग्री का उपयोग हो सकता है, अनेक छात्र छात्राएं भी रचनाकार हैं वे प्राध्यापकों को पढा रहे हैं।

इसके सिवा जो आज 'रहस्यमय' "व्याख्या से परे" और सर्वथा निराकार" लगते हैं, वे कुछ समय बाद "पकड़ मे" मे आ जाते हैं। टी० एस० इलियट की वेस्टलैंड, गजानन माधव मुक्तिबोध की 'अंधेरे म', ब्रह्मराक्षस' और 'आरट उटाग', शमशेर क 'प्रयाग" और अज्ञेय के "आँगन के पार द्वार' भी अब बोधगम्य हो गए है और अब तो सन १९६० के बाद 'प्रत्यक्ष कथन' बढता जा रहा है। जागरूक पाठक 'युयुत्सा" का रचनाओं मे ट्टर राजकमल के "मुक्तिप्रसंग" तक अभिव्यक्ति के भिन्न भिन्न तरीको को पहचान गया है।

काव्य-अनुशासा म इसलिए प्रथम प्रश्न यह होगा कि जब कविता अनेक प्रकार की है, तब क्या अनुशासा का कोई एक तरीका अपनाया जा सकता है? स्पष्ट उत्तर होगा कि अनुशासा रचनाविशेष के अनुकूल होगी, उदाहरण के लिए, कुछ रचना प्रकार प्रस्तुत हैं—

आज नदी बिल्कुल उदास थी
सोई थी, अपने पानी मे
उसके दपण पर बादल का वस्त्र पडा था
मैंने उसको नही जगाया दबे पाँव घर वापस आया[1]।

यहाँ "रचनाप्रक्रिया बिम्बात्मक है लेकिन बिम्बवाद पर भाषण देने से काम नही चल सकता। यहाँ द्रष्टव्य यह है कि वस्तुस्थिति क्या है और उसे किस सटीक बिम्ब द्वारा रूपायित किया गया है। नदी का उदास होना, उसका अपने पानी म सोना—इस स्थिति को कवि अनुभव करता है, नदी नही। उदासी कवि के मन मे है जिसका कारण वास्तविक परिस्थिति में

१ केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहा रंग बोलते हैं।

है अत उदासी के कारणों को समझना होगा ताकि बोध का आधार स्पष्ट हो उठे। अब इस उदासी की स्थिति म वस्तुत लगेगा कि नदी उदास होकर अपने म सिमट कर रह गई है लेकिन उसका पानी दपण की तरह स्वच्छ है (यहाँ आज के हर उदास आदमी की चेतना की निर्मलता और विवशता ध्वनित है) और बादल का प्रतिबिम्ब पड रहा है। यही कवि की बिम्बविधान शक्ति की पराकाष्ठा होती है और वह दपण पर पड़े हुए वस्त्र के रूप को प्रस्तुत करता है इससे दो रूप एक दूसरे के सम्मुख आ खडे होते हैं —दपण, दपण पर पड़ा वस्त्र। दपण में प्रतिबिम्बित वस्त्र दूर स देखने पर, दपण पर पड़े हुए वस्त्र सा लगता है। परिणामत नदी का अस्तित्व कुछ भी छिपता नहीं, सब प्रकट हो जाता है। नदी की उदासी, उसकी स्वच्छता, उसकी शोभा—एक शब्द में, नदी अपने सश्लिष्ट रूप में व्यक्त होने लगती है और इस सम्पूण चित्र से आज के आदमी की स्थिति या 'नियति' की ओर भी ध्यान चला जाता है जिससे नदी और समकालीन आदमी 'सम्बद्ध' हो जाते हैं।

लेकिन कल्पनाहीन श्रोता या पाठक के लिए यह अनुशसा या विश्लेषण व्यथ है और कल्पनाप्रवण, सवेदनशील व्यक्ति के लिए भी यह अनुशसा उसकी अपनी कल्पना के लिए सहायक मात्र ही है, वह इतने सकेत स कवि की मान सिकता के निकट पहुँच सकता है, लेकिन फिर भी यह महसूस करता है कि यह 'काव्यानुभव' अनिवचनीय है क्योंकि कविता जो चेतना के भीतर रच देती है, जगा देती ह क्या उसका वणन सम्भव ह?

इस प्रकार अनुशसा काव्यगत अनुभव के निकट पहुँचने पहुँचाने की एक कोशिश ही ह।

इस कोशिश मे कभी असफलता भी हो सकती ह, कभी कुछ सफलता ही मिलती है कभी कुछ अधिक कामयाबी मिल सकती है यह सब बोद्धा, वक्ता श्रोता आदि पर भी निभर करता है।

अब 'रसियों की भिन्नता' शीषक एक मायकोवस्की की रचना लीजिए—

एक ऊँट को देखकर एक घोडे ने कहा
'क्या असाधारण दोगला घोडा है!"
ऊँट की बारी आई, बोला—
'तुम कुछ नहीं एक छोटे कद के ऊँट हो'!
और सनातन अतरिक्ष म केवल ईश्वर जानता है
कि दोनों भिन्न भिन्न किस्मों के जीव हैं।

यहां 'रचनाप्रक्रिया' का रहस्य सिर्फ इतना है कि रूस में, क्रांति के जोश में, प्रायः रुचियों की भिन्नता को स्वीकृति देने में संकोच रहता था और इस प्रवृत्ति से "व्यक्ति की विशिष्टता" को उचित गौरव नहीं मिल पाता था। इस जहनियत पर हमला करने के लिए मायकावस्की ने गधे, व घोड़े का, लोक में प्रचलित, उदाहरण लिया। साधारण व्यक्ति भी जानता है कि भिन्नता के लिए इन्हीं का उदाहरण दिया जाता है अतएव कवि ने वही प्रतीक चुना जो 'सटीक' साबित हुआ। लेकिन यदि क्रांति की अवधि में रूसी एकरूपता व मतैक्य को नहीं बताया जाए तो कविता का मर्म अस्पष्ट रहेगा।

इसी तरह नागार्जुन की 'आत्मा की बांसरी" शीर्षक रचना में 'बुर्ज्वाआधुनिकता" का पर्दाफाश करना कवि का उद्देश्य है। 'दृष्टि' का परिचय करा देने के बाद फिर स्वयं सब स्पष्ट हो जाता है—

पता नहीं कितने छेद हैं, तुम्हारी आत्मा की बांसुरी में
बजती है फूंक से अथवा बिना फूंके ही ?

सभी ओर धुंध, सब ओर कुहासा
निकलोगे कैसे विकट चक्रव्यूह से ?
नादान अभिमन्यु क्या तुम करोगे ?
हम तो भई निहायत मामूली किस्म के
। अदना से आदमी ठहरे
पड़ती है उलझन, सुलझा भी लेते हैं
कसी भी गांठ हो, खुल ही जाती है।

एक कविता में धर्मवीर भारती ने अपने को ऐसे घायल अभिमन्यु के रूप में दिखाया है जिसके हाथ में रथ का टूटा पहिया है और जो युग की यान्त्रिकता तृतीय विश्व-युद्ध की आशंका, और इसी तरह की अन्य उलझनों से पीड़ित है लेकिन इस कायरता विवशता और किंकर्तव्यविमूढ़ता को जन वादी कवि नागार्जुन मध्यवर्गीय मनोवृत्ति का "परिचायक" मानते हैं जो पूंजीवादी दलों के संकट को अपना संकट मानकर उस ... है

पर्यायरूप मे प्रस्तुत करती है। नागाजु न इसी बाबू मनोवत्ति'' पर हमला करते है अत यहा भी "रचनाप्रनिया" का रहस्य दृष्टि' मे छिपा हुआ है, उस 'जीवनदशन' मे छिपा हुआ है, जो नातिकारी है।

यहा प्रतिपक्ष को नीचा दिखाने के ल्िए अपने पक्ष को नीचा दिखाने की जनता मे प्रचलित कथनविधि का प्रयोग किया गया है।

अ धेरे मे आखों पर हथेलियाँ रख—दबाने पर
दीखते है अनेक रग
और—हरे काले रग को घेरती है
लाल, लाल परछाई!
सुबह के पहले ही, पेट के खाली कनस्तर मे
गू जने लगती है, गू गे आदमी की चीख
धूप का ताप उसे गस सिलडर की तरह
वस्ट कर दता है!
मुझ चारो तरफ से—ठण्ड गोश्त की हवा घेरे है
आखिर क्यो ?[1]

यहा 'शाति का स्वर' पृष्ठभूमि म है, सवेदना के माध्यम स ही 'शातिकामना को यक्त किया गया है। अ धरा प्रतिगामिता का प्रतीक प्रसिद्ध ही है। अधकार म सचमुच आंखा पर हथेली रखकर दबाने पर अनेक रग दिखाई दते है (इसका प्रयोग प्रदशन' भी किया जा सकता है) और लाल लाल परछाई भी महसूस होती है जो वस्तुत इन्कलाब का चिह्न है। "गू गे आदमी की चीख' के विरोधाभास द्वारा कवि आज के आदमी की स्थिति का वणन करता है कि किस तरह वह सह रहा है, लेकिन भीतर ही चीख रह जाती है और खाली पट के लिए कनस्तर और फिर धूप म गससिलॅडर की तरह उसका फटना—सामयिक भूख और लाचारी का साथक चित्र बन जाता है।

इस भयकर स्थिति म जब कोई उपाय नजर नही आता तब कुछ कवि विसगति' की गू ज क लिए अटपट रूप अपनाते हैं, काव्य का ढाँचा

---

१ अधेरे क रग—श्री रूप सुगुमा, कल्पना, नवम्बर, १९६७, पृष्ठ ६०।

तोड़ते हैं। उनके अनुसार विसंगति" ('एब्सर्डिटी") का चिकनी, बनावटी, व्याकरणयुक्त काव्य भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता अत "विसगत कविता' की यह पृष्ठभूमि समझ लेने पर, रचना का स्वरूप और उसकी सार्थकता उभरने लगती है—

कुछ   कुछ नहीं, हीं, न, छकु
कु-छ   न ही नकु ही न छु!
कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं
नहीं, नहीं नहीं, कुछ!

-अथवा

दि दि दि दि दि व्या व्या व्या दि व्य दि व्य
व्य दि व्य ि व्य दि दि व्या दि दि दि दि ।

प्रथम म "निरर्थकता" और दूसरी 'रचना" (?) मे "दिव्य" शब्द का जो 'प्राचीनों द्वारा दुरुपयोग हुआ है उसकी ओर इशारा है। प्राचीनता के हामी लेकिन आडम्बरपूर्ण जीवन व्यतीत करने वालो के पाखण्ड का खण्डन ही दूसरी रचना का उद्देश्य है जो नयी पीढ़ी' के उपहास, विडम्बक स्वर और आक्रोश को व्यक्त करती है।

किन्तु ऐन्द्रिय संवेदन (शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध के अनुभव) के स्तर पर केवल आवन दृष्टि" बताकर रचना का मर्म नहीं खोला जा सकता, उदाहरण के लिए पतजी के नौकाविहार के रूपो में मन से विचरना होगा पूर्व इकप्रत्ययता का स्मरण करना-कराना होगा और साथ ही उस छाया वाली दृष्टि पर प्रकाश डालना होगा जो वस्तुओं, दृश्यों के आवरणों को बुनती थी, तब 'विसंगतिबोध था ही नहीं। यो जगदीश गुप्त की कविताओं में "रूपा' का चित्रण अधिक होता है लेकिन समकालीन कविता म, प्रत्येक कवि म स्वतन्त्र रूप स और नहीं अनुभवो मे मिश्रित अहसासों की अभिव्यक्ति हो रही है। मिश्रित और सकुल संवेदना का एक रूप दृष्टव्य है—

छीन बाट लिया क नों ने,
कबन्ध दलदल म संघर्षरत!
रक्त से सनह पर बन गया जो अमूर्त चित्र
उस भी अपन चन्दो के मुखपृष्ठों क लिए छीन ले गए।

विभिन्न कोणों से अध्ययन का विषय मैं
एक 'विशेषज्ञ' ने तो कहा, जादूगर है
कबंध और दलदल का खेल दिखाता है
और अपना सिर 'सेफ डिपाजिट' में जमा कर आता है।
गलने के पूर्व, किसी साफ शीशे में काश, मैं अपनी
तस्वीर देख पाता
लेकिन मैं तो व्याख्याएँ सुनने के लिए अभिशप्त हूँ।
संवेदन त्वचा में अब भी है सुनूँगा
अगर हाथ एक बार ऊपर उठ सका
तो कीचड़ पत्थर मारने वाले तटस्थ बच्चों से
टा टा कहूँगा।

यहाँ कवि को यह महसूस होता है कि वह दलदल में फेंक दिया गया है (समकालीन मानव स्थिति)। कीचड़ से संघर्ष—कीचड़ में धँसने और गलने का इंतजार, सिर कटने पर भी उस स्थिति का इन्द्रियों पर प्रभाव, दुर्गंध पंक का चिकना चिकना सर्द स्पर्श, चारों ओर दलदल का दृश्य, कीचड़ के 'जल' का अहसास, पाखण्डियों और आत्मग्रस्तों के कहकहे, उनके द्वारा दिये गए चित्र (कवि की स्थिति के) तरह तरह की अफवाहें, अफवाहखोरों के घृणास्पद चेहरे, लाचारी का तीखा बोध, निर्मलचेतस लेकिन शरारती बच्चों के प्रति—नवागत पीढ़ी के प्रति कवि की ममता—गरज यह कि रचना में—ऐन्द्रिय अनुभव, परिस्थितिगत अनुभव परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा वगैरह 'गड्डमगड्ड' रूप में व्यक्त हुए हैं।

जहाँ संवेदना अमूर्त रूपों में व्यक्त होती है वहाँ काव्य अनुभूति में उन अनुभवों का पुनः सर्जन करके उनका विवरण देने से पाठक या श्रोता के मन में वही संवेदना जग जाती है यथा [illegible] शहर का [illegible] में गुजरना और ऐसा लगना कि चारों ओर का [illegible] आग में [illegible] रहा हो —इस स्थिति में दृक्प्रत्यय और 'स्पर्श' के अनुभव हैं जिनका विवरण देने से सहज ही स्फुरित हो उठता है। एक अन्य उदाहरण—

Trees turned and talked to me
Tigers sang houses put on leaves

नए ढग की "काव्यअनुशसा" प्रारम्भ हो सकती है अत परीक्षाओ या व्याख्याओ मे इस तरह की रचनाओ से 'एकार्थकता' की माँग एक गल्त माँग है।

इस प्रकार, सामयिक कला और कविता के एक बडे अग की अनुशसा और विश्लेषण सम्भव है। दूसरे, "रचनाप्रक्रिया" मात्र सब कुछ नही है कवि की जीवन दृष्टि या वास्तविकता के प्रति 'एप्रोच' उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी तकनीक की व्याख्या, और तीसरे काव्य अनुशसा के लिए "पद्धति" रचनाविशेष पर आधारित होगी। उस रचना के 'स्वरूप' 'अभिप्राय' और उसमे व्यक्त मानवीय अनुभव या राग या बोध की पहचान पूरी तरह यदि सम्भव नही है, तो भी रचना की और कवि की 'करीब करीब सही' पहचान अवश्य सम्भव है और प्राय इस प्रक्रिया मे, सचेत विवेचक या व्याख्याता, रचनाविशेष मे वह सार्थकता, अभिप्राय और अनुभव खोज निकालता है, उसे नये सन्दर्भ दे देता है कि स्वयं कवि चमत्कृत रह जाता है। इसीलिए यह सत्य है कि भावक एक स्वतन्त्र स्रष्टा ही होता है, वह मात्र लेखक और पाठक के मध्य "बिचौलिया" नहीं होता।

ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्व
धी पश्यति श्रान्तिमवन्दन्ती[1]

शान्ति का अनुभव न करने वाली विवेचकों की बुद्धि उच्च आरोहण करते हुए अन्त मे (जिस) अर्थ तत्व को देखती है।

---

[1] अभिनव भारती, अभिनव गुप्त।

हिन्दी में अनुसधान : एक प्रतिक्रिया

अनुसधान का शोध काय सबसे कठिन और सरल काय है। कठिन उनके लिए जो मात्र उपाधि के लिए शोध काय करते हैं और सरल उनके लिए जो केवल उपाधि और तदनन्तर वत्ति के लिए काय करते हैं। एक कक्षा और है। ऐसे शोधार्थी भी हैं जो उपाधि और वृत्ति के लिए ही शोध-काय करते हैं किन्तु उस पूण उत्तरदायित्व के साथ करते हैं।

वतमान स्वरूप—शोध एक पवित्र काय है। ज्ञान की राशि को समद्ध करना ही इसका उद्देश्य है। किसी भी भाषा के प्रारम्भिक विकास-सोपानों म उस भाषा के लेखकों और अनुसधानकर्त्ताओं मे एक सेवाभाव" होता है। इस स्थिति म इन ज्ञान क्षेत्र के स्वयसेवकों को केवल सम्मान मिलता है और अपने काय स सतोष। शिवसिंह मिश्रबन्धु रामचन्द्र शुक्ल प्रभति विद्वानो मे यही प्रवत्ति प्रधान दिखाई पडती है। विश्वविद्यालयों मे हिन्दी के प्रवेश के पूव 'हिन्दी-सेवा' ही लेखकों का उद्देश्य हुआ करता था और हिन्दी सेवा राष्ट्रीयता-आन्दोलन की एक दृढ शृखला थी। पद प्राप्ति या अथलाभ तब नितान्त गौण था। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी युग म या तो लेखक सवहारा थे अथवा धनीमानी सज्जन, जो अपना सात्विक 'धुन' के कारण हिन्दी का काय करते थे। बालकृष्ण भट्ट प्रतापनारायण मिश्र जस लेखक प्रथम श्रेणी म और भारतेन्दु और प्रेमधन दूसरी कोटि म प्रतिष्ठित किए जा सकते है। सस्थाओ म लेखकों को अवश्य वत्ति मिल जाया करती थी और इसीलिए काशी नागरी प्रचारिणी, साहित्य सम्मेलन हिन्दी के आदि गढ बनते गए। किन्तु इन सस्थाओ के प्रारम्भ रूप म जब तक हिन्दी सेवा भाव प्रबल रहा, तब तक शोधकाय अच्छा हुआ। बाद म विश्वविद्यालयो की तरह नौकरशाही मनोवत्ति ने इन सस्थाओ को भी धर दबोचा। फलत इन सस्थाओं मे शोध काय का स्तर गिरा।

बडे बडे नगरों विश्वविद्यालयों म हिन्दी का प्रवेश होते ही हिन्दी सेवा व्यक्तिगत उन्नति का पर्याय बनती गई। यह ऐतिहासिक दृष्टि स ठीक भी था अब हिन्दी का क्षेत्र व्यवसायिक प्रतिद्वद्विता स

लगा। विश्वविद्यालयों और कालेजों में किए गए अनुसधान कार्य के संचालन और निरीक्षण की कोई पूर्व परम्परा हिन्दी में थी नहीं। अन्य विषयों इतिहास, अग्रेजी, संस्कृत, भूगोल, राजनीति तथा विज्ञान विषयों में परम्पराएँ बन चुकी थीं और इन विषयों की अनुसधान-परम्परा और स्तर अतर्राष्ट्रीय परम्परा और स्तर से सम्बद्ध थे। विशेषकर इस देश में हिन्दी के सिवा अन्य विषयों के अनुसधित्सु पश्चिमी योरोप से शिक्षित होकर लौटते थे और अनुसधान का माध्यम अग्रेजी भाषा होने के कारण उनके काम का अतर्राष्ट्रीय प्रचार और परीक्षण होता था या हो सकता था। हिन्दी में अनुसधान की भाषा कतिपय निबधों में अग्रेजी रही किन्तु 'भारतीय विद्या' (इडोलोजी) में यदि हिन्दी को यारोपीय देश स्वीकार कर लेते तो इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में अन्य विषयों की ही तरह हिन्दी का अनुसधान उसी प्रकार होता जैसा संस्कृत और दर्शन के क्षेत्र में हुआ। किन्तु योरोपीय देशों के हिन्दी विभागों में जो अनुसधान हुआ था वह एक तो भाषा और लोकसाहित्य आदि से सम्बन्धित रहा दूसरे 'भारतीय हिन्दी अनुसधान' उनके लिए आदर्श बना। अन्य विषयों में शोधार्थी दूसरे देशों के स्तर को देखता है, हिन्दी के लिए दूसरा देश, भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थाओं को देखते हैं। इस से अवश्य हिन्दी शोधकार्य स्वतत्र रूप में हुआ किन्तु वहाँ भी भाषा सम्बन्धी कार्य अधिक हुआ। तात्विक चिंतन के लिए भारतीय लेखकों को देखा गया। अतएव हिन्दी के लिए विश्वविद्यालयों का मापदण्ड मान लिया गया। हमारे हिन्दी के प्राध्यापकों और अनुसधानकर्ताओं पर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है, यह स्पष्ट है।

क्या इस उत्तरदायित्व को हम निभा पाये हैं? परिमाण की दृष्टि से अर्थशास्त्र और रसायनशास्त्र ही हिन्दी से तुलना कर सकते हैं। शेष विषयों को हिन्दी परिमाण की दृष्टि से पीछे छोड़ चुकी है। हजार से ऊपर अनुसधानकर्ता काम कर रहे हैं और प्रति वर्ष शोधार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है। पी० एच डी० इतने अधिक हैं कि अब एम० ए० और पी० एच डी० ही कालेजों और विश्वविद्यालयों में लेक्चरर नियुक्त किए जाते हैं अगले दस बीस वर्षों में बिना डी० लिट० की उपाधि के शायद कोई लेक्चरर भी नहीं हो सकेगा और उपाधि का पद के साथ सम्बद्ध होना यह बताता है कि आज पी० एच डी० कितनी सस्ती है डी० लिट० की उपाधि आज से कुछ वर्षों बाद उतनी ही सस्ती हो जायगी। कारण क्या है?

सर्वागव्यापी ह्रास—प्राय कहा जाता कि विकास का अवसर मिलते ही विकास झंझावात की तरह होता है और नियमत परिमाणात्मक विकास

प्रथम होता है, तदनन्तर उसमें गुणात्मक विकास होता है किन्तु हिन्दी में, प्रारम्भ में व्यक्तियों में जो श्रम करने का स्वभाव था, वह बराबर कम हुआ है और चिंतन शक्ति का बराबर ह्रास हुआ है क्योंकि शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य वृत्ति प्राप्ति है। अतः जब तक बेकारी की समस्या हल नहीं होती, तब तक अनुसंधान का स्तर इने गिने मनीषियों के शोधकार्य के अतिरिक्त उच्चतर हो नहीं सकता। अतएव शोधकार्य का सम्बन्ध वर्तमान सामाजिक स्थिति के साथ सम्बद्ध है यह तथ्य 'अनुसंधान' पर लिखे गये किसी 'ग्रन्थ' में नहीं मिलता। विश्वविद्यालय न तो बढ़ती हुई आबादी को कम कर सकते हैं और न राजनैतिक, सामाजिक भ्रष्टाचार को ही अनुशासित कर सकते हैं। अवसरवादी वातावरण की सृष्टि का सारा उत्तरदायित्व नेताओं, शासकों और अन्य लोगों पर है छात्रों पर नहीं। अतः अनुसंधान में 'शार्ट कट'', सिफारिश से शोध प्रबंधों की स्वीकृति, खुशामद से उपाधि प्राप्त, आदि प्रवृत्तियाँ बाह्य समाज की प्रतिबिम्ब मात्र है। व्यक्तिगत पूंजी पर आधारित समाज में जनतन्त्र 'दबाव तन्त्र' बन जाता है और ऐसा कोई कार्य नहीं है जो जनतन्त्र में दबाव से न हो सके। इस सर्वव्यापी दबाव से विश्वविद्यालय के अध्यक्ष प्राध्यापक निरीक्षक उपकुलपति, आदि 'विद्वान' हो जाते हैं क्योंकि जनतन्त्र में दबाव से अथवा "सम्बन्धों" से ही उच्चपद प्राप्त हो सकते हैं। देश में अभी तक साहित्य क्षेत्र से सर्वस्वीकृत विद्वानों को, अध्यक्षता 'भेंट' करने की परम्परा बन नहीं पाई है। औपचारिक उपाधियों को अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि औपचारिक पाण्डित्य का ही यहाँ बोलबाला है। जो जिस विधि से जिस वस्तु को प्राप्त करता है उसी विधि से वह बाँटता है,[1]

---

१ अब तो हिंदी में लड़कर पद छीनने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। आज संगठित प्रचार, अफवाहफरोशी और तिकड़मों से, स्थापितों को विस्थापित और विस्थापितों को स्थापित किया जा सकता है। टटपूंजिया वर्ग से आने के कारण अधिकांश लोग महत्वाकांक्षी होते हैं और 'महत्वाकांक्षी का मोती निष्ठुरता की सीप में बन्द रहता है।' इसलिए विद्वान और नादान, चिंतक और निन्दक, आलोचक और वक्रपाठक मर्मी और तिकड़मी, धुरी और घुनियाँ—सब एक भाव बिक रहे हैं। कोई किसी की सुनना नहीं चाहता न पढ़ने लिखने के 'जानकारों' काम को अधिक गम्भीरता से लेना चाहता है। जो लोग अपने विषय के प्रति समर्पित हैं उनकी संख्या कम होती है। आशा का आधार यह है कि इस स्थिति में अब छात्र घृणा करने जा रहा है और

प्रस्तुत करना, द्वितीय प्रतिपाद्य विषय क राजनतिक, सामाजिक स न्दर्भों की गोध। प्रथम म ऋग्वेद स लेकर प्रतिपाद्य युग तक का विहगावलोकन अनक शोध ग्रथो म मिलेगा किन्तु इनम अधिक भूमिकाए उपहासास्पद होती है। यह तो ठीक है कि ऋग्वेद से हमारा साहित्य और समाज का अध्ययन आरम्भ होना चाहिए कि तु भारतीय विद्या' एक कठिन विषय है और इसलिए इस विषय स सम्बन्धित हि दी के अनुसधानकर्त्ताओ का ज्ञान अपर्याप्त होता है। सस्कृत इतिहासवत्ता तथा अन्य व्यक्ति हि दी क शोध ग्रन्थो का इसलिए उपहास करते हैं। द्वितीय भूमिकाएँ अथवा पृष्टभूमियाँ प्रतिपाद्य युग के इति हास स सम्बन्धित होती हैं। हि दी शोध ग्रन्थो म प्रस्तुत इतिहास न इतिहास होता है, न कल्पना। प्राय   शोधार्थी इतिहास को किसी पाठ्यपुस्तक की नकल कर देता है। उस विषय पर विभिन्न इतिहासकारो क ज्ञान के प्रकाश म तथा स्वय अपने ज्ञान क प्रकाश मे वह तथ्यो और प्रवृत्तियों को नही परखता। वह यह भी चिन्ता नहीं करता कि स्वय इतिहास के प्रति अनक धारणाए हैं और इन धारणाओं से परिचित होना उतना ही आवश्यक है, जितना कि युग के साहित्य स परिचित होना। उदाहरण क लिए हि दी क बहुत स 'आचाय' भी यह नहा जानते कि इतिहास क प्रति नियतिवादी वगसघषवादी, सस्कृति वादी धाराणाओ मे अन्तर क्या है ? दूसर देशा क साहित्य सम्ब धी अनु सधानो का स्तर इसीलिए उच्चतर है क्योकि वहा एक साहित्यिक का अ य विषया का ज्ञान भरपूर होता है। प्राचीन और मध्ययुग के साहित्य की शोध और उसकी व्याख्या के लिये इतिहासविद् होना अनिवाय है किन्तु हि दी म जो एक व्याख्या चल पडती है तो वर्षो शोध ग्रन्थो म भी उसकी पुनरावत्ति होती रहती है। यही कारण है कि मध्यकालीन स त वष्णव साहित्य की नवीन व्याख्या उपाधिधारी नही कर सके। प्रगतिवादियो के प्रयत्न स शुक्ल जी के बाद इतिहास के प्रति द्वद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि का प्रचार हुआ कि तु प्रगतिवादियो को छोडकर सामान्य शोधार्थी इसका खण्डन मडन तो दूर इस समझ भी नही पाया। द्वद्वात्मक भौतिकवादी व्याख्या क खडन म 'अमरीकी सम्प्रदाय आया जो इतिहास की वगसघर्षीय व्याख्या तथा भविष्यवाणी वादिता के विरुद्ध इतिहास की व्याख्या म किन्ही सार्वभौमिक नियमो क अनु सधानो को अनतिहासिक काय मानता है। श्री पॉपर की 'पावर्टी आफ हिस्टोरीसिज्म ' नामक पुस्तक इसी प्रकार की है। इस सम्प्रदाय से भी हि दी का परिचय नही है। इसी तरह इग्लैड क प्रसिद्ध विद्वान 'टायनबी'' की इतिहास सम्ब धी धारणाए ध्यान दने योग्य हैं इन सबसे यह पता चलता है

कि किसी युग में साहित्य और समाज का कैसे देखना चाहिए, किन्तु राजपूत काल, भक्तिकाल और रीतिकाल के सम्बन्ध में हिन्दी शोधग्रन्थों में पिष्टपेषण ही मिलेगा। अतः यह द्वितीय इतिहास ज्ञान भी उपहासास्पद होकर रह जाता है। इस क्षेत्र में जो मौलिक काम हुआ है, वह "अनुसंधान" के क्षेत्र के बाहर के व्यक्तियों द्वारा हुआ है। भाषा, अलंकार-परिगणन, छन्द जैसे विषयों पर 'मौलिक' काम हुआ है इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी का अनुसंधित्सु समाज निरपेक्ष और मौलिक चिंतन से इतर कार्य करना सुविधाजनक पाता है। इस चिन्तन-दारिद्र्य को समाप्त करने का एक उपाय यह है कि साहित्य क्षेत्र के स्वीकृत चिंतकों को संस्थाओं में नियुक्त या सम्बद्ध किया जाये, जब तब उन्हें बुलाकर भाषण दिलाने से काम नहीं चलता। यह उपहासास्पद है कि जिनके ज्ञान और चिंतन को उद्धृत करके, नाम उपाधियाँ रखते हैं उन्हें विश्वविद्यालयों में "शोध सेवा" का निर्देशक नहीं बनाया जाता।

व्याख्या सम्बन्धी तीसरा कार्य साहित्य व्याख्या का कार्य है। उदाहरणतः 'स्वयम्भू रामायण का अध्ययन', 'रामचरितमानस का सांस्कृतिक अध्ययन', 'सूरसागर में वात्सल्य रस', 'पद्मावत का काव्य सौष्ठव' आदि आदि। अपभ्रंश और रासो साहित्य की भाषाओं का अध्ययन अच्छा हुआ है किन्तु भाषा समाज के स्वरूप से सम्बन्धित है। इस बिन्दु पर शोध ग्रन्थों में सही विवेचन मिलेगा। साम्प्रतिक अध्ययनों समाज के विकास और स्वरूप के विषय में घोर अज्ञान या अल्पज्ञान की चिंता न करके विवरण देने में पूरी योग्यता आप किसी भी शोध ग्रन्थ में देख सकते हैं। किसी शब्द का किसी काव्य में कितनी बार प्रयोग हुआ है अथवा किसी काव्य में किन पर्वों, आभूषणों आदि का नाम आया है ऐसे विवरण शोध ग्रन्थों में बहुत मिलेंगे। ऐसे ग्रन्थों में साधक का वैचारिक स्तर अतिसामान्य ज्ञान के कारण विवरण सम्प्रथित रूप में नहीं आ पाता। भक्ति के कितने भेद हैं यह सोदाहरण मिल सकता है। किन्तु भक्ति युग क्या आता है वह १६वीं शताब्दी में ही क्यों प्रबल हुआ पहले क्यों नहीं हुआ? भक्ति समाज की किस आकांक्षा को प्रकट करती है ऐसे तात्विक प्रश्नों के उत्तरों से पिष्टपेषण ही मिलता। किसी पुराण का किसी काव्य पर क्या प्रभाव है यह तो सरल कार्य है किन्तु स्वयं पुराण (Myth) क्या है वास्तविकता उसमें किस प्रकार और क्या व्यक्त होती है यह सब शोध से बाहर का विषय समझा जाता है। इसका कारण यह है कि जब तक साहित्य का अध्ययन इतिहास और समाजशास्त्र से असम्बद्ध होगा, तब तक पिष्टपेषण और विवरण ही हाथ आयगा। इतिहास और समाज

गाम्य का अर्थ यह है कि समाज के सम्पूर्ण विकास को समझने का प्रयत्न करना और दर्शन, धर्म साहित्य और कलाओं के आविर्भाव और विकास को समाज के विकास के साथ सम्बद्ध करके देखना।

"शुद्ध साहित्यिक अध्ययन" जैसी कोई वस्तु होती नहीं है। परन्तु साहित्य में समाज के प्रतिबिम्ब का स्वरूप कम समझा जाय इसके लिये समाज के स्वरूप को समझना होगा। जिन शोधप्रबन्धों में रस, अलंकार, छन्द, कल्पना, भाषा आदि का विवरण होता है उन्हें 'शुद्ध साहित्यिक अध्ययन' कह दिया जाता है। किन्तु इन अध्ययनों के विषय में विवाद है। कुछ परीक्षक निरीक्षक और उपाधिदाता आलोचना और शोध में अन्तर नहीं मानते हैं। मान लीजिये 'तुलसीदास के काव्यसौष्ठव' पर आपने एक पुस्तक पूरी सूझ-बूझ और श्रम से लिखी किन्तु 'शोध' यह तभी मानी जायगी, जब इस पर आपको उपाधि मिली हो। अन्यथा 'जनरल बुक' है, कह कर उसकी उपेक्षा की जायगी। इसी विषय पर उपाधि के लिये प्रस्तुत और स्वीकृत प्रबंध में और आपकी पुस्तक की तुलना करने पर, भले ही आपकी पुस्तक में अधिक मौलिकता हो किन्तु आपकी पुस्तक का वह महत्व न होगा क्योंकि एक तो आपने उपाधि न लेने की धृष्टता की दूसरे आपने पुस्तकों की विराट सूची, शब्दानुक्रमणिका वगैरह पुस्तक के साथ नहीं दी, और उद्धरण देते वक्त आपने, उद्धृत पुस्तकों का पूरा वंशविवरण नहीं दिया।

शोध का हर विषय कठिन है यदि उस पर प्राप्त सम्पूर्ण ज्ञान से परिचित होकर मौलिक चिंतन किया जाए। मौलिकता के स्थान पर इधर अनुसंधान प्रक्रिया पर बहुत बल दिया जाने लगा है। मौलिक चिंतन में वह शक्ति है जो ज्ञान के नये आयाम खोलता है, किंतु एम० ए० परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं में जिस प्रकार मौलिकता को अपराध माना जाता है, उसी प्रकार शोध में निर्देशक अथवा परीक्षक अथवा सम्भावित परीक्षकों की दृष्टिकोण के विरुद्ध जाना खतरनाक समझा जाता है।[२] यह कार्य है भी कठिन। अतः अनुसंधान प्रक्रिया पर अधिक बल दिया जाने लगा। अनुसंधान प्रक्रिया में तात्पर्य सिर्फ इतना है कि विषय का प्रतिपादन किस तरह करना चाहिए

---

२ हिन्दी अनुसंधान और अध्यापन में प्रचलित पूर्वाग्रह और पक्षपात' यह एक रोचक शोध विषय हो सकता है लेकिन किस में साहस है जो ऐसा विषय चुने और किसे ऐसा आचार्य है जो इस तरह के अध्ययन का गहरे गहराई और आत्म निरीक्षण करें, वास्तविक उदारता दुर्लभ है।

और किस तरह उद्धरण आदि देना चाहिए किन्तु यह सब बहुत सहज है, साधन है साध्य है चिंतन की मौलिकता और उसी का शोधग्रंथों में अभाव मिलता है। "तसव्वुफ और सूफी मत" चन्द्रबली पाण्डेय का पुस्तक है, शोधग्रंथ नहीं है किन्तु उस पुस्तक में जो अंतर्दृष्टि है ज्ञान है, वह बाद का इसी विषय की पुस्तकों में कहाँ मिलता है ? रामचन्द्र शुक्ल की जायसी की भूमिका अभी तक बेजोड़ है। चन्द्रबली पाण्डेय की केशवदास पुस्तक में लेखक की अंतर्दृष्टि देखते ही बनती है। अन्यत्र वह कहाँ है ? क्यों शोधार्थियों में वह अंतर्दृष्टि नहीं विकसित हो पाती ? कारण यही है कि न तो समाज सापेक्ष चिंतन पर बल दिया जाता है न साहित्य के मर्मोद्घाटन में शोधार्थी को शिक्षित किया जाता है, फलतः साहित्य की व्याख्या विवरणात्मक होती चली जा रही है। भाषा वैज्ञानिक अध्ययनों के लिए तो अभी आवश्यक सुविधाओं का ही अभाव है। और आज का भाषाविज्ञान, साहित्यालोचन के क्षेत्र में भी प्रयुक्त होने लगा है, लेकिन काव्य के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की अभी" शुरुआत भी नहीं हुई है।

इन्हीं भ्रान्त दृष्टिकोणों के कारण हिंदी का अनुसंधान कार्य गुणात्मक दृष्टि से पिछड़ रहा है। इन्हीं भ्रांतियों में एक भ्रांति यह है कि तात्विक चर्चा वाले निबंधों को अनुसंधान न माना जाय। कला क्या है इस विषय पर यदि कोई विचारक मौलिक चिंतन प्रस्तुत करे और उसमें दूसरों के उद्धरण न हों तो वह पोथावादी शोध से अधिक उपयोगी होगा। "पकड़ और पहुँच" का हिन्दी शोध से सम्बन्ध छूटता जा रहा है। काव्यशास्त्र से परे चिंतन आगे बढ़ता नहीं दिखता। काव्यशास्त्र की मनोवैज्ञानिक व्याख्या हुई है इसी तरह सामाजिक या समाजशास्त्रीय व्याख्या भी हो रही है रीतिकाल के आचार्यों के विचार भी सम्मुख आये हैं किन्तु मुख्य बात यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र का आज क्या उपयोग है। इस बिन्दु पर पत्र-पत्रिकाओं में अवश्य चर्चा हुई है 'अनुसंधान' में भारतीय काव्यशास्त्र का स्तवन विवरण आदि ही अधिक हुआ है। हिन्दी के काव्यशास्त्री सिद्धान्तों का विवरण श्रम पूर्वक प्रस्तुत करते हैं लेकिन उनके समकालीन साहित्य में सृजनात्मक प्रयोग के बिन्दु पर मौन रहते हैं अथवा प्राचीन प्रतिमानों को संशोधित किये बिना ही उसके बटखरों में नवीन साहित्य को फिट करने लगते हैं।

शास्त्रीय चर्चा में मग्न जब हिन्दी के दो पंडितों को रसनिष्पत्ति वाले भरतसूत्र की व्याख्या करते हुए पाया जाता है, तब घोर मनोरंजन होता है। यह विचार करने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं है कि कला और काव्यगत मूल्य में क्या इतना ही आवश्यक है कि किसने क्या कहा है ? यह भी बताना

चाहिए कि जो कहा है वह कितना उपयोगी है। और कहाँ तक ? विवरणात्मक अनुसधान से प्राचीन साहित्य और नूतन साहित्य की खाई और भी गहरी हो गई है। और मजा यह है कि संस्कृतों की व्याख्याएँ आज भी हिन्दी के व्याख्याकारों से अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। हिन्दी के अनुसधान कर्त्ताओं का काय यह है कि वे प्राचीन मापदण्डों का आधुनिकीकरण करें। डा० नगेन्द्र ने प्राचीन काव्यशास्त्र को आधुनिक शब्दावली मे कहा है, परन्तु अभी भी प्राचीन का उपयोग क्या और कहाँ तक है यह बताना शेष है। यह काय किसी एक वाद की व्यापकता सिद्ध करने से नहीं हो सकता। इसके लिए समकालीन साहित्य और कला का गम्भीर अध्ययन अपेक्षित है। तत्पश्चात इस साहित्य के विवेचन की प्रक्रिया मे 'वादों की शक्ति और सीमा देखने की आवश्यकता है। यह ट्रैजडी है कि सिद्धान्तों से सुसज्जित आचाय समकालीन साहित्य के विषय म अपने विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करते और यह पूरा क्षेत्र अव्यवस्थित और "आविष्ट" ढंग से सोचने वालों के लिए छोड दिया गया है।

'अतिशय विशेषीकरण हिन्दी अनुसधान की एक अन्य व्याधि है। कारण यह है कि साहित्य एक और अविभाज्य होता है। आधुनिक साहित्य को पढ़कर ही प्राचीन की महत्ता का बोध हो सकता है। इसी तरह प्राचीन साहित्य को पढ़कर ही आधुनिक साहित्य का स्वरूप स्पष्ट होता है। जिस प्रकार क्लासीकल फिजिक्स का ज्ञान बिना क्वाटम थ्योरी सापेक्षता सिद्धात अनिश्चितता सिद्धात आदि नहीं जान जा सकते इसी प्रकार प्रत्यक देश या आधुनिक या नवलेखन उस देश की परम्परा का पुष्प भी है और परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी। अत जिस प्रकार मापदण्डों के निर्माता काव्यशास्त्री या सौन्दयशास्त्री को सब पढ़ना पडता है उसी प्रकार प्राचीन काल के विशेषज्ञों को नवीन का और नवीन युग के अनुसधानकर्त्ताओं को प्राचीन का ममस होना ही चाहिए। अन्यथा विवेचक विभिन्न प्रारूपों (माडल) की तुलना ही नहीं कर सकेगा।

एक और आवश्यकता है हिन्दी के अनुसधान की जहाँ सम्भव हो, वहाँ उसे प्रायोगिक रूप देना होगा। सौन्दय के विश्लेषण म हम पुरानी उक्तियाँ दुहराते हैं परन्तु सुन्दर पदाथ की प्रतीति का एक शरीरीय आधार भी है। क्या विभिन्न पदार्थों को देखकर यह पता लगा लिया गया है कि कोई पदाथ तभी हम सुन्दर लगता है जब उसका हमारे नाड़ी जगत पर अच्छा प्रभाव पडता है ? यह काम प्रयोगशालाओं म ही सम्भव है। सौन्दय को 'आजविव बोध

बहुत माना ही जाता है अतः इस वस्तुगत अंश' के अध्ययन में, प्रयोग हमारी सहायता कर सकते हैं। सब्जेक्टिव' अध्ययन के लिए हम व्यक्ति की अन्य मानसिकता परम्पराओं आदि को देखना होगा। इसी प्रकार कोई काव्य किस परिस्थिति में कैसा लगता है, यह भी अभी तक नहीं देखा गया। साधारणीकरण की परीक्षा भी प्रायोगिक रूप में हो सकती है काव्यशास्त्र तो प्रायः 'चरम रस दशा' का ही वर्णन करते हैं लेकिन कलानुभव में, निश्चय ही तारतम्य रहता है और किस पर, कला का कैसा प्रभाव पड़ता है, जब तक इसका वस्तुगत या प्रायोगिक अध्ययन नहीं होता तब तक साधारणीकरण की प्राचीन धारणाओं का दुहराव, एकांगी प्रयत्न ही रहेगा, उसमें वैज्ञानिकता लाने के लिए, हिन्दी अनुसंधान को 'कार्यपरक' फंक्शनल बनाना होगा और इसके लिए अखिल भारतीय स्तर पर 'शोधनीति एवम् प्रविधि समिति' बनानी होगी।

मैंने जानबूझकर हिन्दी अनुसंधान का गौरवगायन नहीं किया। इससे यह समझना कि मैं निराश हूँ या मैं अपमानजनक दृष्टिकोण अपना रहा हूँ, गलत है। एक सहकर्मी के नाते यह आत्मनिरीक्षण है, इससे हम वास्तविक स्थिति को समझ सकते हैं और हिन्दी के विषय में जो धारणाएँ हमारी असावधानी अथवा अन्य कारणों से बन गई हैं, उन्हें बदल सकने का एकमात्र उपाय यही है कि हम जो कर चुके हैं उससे संतोष न कर लें तभी काम आगे बढ़ सकता है। हिन्दी साहित्य का विदेशों में अनुशीलन हो रहा है। हमारे शोध ग्रंथ भी वहाँ पढ़े जाएँगे। अभी तो विदेशी राजनैतिक कारणों से, प्रशंसात्मक रुख दिखा रहे हैं लेकिन हिन्दी साहित्य को जब कोई ए० बी० कीथ मिलेगा तब क्या होगा इस क्षण के लिए हम तैयार होना चाहिए।

रुचि का सामाजिक अध्ययन

किसी 'तत्व' या 'धारणा' के अध्ययन में अभी तक समाजशास्त्रीय दृष्टि का प्रयोग कम होता है। प्रगतिवादी आलोचना में अवश्य मार्क्सवादी समाजशास्त्र का प्रयोग होता रहा है और अब भी हो रहा है किन्तु नवीनतम समाजशास्त्र में वर्गगत आधार के अतिरिक्त मानव समूह (स्पेशल ग्रुप्स) को अधिक महत्व दिया जाता है विशेषकर कला और साहित्य जैसे क्षेत्रों में, जहाँ अनेक वर्गों के व्यक्ति इन क्षेत्रों में अपना योगदान करते हैं। सामान्यीकरण की दृष्टि से मार्क्स का वर्गवाद समग्रत अभी भी स्वीकृत है पर आवश्यक संशोधनों के साथ। क्योंकि अतिसामान्यीकरण से विशिष्ट की जटिलताओं का गहराई से अध्ययन नहीं हो पाता।

उदाहरणत साहित्य और कला के क्षेत्र में अधिकतर योगदान 'मध्य वर्ग' का रहा है, कबीलाई समाजों में कला का रूप सामूहिक रहता है, यद्यपि इनमें भी 'पुरोहितों' का योगदान अधिक होता है। यह सामान्यीकरण सही है किन्तु 'मध्य वर्ग' में भी तरह-तरह के समूह या गोष्ठी-समूह प्राचीन कला और साहित्य के रक्षण प्रचार, प्रसार, व्याख्या और मूल्य मीमांसा करते हैं, और इनमें कुछ 'नवीन' की सृष्टि करते हैं। अत एक 'सामान्य वर्ग' के भीतर इन गोष्ठियों या 'सहचिंतकों' या सहस्रष्टाओं के स्वरूप का अध्ययन कला-साहित्य के अध्ययन में सहायक होता है। सारांश यह कि नवसमाजशास्त्र साहित्य और कला में बदलती या स्थिर रुचियों का अध्ययन लघु विराट जनसमूहों या संगठनों के आधार पर करता है। वह ऐसी अमूर्त धारणाओं को वैज्ञानिक नहीं मानता कि अमुक रुचि 'युगात्मा' (स्पिरिट आफ द एज) है। क्योंकि समाजशास्त्र के अनुसार शोध करने पर जिसे 'युगात्मा' कहा जाता है, वह किसी एक ग्रुप की आत्मा या रुचि साबित होता है, जिसे 'युगात्मा' कहकर वह ग्रुप व्यापकता देने में कभी सफल और कभी असफल होता है।

प्राय यह देखा जाता है कि किसी अवधि में कोई एक रुचि अन्य रुचियों पर हावी हो जाती है। कभी तुलसी की 'रामायण' ही अधिक रुचती थी, आधुनिक युग में उसका स्थान कथा और काव्य ने ले लिया है। पुराने कवियों को पाठ्यक्रम अथवा पेशेवर आलोचकों और साहित्यिकों को छोड़कर

लोग कम पढ़ते हैं हाँ, सम्प्रदायों में या उनकी धारणाओं से प्रभावित लोग अब भी उन्हें पढ़ते हैं। कभी शेक्सपियर को विद्वान साहित्यिक नहीं पढ़ते थे, किन्तु 'जनता' (साधारण शिक्षित अथवा अशिक्षित जनसमूह) शेक्सपियर के नाटक पर जान देती थी। अब विद्वान् भी शेक्सपियर को पढ़ते हैं किन्तु उन बातों के लिये वे शेक्सपियर को पसन्द नहीं करते, जिनके लिये जनता उसे पसन्द करती थी। १९वीं शताब्दी के पूर्व महिलाएँ यूरोप के उच्च वर्गों में जोर-जोर से कथा (रोमांस) का पाठ करती थीं। इनके सौन्दर्य वर्णन में किताब पढ़ते समय हिलते हुए पतले लाल होंठों की सुन्दरता का भी वर्णन मिलता है किन्तु अब महिलाएँ भी कम से कम पढ़ते समय चुप रहती हैं।

हिन्दी में 'तारसप्तक' के बाद नयी कविता का रोब अधिक रहा है और उसी का 'युगारम्भ' सिद्ध करने के लिये विभिन्न स्थानों में कई 'ग्रुप' प्रयत्नशील रहे हैं। इधर 'छोटी कहानी' ने उपन्यास को हस्तगत कर लिया है, अधिकतर आलोचना या तो कविता को लेकर होती है या कहानी को लेकर और अन्य विधाओं पर उसे लागू कर लिया जाता है ये रुचि के बदले हुए रूप हैं। सन ६० के बाद अब तथाकथित 'नयी कविता' से भी मन ऊबने लगा है अब रुचि 'सामाजिक' हो रही है। स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालय रुचि के रक्षक माने जाते हैं, इनमें प्रायः कालजयी कृतियों का अध्ययन अधिक होता है और उन्हीं के आधार पर सिद्धान्त बनते हैं। इस 'ग्रुप' या समूह को 'प्राचीन रुचिरक्षक' कह सकते हैं। ये लोग नित्य नये के आगमन से चौंकते नहीं, परिपक्व की प्रतीक्षा करते हैं। स्वरूप जब निश्चित हो जाता है तब उसका मूल्यांकन होता है अतः 'नवीन रुचि' के 'ग्रुप' इन प्राचीन रुचिधारकों को 'अध्यापकीय', 'गतानुगतिक', पिछड़ा हुआ, 'परम्परावादी', 'पिष्टपेषित' और 'छायावादी'[1] कहते हैं। नवीन रुचि इसका दूसरा ग्रुप बात प्रस्तुत

१ इसका ताजा उदाहरण है हिन्दी साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत डॉ० नगेन्द्र की रस सिद्धान्त पुस्तक का छायावादियों द्वारा [illegible] किया जाना। अज्ञेय जी और उनके ग्रुप की रुचि तक [illegible] होता यह [illegible] किया जाता कि रस सिद्धान्त आज की कविता का मूल्यांकन कर सकता है डॉ० नगेन्द्र ने रस-सम्पादन का आधार ग्रहण किया है किन्तु यदि उसके पक्ष का [illegible] समाधिक रस सिद्धान्त होता और उसमें गद्यकाव्य कथा-काव्य आदि का [illegible] की जाती और [illegible] का निर्णय हो जाता, तब निर्विवाद [illegible] छायावादियों का आग्रह न [illegible] किन्तु रस सिद्धान्त [illegible] पुस्तक नहीं है वह रस-सम्पादन का प्रथम चरण है।

करती हैं। स्वभावतः मध्यमाप्रतिपदावादी कुछ 'ग्रुप' उत्पन्न हो जाते हैं जो नये और पुराने को इसलिये स्वीकार नहीं करते कि वे नये या पुराने हैं बल्कि वे उन कृतियों या सिद्धान्तों के प्रभाव और दिशा को ध्यान में रखकर सोचते हैं। इस तरह साहित्य और कला के क्षेत्र में रुचियों का संघर्ष उनके प्रवक्ताओं के ग्रुपों को ध्यान में रखकर किया जा सकता है।

प्राचीन और नवीन रुचियों की समसामयिकता के कारण रुचि का वस्तुगत अध्ययन कठिन हो जाता है क्योंकि कोई यह नहीं चाहता कि उसे पिछड़ा हुआ घोषित कर दिया जाय, किन्तु साथ ही 'युगात्मावाद' के आधार पर असंकुल दृष्टि का विकास होता है। उदाहरणतः आज भी गाथिक शैली में चर्चों का निर्माण होता है। कबीगाई चित्रकला से आधुनिक चित्रकला प्रेरणा लेती है सुदूरपूर्व की चीनी जापानी कविता से एजरा पौंड अपना बिम्बवाद विकसित करते हैं। टी० एस० इलियट 'क्लासिकल' कला के समर्थक हैं, आस्था की दृष्टि से पुरानी रूमानियत के किन्तु वे शैली की नवीनता के कारण नयी कविता के मसीहा भी हैं उनकी इस नवीन शैली पर अंग्रेजी के दार्शनिक कवियों का प्रभाव है, जो पुराने हैं। नहरी रुचि नवीनता के लिये गाँवों की ओर देखती है और गाँव नहरों की ओर अतः युगात्मा' की खोज न कर समाजशास्त्री 'सामाजिक समूहों' के कृतित्व को परखते हैं।

किन्तु इस 'ग्रुप' की जाँच-पड़ताल भी सावधानी से होनी चाहिए। १६वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में मध्य वर्ग जागरूक था पर कला-साहित्य को संरक्षण रईस लोग देते थे। भारतवर्ष में मध्य वर्ग ही समग्रतः स्रष्टा और विचारक है किन्तु मध्यवर्ग का चिंतन प्रभावित करने के लिये धनपतियों के संगठित मासिक दैनिक और साप्ताहिक पत्र सर्वदा जागरूक रहते हैं। 'दिनमान' 'धर्मयुग' साप्ताहिक हिन्दुस्तान' 'सारिका', 'नवनीत' आदि पत्रों में 'रूसी' और 'चीनी' रुचियों और 'युगात्माओं' का प्रभुत्व नहीं चल सकता। धनपतियों के पत्र सीधा आक्रमण पूँजीवाद पर कर ही नहीं सकते अतः इन पत्रों के द्वारा 'नवमूल्यों' की चर्चा में समाज की यथास्थिति रक्षा की प्रवृत्ति अन्तर्निहित रहती है। स्वभावतः इन ग्रुपों में बड़ी विविधताएँ हैं परन्तु इनके द्वारा प्रचारित 'रुचियों' से प्रभावित नवयुवकों के ग्रुप "ऊपरी' परिवर्तनों की बात करते हैं। ये रचनाओं में नवीनता के हामी हैं किन्तु सामाजिक रचना में नवीन प्रयोग के लिये तैयार नहीं हैं अतः नयी कविता या नवरथा के प्रवक्ताओं के ग्रुपों का अध्ययन सर्वाङ्गीण अध्ययन के रूप में होना चाहिए। रुचि विशेष अपने भीतर अनेक मतव्यों दृष्टियों और राज

नैतिक सामाजिक विचारों को छिपाये रहती है, 'रुचि को ग्रुप निरपेक्ष' वस्तु नहीं है।

'नयी कविता' और 'नवकथा' के क्षेत्र में प्रगतिवादी ग्रुपों के लेखक भी हैं इनका नवीनतावाद केवल शैलीगत होता है। वस्तुगत दृष्टि से प्रगतिशील लेखक, सांचे के परिवर्तन पर ध्यान केंद्रित करता है। नागार्जुन, यशपाल आदि लेखकों में यशपाल आज पुराने हैं, नागार्जुन नये भी पुराने भी, मुक्तिबोध नये, शमशेर नये, केदार नये।[1] किन्तु जब तक इन्हें—क्रांतिकारी ग्रुप के सन्दर्भ में नहीं परखा जाता, तब तक इनकी नवीनता या प्राचीनता की 'दिशा' निश्चित नहीं हो सकती और साथ ही 'रचना प्रक्रिया' भी स्पष्ट नहीं हो सकती क्योंकि 'प्रक्रिया' प्रयोजन से प्रभावित होती है। यदि कोई नया लेखक कहता है कि उसकी रचना का कोई प्रयोजन नहीं है तो उसका प्रयोजन या तो यह है कि वह प्रचलित प्रयोजनों का विरोधी है या किसी क्रांतिकारी प्रयोजन की तीव्रता को वह मंद करना चाहता है अथवा वह शून्यवादी है। इधर ऐसा 'शून्यवाद' काफी बढ़ा है सन ६० के आसपास के कुछ कथाकार प्राय अपने को अप्रतिबद्ध, 'नापसन्द आदि कहते रहे हैं,[2] यह निषेधवादी दर्शन की स्वीकृत शब्दावली है। निषेधवाद (निहिलिज्म, 'पुराना'' दर्शन है और अक्सर 'क्वीस' की दशा में, अपना प्रभाव बढ़ा लेता है,) व अहंवाद' इसका फल है। इसमें भी इस 'ग्रुप' के कई प्रयोजन हैं—(१) समाज की जड़ता के विरुद्ध आक्रोश प्रकट करना (२) नवीनतम प्रयोगों की स्वीकृति कराने के लिए विचित्र रस अपनाना, (३) नवीनों में नवीनतर बनने के लिये सन ६० के पूर्व के लेखकों से अपने को अलग करना, (४) पूर्व लेखकों की कुछ कमजोरियाँ छोड़ना, कुछ अपनाये रहना और कुछ नयी बुराइयाँ पालना और उनमें मजा लेना आदि।

आधुनिक युग में लेखक या कवि राजा रईसों पर निर्भर नहीं है। वह या तो संस्थाओं पर निर्भर है या पत्र-पत्रिकाओं या प्रकाशन गृहों पर। यहीं भी द्रष्टव्य यह है कि संस्थाओं पर निर्भर व्यक्तियों में पुरानापन अधिक माना जाता है क्योंकि संस्थाओं (विश्वविद्यालय कॉलेज, स्कूल सभायें आदि) के व्यक्तियों को संस्थागत मर्यादाओं के भीतर काम करना पड़ता है अत हिन्दी में पत्रकार 'अतिशय नवीनतावादी' माने जाते हैं। कई 'अध्यापक' संस्थाओं

१ अब ये भी "नयों में पुराने" घोषित हो चुके हैं।

२ द्रष्टव्य—'ज्ञानोदय' में कलकत्ता में हुई कथा-गोष्ठी का विवरण, फरवरी अंक, १९६६ ई०।

को छोड कर पेशा मे गये हैं और उनकी अभिव्यक्ति अध्यापकीय होने पर भी, वह डाट से कहते हैं कि वे 'नवीन' हैं, क्योंकि वे 'अध्यापक' नहीं हैं ! कुछ अध्यापक अपने ऊपर बहुत लज्जित रहते हैं वे घूमघूम कर मुनादी करते फिरते हैं कि वे-इस सड़े पेशे को छोड रहे हैं लेकिन छोड़ते नहीं हैं ! ऐसे लोगो का ख्याल है कि काश ! वे अध्यापक न होते तो वे या करते, यों बनते लेकिन किताब कोर्स मे लगवाने के लिए, किताब का समर्पण किसी बड़े अध्यापक को ही करते हैं ! उनसे कहा जाए कि चिन्तक को विचार के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है और यह कि अधिकतर नवीन लेखक शिक्षक ही हुए हैं तो आह भर कर चुप रह जाते हैं !

पत्र पत्रिकाओं में स्थानान्तरण से भी ग्रुप'-परिवर्तन होते हैं, 'रुचि बदल जाती है 'कृति' के श्रीकान्त वर्मा और 'दिनमान' के श्रीकान्त वर्मा में फर्क है क्योंकि 'कृति' मे प्रवर ग्रुप का स्वरूप दिनमान-ग्रुप से भिन्न था। कुछ लेखक इधर प्रकाशक बन गये हैं प्रकाशक बनने से पूर्व उनकी रुचि कुछ और थी अब और है सामाजिक सम्बन्धों में भी रुचि परिवर्तन को इसी सन्दर्भ को ध्यान मे रख कर देखा जा सकता है।

ग्रुप-नेता की राजनीतिक, सामाजिक और कलागत रुचियों और विचारों से पूरा ग्रुप प्रभावित होता है। संस्थाओं के लेखकों पर भी संस्थाओं से बाहर के ग्रुपों का प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रत्येक ग्रुप अपने सत्य और 'रुचि' को 'युग-सत्य' और 'प्रतिनिधि रुचि' कह कर प्रचार करता है। इनमे जिसके पास अधिक प्रकाशन-साधन हैं, वह उतना ही अधिक कामयाब होता है बशर्ते कि वह दूकानदार की तरह यह कहता रहे कि उसी के पास सबसे ताजी (लेटेस्ट) चीज है ! इस तरह नवतावादियों में व्यापार के नियम अधिक स्पष्टता के साथ देखे जा सकते हैं। प्रारम्भ मे यह दूकानदारी बहुत सहायक होती है क्योंकि ध्यानाकर्षण के लिए साहित्य मे व्यापारीवृत्ति का प्रयोग कारगर साबित होता है। यदि उस ग्रुप में प्रतिभा हुई तो वह सचमुच अपनी उपलब्धियों से रुचि परिवर्तन कर देता है अन्यथा कोई अधिक 'प्रतिभाशाली ग्रुप' जनता के ध्यान पर बाजी मार ले जाता है। इस 'ध्यानाकर्षवाद' से इधर हिन्दी मे इतनी आपाधापी, तूफानएन्टनमीजी और चीख-पुकार हुई है कि साधारण व्यक्ति सोचने लगता है कि अन्तत ये सब लोग क्या कह रहे हैं ? रुचि के समाजशास्त्र के एक प्रसिद्ध लेखक के ये शब्द उद्धृत करने योग्य है आज कला की धारणा बकवास तक आ पहुँची है। प्रतिभा —इस शब्द मे जो अभिप्राय छिपे थे वे

विखर कर इधर उधर गिर गये हैं। सजनात्मक लेखक प्रत्येक दशा में अपनी रचना की, अपनी रुचि की स्वीकृति चाहता है। यह रुचि की तानाशाही है। इसके अनुसार हमें प्रत्येक अभिव्यक्ति को स्वीकार कर लेना चाहिए, हर उस लेखक को, जो अपने को कलाकार कहता है। इस दृष्टि के वकील अपने उक्त विचार को इस परस्परविरोधी स्थिति तक ले जाते हैं कि साधारण व्यक्ति को कलाकार की शानदार उपस्थिति में चुपचाप सुनना चाहिए और जब तक कलाकार न कहे, चुप रहना चाहिए। यदि कलाकार अपने को व्यक्त न करे, श्रोता को चुपचाप चले जाना चाहिए, इस तरह 'रुचि' के नये शाहंशाही के गर्वीले अधिकार और वक्त्य सामने आ रहे हैं।[1]

शूकिंग का कथन है कि बुर्जुआ युग में प्रथम बार लेखकों ने अपनी असफलता को क्रमशः के मत्थे मढ़ना सीखा। वस्तुत सृजन के लिए आत्म विश्वास अनिवार्य है और असफलता स्वीकृति से उस आत्म विश्वास की हानि होती है। इस तरह श्रोताओं और पाठकों की नासमझी या शरारत का दोष देकर लेखक इस सन्देह से बच जाता है कि वह सफल हो रहा है या असफल। यूरोप के कुछ देशों में तो यह प्रवृत्ति १७वीं शताब्दी में ही बन्द नहीं थी कि लेखक एक आदर्श पाठक को ध्यान में रख कर लिखे सर्वसाधारण (शिक्षित सर्वसाधारण) को नहीं। परिणामतः लेखक केवल अपनी 'रुचि' से ही प्रेरित होने लगा। कभी 'उस्ताद' या रईस रचना सुधार दिया करते थे पोप और और वाल्तेयर जैसे लेखकों का भी यह अपमान सहना पड़ता था अब लेखक 'परम स्वतन्त्र' है सौन्दर्यवाद या कलावाद या रूपवाद के जन्म का यही कारण था। 'भीड़ से बचो' यह एक व्यसन की तरह प्रचलित होता गया।

यह समझना गलत है आज का लेखक जनता की कमायी पर आश्रित नहीं है जनता को मुख्य द्वार से निकाल बाहर करना और पीछे के द्वार से उसे घर में प्रवेश देना यह अत्याधुनिक प्रवृत्ति है।

क्योंकि ग्राह्य वास्तविक परिस्थिति से कुछ 'युग' प्रेरणा नहीं लेते अतः कलाकार भीतरी उत्साह को व्यक्त नहीं कर पाते इसीलिए 'सह+अनुभूति' रखने वाले दोस्तों की जरूरत पड़ती है, 'मठवाद' का यह भी एक कारण है। सहकर्मी या सहानुभूतिकर्ता की आलोचना ही सत्य हो पाती है अतः आज के सृजन में 'शास्त्रीय या सिद्धान्तवादी' आलोचक में वितृष्णा

---

१ द सोश्योलोजी आफ लिटररी टेस्ट एल० एल० शूकिंग, लन्दन तृतीय संस्करण १९५० ई०, पृ० ५८।

अनिवार्य हो गयी है। यदि सहधर्मिया के एक 'ग्रुप' नहीं बन पाते तो सृजन का विकास रुक जाता है। हिन्दी के पिछले कुछ वर्षों का सृजन इन्हीं 'ग्रुपों' के बनने-बिगड़ने का इतिहास है गुटबन्दी के बिना 'रुचिबन्दी' असम्भव हो गयी है।

आज आलोचक वह है जो किसी ग्रुप' का प्रवक्ता है अन्यथा वह 'अध्यापक' है !! इसमें सन्देह नहीं कि किसी ग्रुप' की 'रुचि' विशेष को जनता' तक ले जाने में इन आलोचकों का महत्वपूर्ण योगदान है किन्तु ऐसी आलोचना सीमित संकीर्ण और सफाजों पर अधिक आधारित होती है। परिप्रेक्ष्य का बार-बार जिक्र करने पर भी सम्पूर्ण सृजनेतिहास से वह अलग पड़ जाता है। एक शब्द में वह यथार्थिक आलोचना' नहीं होती। कभी कभी ऐसा भी होता है कि आलोचक स्रष्टाओं के ऊपर छा जाता है, उसी तरह जिस तरह मध्य युग में पुरोहित, गुरु और बन्दी—दोनों पर छाया रहा। शूकिंग के अनुसार जर्मनी में आलोचक नाटककार के ऊपर हावी है। जनता को, ग्रुप चेतना व आलोचकों द्वारा नासमझ मान लिया गया है।

यह सत्य है कि 'नया' लेखक पुरानी रुचि से विद्रोह कर नवीन रुचि गढ़ता है और वह रुचि 'जनप्रिय' बन जाता है किन्तु इधर जन प्रियता के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हो रहे हैं उनसे यह साबित होता है कि रुचि विशेष की अपनी श्रेष्ठता के स्थान पर मित्रों का प्रचार अधिक कारगर हुआ है। ये मित्र रुचिरक्षक मित्र टेस्ट होल्डिंग) होते हैं और अनुकरण की विधि पर प्रसिद्धि होती चली जाती है। बार बार एक ही चीज सामने आने पर यों भी उसके प्रति पसंदगी जाग्रत हो जाती है और रुचि' बदल जाती है। मैक्स लिबरमन का एक कथन शूकिंग ने उद्धृत किया है कि इस चित्र को मेरे सामने से हटाओ अन्यथा मैं इसे पसन्द करने लगूँगा !![१]

प्रश्न होगा कि ग्रुपों के अध्ययन से रचना के आन्तरिक सांस्कृतिक मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि जो एक 'ग्रुप' की चित्तवृत्ति रुचि विचार और संवेदनाएँ हैं उन्हें हर्गिज सभी जनता की चेतना नहीं माना जा सकता। साहित्य के अध्ययन में यह भूल प्रारम्भ से ही होती आयी है पंडित रामचन्द्र शुक्ल जिसे जनता की चित्तवृत्ति कहकर स्वीकारते हैं वह किसी एक ग्रुप या कुछ ग्रुपों की चित्तवृत्ति थी अतः

१ टेक द पिक्चर अवे आर आई शल बिगिन टु लाइक इट, वही पृ० ६१।

'सामान्य प्रविधि' (जनरल मथोडालौजी) के रूप म 'ग्रुप' को 'जनता' के रूप म पेश करना एकांगी और भ्रांत प्रविधि है।

कला मे उत्तराधिकार नहीं होता। यदि एक छोटा 'ग्रुप एक नया आदश अपनाता है, इसका यह अथ नहीं कि अन्य सब उसके अनुगामी हैं।[२]

यह अवश्य स्वीकाय हो सकता है कि अपनी 'रुचि' को जमाने की रुचि कहने से बहुत बार अच्छा सजन प्राप्त होता है। यही नही नवतावाद म एक 'नवयौवन' या ताजगी भी होती है और यह भी कि इन्ही ग्रुपो म व 'ग्रुप भी होते हैं, जिनकी 'रुचि' इतनी अतिवादिनी नहा होती, जसी कि आज की उग्र पीढ़ियो मे दिखायी पडता है। इनके आदश और सवेग सवसाधारण के विपरीत नही होते, हाँ कलागत उच्चता गहराई और नवीनता अवश्य होती है। ऐसे 'ग्रुप' जगल की आग की तरह जनता मे फलते है और समाज के बहुत बडे भाग को दिशा देते हैं या सवेदना सशोधन करत हैं। ऐसे ग्रुपो से 'कालजयी कृतियाँ भी प्राप्त हो सकती हैं। कलागत प्रतियोगिता मे वही 'ग्रुप' या 'ग्रुप का कोई कलाकार प्रतिनिधि कलाकार बनता है जो अधिकाधिक और विविध मानव समूह की सह अनुभूति प्राप्त करता ह अ यथा साधारण या मध्य श्रेणी की कुछ कृतिया दयर ग्रुप' पिछड जाता है। पिछले बीस पच्चीस वर्षों म यही ग्रुप प्रक्रिया कायरत रही है, स्पष्टत सभी रच नाओ से एक अच्छा सकलन तयार किया जा सकता है। किंतु महान' और 'कालजयी कृति या कृतियाँ कौन सी हैं इसका निणय आज की रुचि नही कर सकती 'कल' की 'रुचि करेगी, 'कल का वह मानव समूह निणय करेगा, जिसम आज की वरेण्य कृतियाँ सस्कार बन कर ढल जायगी। तुलसी, सूर प्रसाद शक्सपियर दाते आदि के साथ केवल उन्ही कलाकारों को क्लासिक सज्ञा प्राप्त होगी।

---

२ वही, पृ० ५६।

अकविता . एक अनिबन्ध

"अकविता' की धारणा विवादास्पद हो गई है लेकिन विवादियों सवालियों के तर्कजाल से, अलग हट कर सोचा जाए तो 'अकविता' उस कविता को कह सकते हैं जो कविता प्रतीत न हो। कविता हो लेकिन कविता की तरह न लगे—यह विरोधी कथन सा है लेकिन 'कविता" नाम से प्रसिद्ध अधिकतर रचनाओं में काव्यभाषा (पोयटिक डिक्शन) का प्रयोग होता आया है। यह काव्यभाषा, किसी बोली या भाषा का परिनिष्ठित-परिष्कृत रूप होती है। इस बनी-सँवरी या बनी ठनी भाषा में शब्दों को 'ठेठपन' से दूर किया जाता है उन्हें रतकर या "रिन्द' कर चिकनाकर इस्तेमाल में लाया जाता है। इस प्रक्रिया से गुजर कर शब्द, उच्चवर्गीय सांस्कृतिक स्पंदन देने लगते हैं उनमें गरिमा, शिष्टता और महिमा आ जाती है। स्वभावतः इस प्रकार की काव्यभाषा का रुख दैनिक ठोस जीवन नहीं शब्दकोषों की ओर हो जाता है। संस्कृत भाषा का सम्पूर्ण साहित्य इसी काव्यभाषा में लिखा गया है। उसके समानान्तर, 'अकविता' का रूप प्राकृतों-अपभ्रंशों के मुक्तकों में पाया जाता है लेकिन वहीं जहां कवि ठेठ बोला के शब्द प्रयुक्त करते हैं।

आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्यकालीन रूप में उक्त दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। सूर तुलसी और अन्य वैष्णवों की कविता में, समस्त संस्कृत परम्परा का प्रयोग अधिक हुआ है। मसलन जायसी की अवधी में 'ठेठपन' अधिक है तुलसी में ठेठपन है पर वह सांस्कृतिक बोझ के नीचे दबा हुआ है। कृष्णभक्त कवियों में ब्रजभाषा का ठेठ रूप है लेकिन सूर के रूप वर्णन दार्शनिक प्रसंग, प्रकृति वर्णन आदि में परिनिष्ठित शब्दावली खुलकर प्रयुक्त हुई है। इसके विपरीत कबीर की भाषा में अकविता की प्रवृत्ति मिलती है—

लिखा पढ़ी की है नहीं देखादेखी बात
दूल्हा दुल्हिन मिल गए फीकी परी बरात।
का घूंघट पायल झमकाएँ, कहा भया बिछुआ ठमकायें।
हाँकहि धावहि जनम गवाव
कबहूँ न रोक, चरन चितलाव

कविता में कवि शब्द गढ़ने छीलने छालने, रगने सवारने पर ध्यान देता है, अकविता में कवि आम आदमी द्वारा प्रयुक्त शब्दों को सुनता है, उनको एक नया विन्यास देता है, क्रम में रखता है और अपने विशेष अभिप्राय के लिए, अकृत्रिम शब्दावली को इस तरह अपनाता है कि संदर्भ के कारण उनमें नया अर्थ आजाता है। रोज ब रोज के इस्तमाल में शब्दों के साथ जो भावनाएँ कल्पनाएँ और संस्कार लिपट जाते हैं, वे कवि द्वारा प्रयुक्त शब्दों के साथ ही बने रहते हैं लेकिन नए अर्थों संकेतों और मुद्राओं के कारण, ठेठ शब्द अनगढ़ पत्थर न रहकर अनगढ़ हीरे बन जाते हैं—कबीर इस कला के सर्वोत्तम कवि थे और चूंकि वे निरक्षर थे इसलिए उन्हें कविता से अकविता की ओर बढ़ने के लिए बनावटी कोशिशें नहीं करनी पड़ीं, उनके व्यक्तित्व के माध्यम से कविता स्वयं अकविता बन कर निकल पड़ती थी।

वस्तुतः यह कोशिश हिन्दी के प्रथम कवि सरहपा में दिखाई पड़ती है। सिद्ध यक्ति साधारण शब्द में, गूढ़ गुंजें भरते हैं। परिचित का रहस्यमय बना देना सिद्धों के लिए मामूली बात थी जबकि संस्कृत के साहित्य में शब्दों के तमाशे प्रस्तुत किए जा रहे थे। यमक और श्लेष के जादू और बौद्धिक खींचतान के समानान्तर अगर सिद्धों नाथों और सन्तों (कबीर दादू नानक) की 'अकविता' को आप गौर से देखें तो आपको यह लगेगा कि शास्त्रविरोधी विद्रोही कवि एक नवीन प्रकार की कविता का आविष्कार कर रहे थे।

सूर तुलसी संस्कृत के आचार्यों के प्रभाव में थे लेकिन कबीर हिन्दू मुस्लिम पौरोहित्य के समूचे संस्कारों के ही विरोधी थे क्योंकि पौरोहित्य—"विच्छेद" या 'अलगाव' का कारण था और उससे ऊँच-नीच के भाव पर आधारित समाज का समर्थन होता था। परम्परा और भारतीयता (हिन्दू संस्कृति) के विश्वासी व्यक्ति इसीलिए सन्त कवियों को कविता-कला की दृष्टि में घटिया मानते हैं हिन्दू विश्वबोध के कारण ही रामचन्द्र शुक्ल नन्ददुलारे बाजपेयी वगैरह आचार्य यह नहीं देख सके कि विद्रोहियों की तोड़फोड़ अथवा परिनिष्ठित शिष्ट परम्परा के विरोध की प्रक्रिया में सरहपा गोरखनाथ और कबीर, एक विशेष प्रकार की कला को जन्म दे रहे थे।

वास्तविकता तो यह है कि कवीन कला भी तो 'सयत्नज' और कभी 'अयत्नज' रूप में विकसित होती है। सूर-तुलसी सचेत कलाकार थे उन्होंने सजी सँवरी कला का नितान्त अभ्यास किया था रीतिकाल की ताजमहली नक्काशी की नींव में भक्त कवियों की संस्कारिता थी लेकिन सिद्ध सन्तों की बागी जमातों में, एक दूसरे प्रकार की कला विकसित हुई। इस पुनर्मूल्यांकन

से भी समझा जा सकता है। काठ को काटने वाला "घुन" पट करता है, कला का अभ्यास नहीं करता लेकिन घुन खाया हुआ काठ एक कलाकृति बन जाता है। कभी-कभी उसमें अक्षर भी लिख जाते हैं तस्वीरें सी अंकित हो जाती हैं। सिद्ध और नाथ योगी, अपनी बात कहते हैं—लेकिन बात अनजान अकविता बन जाती है। इस रहस्य का कारण यह है कि सिद्धों-नाथों-सन्तों के पास परिवेश की विसंगतियों के प्रति नफरत के भाव थे, मदन थे, और आलोचना था। इस कथ्य या 'कन्टेन्ट' की शक्ति के कारण साधारण शब्द, कुछ और ही गरिमा पा जाते हैं—

—कबीर

"बागड़ देस लुअन का घर है"

ये शब्द रोज व रोजी शब्द हैं लेकिन प्रतीयमान जीवन को देखकर मनुष्य की आंतरिक वेदना को कबीर समझते थे। हर कोई इस भीतरी घबरा हट से मुक्त होने के लिए लूकपटों का सामना नहीं कर सकता वह तो मालवा जाना चाहता है जहां डग डग रोटी पग पग नीर' है लेकिन बागड़ देस की लूकपट का सामना किए बिना भला जीवन के रहस्यों का पता कैसे लग सकता है?

बागड़ देस लुअन का घर है
तहां जिनि जाइ दाझन का डर है
देस मालवा गहर गंभीर
डग डग रोटी, पग पग नीर!

इस प्रकार की अकविता एक अचानक चमक (फ्लैश) के साथ साधारण को गंभीर बना देती है बाहरी छूट जाता है भीतरीपन खुलने लगता है—सच्चाइयां और साहचर्यों (असोसिएशन्स) का खजाना खुल हो जाता है और श्रोता अनुचिंतन में डूब डूब जाने लगता है। 'सन्तो' कहे जाने वाले सन्तों की 'अकविता' की यही विशेषता है। इसमें गंभीर उलझे हुए अरूपों अहमासों को सहज ही कह जाने की सिफत होती है इसे सुनकर आदमी सिर नहीं धुनता न छाती पीटता है बस अपने में गोता लगाना शुरू कर देता है जुगाली करने लगता है और जितना ही सोचता है उतना ही वह महसूस करता है कि पढ़े लिखे लोग इस बात को इतने बेलाग और सहज ढंग से कह ही नहीं सकते थे।

इसीलिए मध्यकालीन 'अकविता' सीखने में नहीं आती, न वह किताबी दौर से गुजरने पर ही आ सकती है वह तो जिन्दगी के सीधे साक्षात्कार

और फिर उसकी "जुगाली" (Brooding) के बाद, आम बातचीत की सम्भावनाओं की खोज से आती है जिसे कोई काव्यशास्त्री नहीं सिखा सकता —

"सीस उतार भुइ धर, सो पैठे येहि माँहि,
कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाँहि।"

इसी पुरानी कविता और तजुर्बे की अन्तहीन लड़ाई या पंडित और औघड़ या आचार्य और 'मरमी' की लागडाँट का एक नवीन रूप आधुनिक अकविता का आन्दोलन है।

अकविता मूलतः 'नयी कविता' के 'कथ्य' और रूप की एकसरसता के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। नयी कविता यों तो छायावाद की 'काव्यभाषा' और उसके भावुकी रोमानी दृष्टिकोण का विरोध करती रही है लेकिन एक डेढ़ दशक के विकास में ही उसका रूप स्थिर होने लगा था। दूसरे वह 'नयी' कहला कर भी इस विषय में पुरानी ही थी कि वह 'काव्यभाषा' का ही का प्रयोग करती थी। इसके सिवा 'कथ्य की दृष्टि से, 'नयी कविता', कुछ कवियों को छोड़ कर "व्यक्ति" को इतना अधिक महत्व देकर चली कि व्यक्ति सत्य और समूहसत्य परस्पर विरोधी कोटियों में विभाजित से प्रतीत होने लगे। अज्ञेय, भारती, जगदीश गुप्त, शाही वगैरह की कविताओं में, जीवन की वास्तविकताओं का यथार्थ रूप नहीं है, वहाँ तो वह रोमानी है कहीं अस्तित्ववादी है और कहीं मात्र सौन्दर्यवादी। उसमें अनिर्णय, अवसाद, कुंठा, आत्मरति और अन्तर्द्वन्द्व का विश्लेषण अधिक है। सामाजिक स्थितियों के प्रति उसमें भय और अनास्था का स्वर है। अपने ही भीतर में रहकर गुनगुनाते रहने की प्रवृत्ति से नयी कविता का यह अंश अनमना होकर वास्तविकताओं को लिए स्व के गर्भ में ही रमता है। उसमें अपने अहं के वृत्त का अतिक्रमण करके [illegible] इमारतों की नियति का व्यापक चिन्तन नहीं है। नयी कविता एक अपने बनाए घेरे में क्रमशः घिरती गई और इस अवस्था को तोड़ने की अनेक कोशिशों में एक कोशिश का नाम है — अकविता।[1]

अकविता एन्टी-पोयट्री का अनुवाद प्रतीत होता है लेकिन डॉ० श्याम परमार की राय यह है कि हिन्दी कविता में उभरते हुए नये [illegible]

---

१ अकविता और कला सन्दर्भ —डा० श्यामपरमार

ऐसी ही पत्तियाँ हर साल निकलती हैं
हर साल ऐसे ही गुल खिलते हैं
हर साल अफवाह होती है कि बसन्त आ गया है।
कभी कभी तो सचमुच लगता है, आगया है।
लेकिन अजीब बात है कि हर बार एक जैसा ही होता है।
हर बार जहाँ जो खिलता आया है वही खिलता है।
कोई खिलने से इन्कार नहीं करता।
यहाँ, कुछ भी नहीं अप्रत्याशित
सब के सब उद्धरण बनने को लालायित।
लाचारियों का गवाह हैं
क्या अन्तर पड़ता है, कोई खिले या विगत हो।
यह सब जो है या हो हैं।
क्या अन्तर पड़ता है अगर पाम बड़ा चमत्कारी हो या कुगत हो।
न कोई शरारत है न बदला है।
मजबूरियों का एक अन्तहीन सिलसिला है।
न चुनना है, न चुकना है
चुपचाप तकना है चुप चाप।
रितुराज हो या अन्य कोई और राज।[1]

यहाँ 'स्व' और 'पर' में कोई भेदक दीवार नहीं है। परिवेश सकट को, समझा ही नहीं गया है सहा भी गया है और बाहर की विसगति को सहते सहते लेखक के मन में इतनी गहरी नफरत भर गई है कि वह सीधे सीधे गुस्सा को जाहिर न कर एक अजीब थके हुए तटस्थ स्वर में कहता है यह पुरमजाक असम्पृक्ति, तनस्पर्शी तीव्रता से उत्पन्न होती है यह रोमान और व्यक्तिवादिनी नहीं है न यह अस्तित्ववाद से ही ग्रस्त है। लगता है अकवि"—किसी तूफान के इन्तजार में है। इसलिए उसके पास कौन है, दूर कौन है इन सब बातों की तरफ उसका ध्यान नहीं है यथार्थ का उस पर एक दबाव सा है और उस दबाव में वह 'गम्भीर" और हास्यास्पद" को मिलाने की कोशिश करता है यह एक भुगते हुए" का आत्मालाप है, जो

१ बसन्त दीपक एक अकविता

अ उमु क्तता का वास्तविकता के बाहरी भोतरी रूपो के साथ एक करने की कोशिश में है।

इस 'अकविता' में "अन्तद्वन्द्व" भी है लेकिन वह नयी कविता के व्यक्तिवादी 'अन्तद्वन्द्व' से भिन्न प्रकृति का अन्तद्वन्द्व है। उसमे सामाजिकता प्रतिच्छन्न नहीं है, उसकी असगतियों को दूर करने की प्यास है। श्याम परमार का कहना है कि अकविता की बौद्धिकता, अधिक प्रौढ़ और निर्मम है। नयी कविता का बौद्धिकता, विचारों की बौद्धिकता थी, इसलिए नयी कविता में कल्पनाप्रियता, रोमान और वचित्र्यप्रियता अधिक थी। अकविता सभी तरह के दिखावे के खिलाफ है। वह बेलौस और निर्मम मन स्थितियों की कविता है। "अकवि न जमने की चिन्ता करता है, न उखड़ने की। वह न कवियश प्रार्थी है न सामाजिक-सम्मान का उम्मीदवार। वह नये कवि की तरह अनिर्णय का भी शिकार नहीं है।"[१]

यहा तक तो सहमति हो ही सकती है लेकिन श्याम परमार सरकारी अफसर हैं—इसलिए 'विचारधारा' के प्रश्न पर वह भी नयी कविता के "कृतावादियो' जैसा रुख अपनाते हैं। श्याम परमार जगदीश चतुर्वेदी वगरह किसी भी विचारधारा को स्वीकार नहीं करना चाहते। वे तो निरुद्देश प्रतिक्रिया को व्यक्त करने मे अकविता की सार्थकता मानते हैं।

नयी कविता भावुकता से पूरी तरह पीछा नहीं छुड़ा सकी और भावुकता असलियत को नंगा करके पेश नहीं कर सकती। इसलिए अकविता में एक 'औघडी निराकुलता' मिलती है जो विकृतियों पर सीधी चोट करती है और गन्दगी को गन्दे समझे जाने वाले शब्दों मे भी कह सकती है। औपचारिक स्तर पर औपचारिक भाषा काम देती है लेकिन आम जनता में प्राय वर्जित या निषिद्ध शब्दों के प्रयोग से सीधे मर्म पर चोट की जाती है "जो तू बाँभन बँभनी का जाया आन बाट ह्वै क्यों नहीं आया"—यह आत्मरक्षात्मक युद्ध शैली आम आदमी की है। यहाँ 'बनावट' और 'बुनावट' और 'संघटना" की चिंता नहीं की जाती। कुत्सित के अनावरण के प्रयत्न में स्वयं ही एक विशिष्ट "बुनावट" अकविता में आ जाती है। सतीश जमाली के 'एक और नगा आदमी' में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है लेकिन इस संग्रह में बहुत सी बचकानी अकविताएँ भी हैं।

---

१. अकविता और कला सन्दर्भ

लेकिन सभी विचारधाराओं के प्रति अपनी अस्वीकृति का क्या कारण है ? श्याम परमार के लेखन में कोई विचारधारा निहित है ?

ऐसा लगता है कि श्याम परमार के मन पर जीवन की व्यथता और विसंगतियों का आतंक आवश्यकता से कहीं अधिक है। उनके अनुसार मनुष्य भटकाव के रास्ते से गुजर रहा है। स्पेंगलर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक—"पश्चिम के ह्रास" में कल्पना की है कि पश्चिमी संस्कृति उस "हिमबिन्दु" को छू रही है जहाँ हर चीज जड़ हो जाती हैं। श्याम परमार इस "ह्रासवाद" से पीड़ित प्रतीत होते हैं। उनके अनुसार उक्त स्थिति में हर एक व्यक्ति दुनिया से बदला लेने लगता है। आशाप्रद स्थितियों से नफरत होने लगती है। अतः श्याम परमार 'अकविता' को टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैण्ड' का आगामी चरण सिद्ध करते हैं।[1]

यहाँ श्याम परमार का मध्यवर्गीय शंकालु मन प्रकट होता है। श्याम परमार जिसे "पश्चिम का पतन" कहते हैं वह वहाँ की "पूँजीवादी सभ्यता" का पतन है आम जनता वहाँ भी ह्रासशील शोषक वर्गों के विरुद्ध संघर्ष कर रही है। वह 'आशाहीन स्थितियों' के प्रति नफरत नहीं करती और न भारतवर्ष की साधारण जनता निराशावाद से ग्रस्त है न वियतनाम चीन का आम आदमी ह्रासवादी है। वह साम्राज्यवाद के शोषण के विरुद्ध जान माल की बाजी लगाये हुए है। स्वयं अमेरीका के नीग्रो और गरीब गोरे इस ह्रास के दर्शन को अस्वीकार करते हैं क्योंकि निराशावाद अथवा लक्ष्यहीन घृणा से, स्थापित स्वार्थों का ही लाभ होता है। आत्म सजग और वर्ग चेतना से समृद्ध श्रमिकों का विराट समूह दुनिया से बदला नहीं, दुश्मनों से बदला लेना चाहता है।

इसलिए हर एक विचार धारा से नफरत "सनकीपन" है जो 'कवियों' और विशेष कर कुछ 'नये कवियों' को भले ही शोभा दे, मूलतः विद्रोही अकविता को शोभा नहीं देता। अकविता में दुश्मन के खिलाफ घृणा होनी चाहिए 'दोस्तों' और 'दुनिया' के खिलाफ नहीं।

श्याम परमार का कहना है कि नये कवि 'छुपाव' बरतते थे। वे सच्चाइयों को भर आँख देख नहीं सके। नये कवि बाह्य व्यवस्था से भयभीत थे। वे उससे प्रतिष्ठा भी चाहते थे। वे साधन सम्पन्न भी होना चाहते थे, हुए भी। नतीजा यह हुआ कि तथाकथित नयी कविता के कर्णधार अज्ञेय,

१ अकविता और कला सन्दर्भ

भारती, सर्वेश्वर, कुँअर नारायण, लक्ष्मीकांत वर्मा, वगैरह के जीवन और सृजन में दुराव और 'दुविधा' की भरमार है। वे अपनी और दूसरों की गन्दगी को, समझौतों और ह्यवहारों को चुपचाप पी जाते हैं। वे अगर कुछ कहते हैं तो निहायत अहिंसक मुद्रा अपना लेते हैं। इससे आक्रमण, उपालम्भ में बदल जाता है। श्याम परमार का मत है कि अकविता इस आत्म विनाशक छुपाव दुराव' के विरुद्ध विद्रोह है। व्यक्ति और व्यक्ति के, व्यक्ति और सत्य के तथा व्यक्ति और समाज के मध्य जो 'विच्छेद' (एलियनेशन) है, उसे इसी के खुलेपन से ही दूर किया जा सकता है और इस तरह मनुष्य को वास्तविकता के प्रति सचेत किया जा सकता है।

हम इस बिन्दु पर परमार जी से सहमत हैं–लेकिन हम इस अकविता-दल के उस दुराव छिपाव के भी शत्रु हैं, जो उन्हें, वास्तविक विद्रोही नहीं बनने देता जो उन्हें नौकरशाही नेट-नेताओं ठग ठाकुरों और अन्य 'दिल्ली के दलालों' के विषय में मौन रहने को मजबूर करता है। श्याम परमार जगदीश चतुर्वेदी, सतीश जमाली (भूतपूर्व 'अकवि") वगैरह 'अमूर्त' रूप में, नाराजी जाहिर करते हैं। वे नये कवियों की तरह ही नौकरी, घर और निर्वाह की चिन्ता करते हैं। अतः उनकी कमजोरियाँ और उनके नैतिक साहस का अभाव अकविता की विशेषता नहीं है।

"अकविता" किसी भी तरह की कमजोरियों के खिलाफ बगावत का नाम है, उसमें निरन्तर संघर्ष द्वारा इन्सानी हालात को बेहतर बनाने का इरादा होना है या होना चाहिए। उसका ध्वंस और पर्दाफाशीकरण अथवा दुश्मनों का "कारटूनीकरण' दुनिया से बदला लेने के लिए नहीं होना चाहिए बल्कि वह एक गहरे इन्सानी तसव्वुर (रवीन्द्र नियन्ता सिंह चौहान) के आधार पर होना चाहिए।

इसलिए अकविता मानव मूल्यों, सपनों और आस्थाओं के उच्चाटन का पर्याय नहीं हो सकती लेकिन आश्चर्य यह है कि नयी कविता का विरोध करते करते श्याम परमार स्वयं उसके निषेधवाद के शिकार हो जाते हैं। श्याम परमार के लिए अकविता का उद्देश्य है परम्परा पारस्परिक मानवीय सम्बन्ध, क्षमा, सौन्दर्य धर्म द्वारा आदर्श, मूल्य और प्रतिमान आदि का समूल उच्चाटन।[1] यह निषेधवादी विचारधारा का असर है। परमार जी न

---

1 अकविता और कला संदर्भ।

यह नहीं पता कि वह गुस्से में यह मत व्यक्त कर रहे हैं या वह गम्भीरता के साथ सब कुछ का निषेध कर रहे हैं ?

अगर श्याम परमार की अकविता कविता से ऊबे हुए लोगों की वृत्ति है तो उक्त सव निषेध क्यों आवश्यक है ? अगर सबका निषेध किसी नवीन मनोदशा के लिए है तो किसी 'मूड' के लिए सबका निषेध स्थायी नहीं होगा। "मूड" इतना चंचल और अस्थिर होता है कि नवीन से ऊबकर वह प्राचीन को भी अपना सकता है। 'मूड' का क्या भरोसा है ? इसलिए मूड के आधार पर सबनिषेध की धारणा व्यापक स्वीकृति नहीं पा सकती। और विवेक की दृष्टि से तो 'निषेध का निषेध' ही स्वीकृत हो सकता है। आज के सम्पत्तिवादी समाज के मूल्यों का निषेध होना चाहिए, परम्परा में रूढ़ियों और अंध विश्वासों तथा मानवीय सम्बन्धों में, 'परावलम्बन' का निषेध होना चाहिए लेकिन सभी मानवीय मूल्यों के तिरस्कार से तो अकवियों का भी अस्तित्व खतरे में पड जाएगा। जब मानवजीवन की कोई कीमत न रहेगी तब इन्सानी रिश्तों की जगह किस तरह के रिश्ते श्यामपरमार चाहते हैं ? क्या "सब निषेध" का तर्क बचकाना तर्क नहीं है ? नयी कविता ने भी सब निषेध का नारा नहीं लगाया था। वे तो मूल्यों की भी चर्चा किया करते थे। वस्तुतः 'सब निषेध' का रुख अपनाकर श्याम परमार अकविता के 'कथ्य' को सीमित और सनसनीखेज बना देना चाहते हैं लेकिन जैसे नयी कविता में 'कथ्य' की दृष्टि से मुक्ति बोध प्रगतिशील रुख अपनाते हैं उसी तरह अकविता में भी 'कथ्य'—शर्तानबाधक होना चाहिए। दरअसल 'नये मानदण्ड' के रूप में अकविता और कविता का भेद काव्य भाषा के आधार पर ही हो सकता है। फिर भी अकवियों के कथ्य को नयी कविता के कथ्य से अलग करके देखना आवश्यक है—

१ निस्संग विश्लेषण—"नशा टूटता है कि वस्तुएँ कभी होकर इतनी दूर हो जाती हैं "पहचान में नहीं आतीं।

(अमुक माहाज)

२ रोमांस विरोध—'तमाम आवाज और चेहरा अपरिचित पशु है

(जगदीश चतुर्वेदी)

३ प्रतिशोध की इच्छा—"...के गरिष्ठ देवों में आम मकान और नगरों और महिलाओं की गरिमा का प्रतिशोध... करने की इच्छा'

(जगदीश चतुर्वेदी)

(४) ऊब— ऊबकर व्यक्ति तमाम जानवरों की फेहरिस्त में खुद को 'रोक कर लेता है' (सतीश जमाली)

(५) विद्रोह—हर एक 'हां" जानवर बनाती है।

अजब-अजब करतब दिखाते दोपाये

बिना किसी चोट के औंधा कर जाती है, मजबूरी है।

देखो न, खुद तुम्हारे परों और सर के बीच कितनी बड़ी दूरी है।

(सतीश जमाली)

किस आ ि स ट द ण में "अकविता" का गहरा रंग उभर सका है।

गंगाप्रसाद विमल जगदीश चतुर्वेदी, और श्याम परमार की अकविताओं के संग्रह "विजप" की अनेक रचनाओं में, नयी कविता के बाद का नव्यतर स्वर है इसमें स देह नहीं लेकिन ये अकविताएँ, प्राय 'उथलेपन' से पीड़ित हैं। शोर, घोषणा काट-कचोट मारधाड़ दड़ाड़ अधिक है। जिस 'काव्य भाषा' से अकविता बचती है या उसे बचना चाहिए, उससे 'विजप' के कवि बचन की कोशिश तो करते हैं लेकिन वे 'अखबारी' होने लगते हैं। उनके अंतर्मन में छिपे कविता के संस्कार उनकी अकविताओं को जहाँ-तहाँ दबोच लेते हैं। जगदीश की एक अन्य रचना लें—

"कोई नहीं है जिसे शान्ति का अर्थ मालूम हो,

बटर्न रसल या सार्त्र या गाधी की आवाज अपराह्न में खो जाती है।

हत्या कभी शब्द नहीं बन सकता।

भीड़ कभी भी शान्ति के लिए इकट्ठा नहीं हो सकती।

शांति के लिए इकट्ठा जन समुदाय मौत का साक्षी है।

केवल आपाधापी, केवल रक्तपात कटे पिंड

रक्त पिपासुओं का तांत्रिक गान [1]

यह अखबारीपन अकविता को रचना नहीं बनने देता। 'विजप' इसी प्रवृत्ति से ग्रस्त है। अगर घोषणा परक कविताओं को 'अकविता' मान लिया जाए तो द्विवेदीयुग की अनेक कविताओं को अकविता मानना होगा। अकवि यह भूल गए कि मुखरता और दुराव के विरोध में दूसरी अति पर पहुँचना खतरनाक है। अकविता में स्पष्टता के बावजूद—आन्तरिकता

---

१ शान्ति सम दगम की कविता राष्ट्रवाणी १९६८

होनी चाहिए अन्यथा वह 'कुकविता' हो जायगी। 'विजय' में 'कुकविताओं' की संख्या काफी है।

चम्बल का पानी, ऊपर से बड़ा निर्मल और उथला दिखाई पड़ता है लेकिन धारा में उतरते ही आदमी डूबने उतराने लगता है। अकविता इसी प्रकार का कवि कर्म है—या मेरी दृष्टि से उसे ऐसा ही होना चाहिए। यहाँ ऊपर से कुछ उथली और भीतर से गहरी रचना का एक नमूना पेश है —

रेडियोधर्मी धूल में साँस लेनी पड़ती है
इसलिए चुप हूँ।
आपका शायद यह ख्याल है कि नाटकीय होना सम्भव है?
इस गरम बौलियों पर निरर्थक बहुवत,
सितारे सवाद बोलते नजर आते।
पुरुषार्थपन के लिए घुटना अनिवार्य है।
हर एक चुम्बक चुपचाप रहती है।
आकर्षण का एक एक वक्त होता है
उसमें उस पार के साथियों को—
सिर्फ जासूसी निगाहों से देखा जा सकता है।
कभी-कभी विस्फोट चुनौती बन जाते हैं
और मैं किसी जलते हुए नगर की तरह,
अपने चेहरे की तमतमाहट साफ
महसूस करता हूँ।
यह इस तरह होता है कि किसी को खबर नहीं होती
दीवाल में एक ईंट और जुड़ जाती है
वक्त जिसे मिलता नहीं
छू कर सरक जाता है।
मुझे लगता है, मैं तुम्हें एक तस्वीर
और नकाब दे सकता हूँ।
जहरीली गैसों के बीच,
इतनी सान्त्वना कम नहीं
होती।
और अगर तुम्हें लगे कि आसमान साफ
हो गया है

या ऊसर फूला इंद्र धनुषों से भर
गया है
तो इस मुखौट की चुप्पी को
फेंक देना कतई मुश्किल नहीं है,
यों फिलहाल मुझे ऐसी उम्मीद नहीं
है।
मैं जानता हूँ, जिन्दगी अनजानी—
लिपि में लिखी एक वित्तांत्र है।
लेकिन मैं रहस्य सकेतों के पहले पन्ने से
हो परिचित हूँ
आगे के अक्षर सिर्फ अपनी
कोशिश से ही स्पष्ट हो सकते
है
यह नहीं कि इरादा नहीं है
लेकिन सारे पन्ने उलटने की
फुरसत नहीं है।
और हर रहस्य पूरी तरह
खुलने के क्षण में हमला भी तो
कर सकता है।
प्रत्येक सम्पर्क से—
अज्ञेय अक्षरों की कतार से कुछ
भेद स्पष्ट होकर सामने आते हैं
सलाम करते हैं।
और तब वह सम्पर्क बासी
हो जाता है।
उबकाई उठती है,
एक कड़वाहट उभरती है।
जो शायद कहती है
'अब कुछ नया उद्घाटित—
होने को है।'[1]

---

1 आत्मसमर्पण—एक अकविता

आंतरिकता अथवा बाहरी मुखौटा का, "आभ्यन्तरीकरण' तो एक अनिवार्य प्रक्रिया है, जिसके बिना न कविता सम्भव है न अकविता। लेकिन 'गहराई' का मतलब यह नहीं है कि वह "गोरख-धंधा" बन जाए।

बेतकुल्लफी से साथ बतियाते हुए चलन म खतरा यह है कि बात फैलती चली जाती है। इस फैलाव या विखराव की भी थोड़ी बहुत चिंता अकवि को करनी होगी लेकिन—वार्तालापी अन्दाज म, अकवि जल्दी ही बात के भेद को समझने के लिए इशारे करने लगता है। अगर पाठक इन इशारों को नहीं समझ पाता तो अकविता, कविता से भी अधिक दुरूह और उलट बाँसी सा प्रतीत होने लगता है। या कविता के ठाठ (स्ट्रक्चर) को तोड़ने के लिए, अकवियों ने उल्टवाँसियों का प्रयोग किया है और अखो, नक्शों, रपटों, तथा मनानिक विवरणों को भी अपने तरीके से इस्तेमाल किया है लेकिन "एक और नया आदमी" की आँकडेबाजी से कविता का ढाँचा तो टूटा है लेकिन अकविता की निर्मिति म बाधा आई है।

कविता से औपचारिक स्वर (टोन) को भगाकर उसकी जगह जिन्दगी के रोजनामचे क नजदीक पहुँचना—हर एक गली, मुहल्ले बाजार और खेत खलिहान म ढलते फिकरो बकवासो और गम्भीरनुमा चर्चाओ सवादो बहसो, झगडो, गालियो उपदेशो भर्त्सनाओ अटपट प्रेम वचनो बहूदगियो चीख-पुकारो आवाहनो—नारो, नकलो फब्तियो स्वाग हरराटो शखियो अकडूखो लहजो इशारो और अतिशयोक्तियो, अल्लाती तवरा और मासूम मुद्राओ म भरे बोलो कहकहो और चुहलो बुद्धिमत्तापूर्ण वचनो और पगलाए वाक्यो, गप्पो और एठु उच्चारणो जिद्दी और भदेसी भाषा के नमूनो को जो मन म टाक ले और सोचे कि इन्ह कवि ही छिपे मतलबो और म शाओ को व्यक्त करने मे कैसे प्रयुक्त करे यह अकविता की समस्या है।

अकविता सजीदगी और मसखरपन का एक साथ घोट पीस कर भी एक नया मुहावरा गढती है।

'प्रचलित" की जगह चालू' सलावण्य" की जगह नमकीन", ग्रन्थ' की जगह पोथा' "कपोत" के स्थान पर "कबूतर" भवन के लिए 'कब्र श्मशान के लिये छकडा' 'हस्तिनी नायिका के लिए ढेला या बुलडोजर या टक, 'आदमी के लिये चाज या पुर्जा' व्याख्यान" के लिए "बकवास और स्वागत है पधारिये' के लिए मर गए आ ही गए, आइए" को इसलिए पसन्द किया जा रहा है कि सामाजिक सकट का

मध्य कारण, "सफेदपोशों" (भद्रजनों के लिए) का अस्तित्व है। सफेदपोश अपनी मंशा शिष्टाचार द्वारा छिपाए रखना चाहते हैं। कथनी और करनी का भेद मध्यवर्ग की एक आम बीमारी होती है। इस स्थापित, सड़े हुए तबके का जो सिर अपने और अपने घर के लिए सब कुछ कर गुजरने को तैयार रहता है बरबाद किए बिना या दूसरे शब्दों में इस शोषित वर्गों की ताबेदारी में लाए बिना कोई रचनात्मक काम ढंग से नहीं हो सकता—

कबिरा खड़ा बाजार में, लिए लुकाठी हाथ
जो घर जारे आपना, सो चले हमारे साथ।

"घर", "खानदान" और "जाति"—इन तीनों के आधार पर ही भ्रष्टलोक के मूल्य विकसित होते हैं। लेकिन ये तीन ही आदमी को जानवर बनाते हैं। जो घर और परिवार में आदमी सा लगता है, वही "सम्बन्धियों" के लिए दुनिया के सारे पशु-पक्षियों के काम करता है। इस निजी सम्पत्ति के मसले ने अच्छे खासे आदमी का क्या बना लिया है उसे देखने के लिए किसी भी 'भले आदमी' का निकटतम—निरीक्षण रोचक साबित होगा। वह हर आत्मा २४ घण्टा में अनेक योनियों में गुजरता है। शिकार करना अगर उसके स्वार्थ के लिए जरूरी है तो वह किसी भी धर्म ग्रन्थ की या कोई दार्शनिक गवाही पेश कर फौरन एकदम बघेरा बन जाएगा। गरिमा और गौरव' से समाज में इज्जत मिलती है और "प्रतिष्ठा" एक प्रकार का वित्त विनियोग (इन्वेस्टमेण्ट) है जिसके बदले में पद, धन, प्रभाव वगैरह सब आता है। यों भी आदमी को झूठे घमण्ड में मजा आता है उसे भरम पालने में, मरगिल्ले पालने में अधिक दिलचस्पी रहती है। असलियत से आँख मिलाना मुश्किल होता है। कोई अकवि ही इतना औघड़ हो सकता है जो अपनी अदालत में कसम खाता है—सच कहूँगा और सच के अलावा और कुछ नहीं कहूँगा।

अकविता इस घोषित शौकीन दयनीय घमण्डी और "शानदार बेमइया" के सिरों की नकाब उतारना चाहती है। जब साहित्यकार अपनी जिम्मेदारी भूमिका की पहचान करता है तब वह भाषा के औजारों

---

1 अज्ञेय हो या गय
दूसरा को समझते हैं हम
हाय रे अहम

—[illegible]

को तेज करता है—अकविता 'गरिमा और गौरव" के तेवरों को तराश कर असली हुलिया', सामने पेश करना चाहती है। और टटपूंजिया मध्यवर्ग, जिसके पास भ्रमों को छोड कर और कुछ नही होता, इस "तूफानए बद मगजी" या "कविता के अश्लीलीकरण" या विकृत रुचि" पर चिढता है क्योंकि मध्यवर्ग जान-अनजान उच्च वर्ग की दलाली का ही काम करता रहता है। उच्चवर्ग निम्नवर्ग को ठगता है लेकिन उसके डर एवं गुस्से और गुर्राहट को, मध्यवर्ग, अपने सौम्य जीवनदर्शन और अल्प सम्पत्ति के भय पर आधारित 'सुकुमारता" के कारण थपकियां देता है। 'प्रबुद्धता और "भद्रता" के रौब से पीडित भीड फिर चुपचाप अपने घाव चाटने लगती है—

"सुनिये, मैं दीमक या नमक बनकर इस मलबे का नही लगना चाहता
मैं असली दुश्मन को जानता हूँ, किताबो की दुरबीनो से
अपनी आंख फोडना बेवकूफी है !
मैं मैं चाहता हूँ हमला करूँ।
पर उससे पहले छत पर कब्जे के लिए
कुछ खरोंच कर तो देख लूँ कि सेंध कहाँ है ?
जहां तुम्ह और मुझे किसी दिन कमन्द के साथ फेंका जाना है !
न हो सका तो कलम से एक ईंट ता उखाड ही दूँगा।
अब अब समझने से ज्यादा रोचक है। फ्यूज उडा दिया जाय !
क्या रहा हू चलो किसी तकिये पर बाईं अगर निश्चित सिर हो
तो उस जलतरंग की तरह बजा दिया जाए !
सुविधाएँ जुगाने जुगात सुविधा जी' व 'पिता जी" होने मे
यह अच्छा है
करके निपापी म भर कर प्यार ५२ करोड भाइयो को
कर तत्या बिच्छू साप वगरह सान्त्व भेज दिए जाएँ !
एक भारी गाली—अपने चहरे पर, जड कर
और एक हवा में फटकार कर
कह दिया जाए, कह दिया जाए कह दिया जाए !!!
क्या !!! अरे यह तो भूल ही गए !¹
खैर कोई बात नहीं।"

---

१ विरोधिया जमात का मन—एक अकविता

क्या खुशनुमा कविता से 'केन्द्रीय कष्ट'' दूर करने का माहौल बन सकता है ? हर एक रचना अगर उसमें दम है, तो वह मनुष्य को किसी न किसी स्तर पर, संवारती है, उसे कुछ न कुछ अवश्य बना जाती है अथवा झनझना ही जाती है लेकिन 'केन्द्रीय विकृति'' को नष्ट करने के लिए छुट पट फायदे पहुँचाने वाली पुड़ियों की तरह खुशनुमा कविताएँ, आदमी को समय के लिए तैयार नहीं करतीं। वे उसे उस स्थान पर एकत्र नहीं करतीं जहाँ इतिहास के फैसले होते हैं।

अकविता कुल्हाड़ी होती है जो पत्तियों और शाखाओं को बाद में काटेगी पहले जड़ पर चोट करेगी। दिल्ली की अकविता' में भी आक्रोश बहुत है लेकिन वह जड़ को छोड़कर तन की छाल छीलने या दो चार डाल उड़ाने के काम को ही बहुत बड़ा काम समझ रही है। इस सन्दर्भ में श्री गिरिजाकुमार माथुर की एक अकविता' का उल्लेख जरूरी है। माथुर जी ने अप्रैल, १९६६ में, आकाशवाणी भवन में श्री गोपाल कृष्ण कौल द्वारा संयोजित एक गोष्ठी में ''देश की ट्रेजडी' शीर्षक एक अकविता पढ़ी थी। इस रचना के आगे उनकी पहली खुशनुमा कविताएँ फीकी पड़ जाती हैं और वास्तविकता नग्न होकर सामने उतर आती है। 'अकविता' की धारणा का यह दमदार प्रयोग है।

यह सोचना गलत है कि अकविता' सिर्फ सामयिक संकटों को दूर करने का ही माध्यम है अथवा वह उच्चवर्गीय कविता की हदों का फैलाव मात्र है। अकविता में मानव जीवन के गूढ़ अनुभवों और मानसिक लहरों को, बड़ी सूक्ष्मता लेकिन सहजता के साथ व्यक्त किया जा सकता है। नयी कविता जहाँ बिम्बों की तलाश में व्यर्थ भटकती रही वहाँ 'अकविता अनायास आस पास के जीवन को गौर से देखती सुनती है और साधारण बातों और सवालों में थोड़ी सी मरोड़ पैदा करके उन्हें व्यापक बना देती है 'भ्रमभंग' को इस तरह भी कहा जा सकता है —

भरम मिट गया हो तो चल
समय कोई फल नहीं है जो तराशने से निखर बिखर हो जाए।
और न हवा कोई कश्ती है,
जिससे हम एक दूसरे को काट कर
आपको नाव के बगल मिए !

हम अभी तक सबको अपना भागीदार समझते थे
लेकिन ये तो गवाह भी नहीं हैं हमारे ग़मों के !
छिपते बचते हम कितनी दूर निकल आए हैं !
लेकिन खुला आस्मान भी हमें तराजू सा तौलने लगता है
हर एक चीज वजन आँकने की फिराक में है
जिस तालाब से पूछो, वही किसी बूढ़े की तरह
सिर हिलाने लगता है !

× × × × ×

उत्तरों की जगह, बहाने गढ़ना, महज बचपना है !
अपनी छाया को छोड़कर, किसी और का साथ
एक दिल्लगी है दुर्घटना है !
हमने पागल बनकर भी देखा,
चालाक और बेवकूफ बनकर भी
कुछ नतीजा नहीं निकला !
कोई कहीं बचाव नहीं है
और हम हैं कि बैठे ताक रहे हैं
[illegible] हो लिया अब दल !
भरम मिट गया हो तो कहें !!![1]

कविता के विधि निषेध एवम् कविता की परम्पराओं और मर्यादाओं की चिन्ता अकविता नहीं करना चाहती। 'सम्प्रेषण' तोड़ने के लिए यह आवश्यक भी है। अकविता कविता के 'स्वाभिमान या ऊँचा नाम होने का भरम'—तोड़ती है। यह धर्म और प्रशासन पर आधारित बड़े और मँझोले वर्गों के स्वांगों से घृणा करती है। यह उन सब सिद्धान्तिक चालाकियों और करतबबाजियों की धज्जियाँ उड़ाती है जो तरह-तरह के एजेन्टों द्वारा जनप्रिय संस्कृति और कविता तथा प्रबुद्ध और समृद्ध वर्ग की संस्कृति और कविता को समानान्तर खिताबों में चलाना चाहते हैं। वे जानते हैं कि कविता और साहित्य में इस तरह की भाषा का प्रयोग हो जो सिर्फ ...

---

१ प्रकम्प—एक अकविता

हल्कों में ही वह सीमित रह जाए क्योंकि साहित्य की रक्ताभी ताकत को वे मन ही मन समझते हैं। मगर अफसोस यह है कि झूठी शान और इज्जत के भूखे नवकवि इस षटयन्त्र को समझ नहीं पाते, वे नहीं जानते कि लाखो-करोड़ों लोग, जीवन की निरंतर लड़ाई के दौरान उस 'काव्य भाषा" को गढ़ रहे हैं जिसके शब्द अनेक प्रसंगों में प्रयुक्त होकर, "सिद्ध' हो जाते हैं— इन 'सिद्ध शब्दों', कहावतों और मुहावरों के प्रयोग से सभी प्रसंग पाठक के मन में चमक उठते हैं। अकविता यहां जन जीवन के अनेक पक्षों और प्रसंगों की चाशनी में लिपटे शब्दों के इस्तेमाल की कला है।

जनशब्दों में प्रसंगों के छिपे रहने के कारण बड़ी व्यंजकता होती है। जिस तरह मन्त्र के शब्द देवता उसकी शक्ति उसके वाहन और उसके चमत्कारों के ध्यान" से 'सिद्ध" या कार्यक्षम बनते हैं अर्थात वे एक दीर्घ मानसिक कन्नीकरण से गुजरते हैं, उसी तरह जीवन के वास्तविक प्रसंगों का स्मरण, अकविता को जनजीवन और उसके सुख-दुःख से जोड़े रहता है—पुराने मर्मी सन्त और सिद्ध शब्दों की इस "जन शक्ति से परिचित थे इसलिए वे प्रचलित शब्दों का 'सामान्यीकरण करके गूढ़ अर्थ भर सकने में कामयाब हुए थे—अकविता इस विधि को पकड़ता है—

'कहिए कैसा लगा ?

यह बात आप गुलाबजामुन खाते हुए लोगों के मुँह से भी सुन सकते हैं कोई दृश्य देखते हुए मित्रों की मण्डली में इसे सुना जा सकता है लेकिन इस बात का 'सामान्यीकरण करिए तो यह प्रश्न जीवन व्यतीत करने के बाद किसी व्यक्ति से भी पूछा जा सकता है या खट्टे मीठे अनुभव पाए हुए किसी व्यक्ति के सन्दर्भ में इसे यों कहा जा सकता है—

कहिए कैसा लगा ?
पहाड़ से गिरा, घड़ रेत में, सिर ऊपर !
तुम्हें ऊँचाइयाँ पानी था, मुझे पद गर
कुछ मिला ?
कहिए कैसा लगा ?

जिन्दगी की विसंगति और मुसीबत का यह साक्षात्कार है लेकिन इसे कविता की बदनसीबी न दानवों का प्रयास रहा है।

साधारण व्यक्ति अमूर्तता से बचता है उसके शब्दों में 'मूर्तता' होती है। वह 'स्टेथिसकोप' को 'कनसुनी' कहता है, और किसी मामूली 'एजेन्ट" को वह "चपर कनाती' या 'चरकटा' कहता है। पाखण्डी और भीतर से रिक्त व्यक्ति को वह 'ढपोर शंख' कहेगा और दुबले लेकिन भोजन भट्ट व्यक्ति को "नरकुल' (एक प्रकार का बांस)। उसके 'प्रत्यय" सीधे और ध्वनि प्रधान होते हैं—भरतपुरिया ललटुपिहा (लाल टोपी धारी) हिन्दुए—लाल मुहाँ (गोरों के लिए) चमचे (एजेण्ट या दलाल के लिए) गुस्से में चेहरा लाल कनेर्या सा हो गया, तमाचा लगा, तो ततार से उड़े झापड़ दिया तो लोट बन जाओगे— उल्लू की दीवट कहाँ जा रहे हो, 'राम राज्य में गधे पंजीरी खा रहे हैं", ज्वार के भुट्टे सा चेहरा है, यह औरत बड़ी घनचुल है", 'फटे जूते सा फेंक दो इसे', 'दही की मटकी सा सिर फट गया', 'ऊदबिलाव जैसी आँख', गाल घेवर जैसे हैं — 'बद्धुआ सा यह है', "बसिया" (लोबिया या कचड़ी की) सी देह है, "कन किधर जा रही है" (आप किधर जा रहे हैं) परवाना आ गया (मौत आ गई), आँखों में मशालें सी भभक रही हैं —इस तरह के प्रयोगों को, नए सन्दर्भ देकर कविता अपना सकती है। स्वभावतः इनसे हर जगह काम नहीं चलेगा लेकिन कविता की ताकत तो कविता का रंग खत्म करने की है। अकवि नई शब्दावली गढ़ सकता है वह प्रचलित वैज्ञानिक व्यापारिक, औद्योगिक राजनीतिक क्षेत्रों से शब्द चुन सकता है—

रश्मियाधर्मी धूल से घिरा है इसलिए बुरा है।

अथवा

टंकी में ईंधन हो तो राकेट में उड़ो
लेकिन धरती की खींच बुरी होती है।
एक और इंजिन चालू करो।
शायद पहचानी हुई बाहों की पकड़ छूट जाय!
बोझ कम हो जाए तो एक दूसरे को थाम रहना।
उस पुर्जे को मत भूलना जो तुम्हारी मशीन में
तुम्हें कहाँ लगा है।
और अगर तुम्हें लगे कि कम्मा बेकार है
दासता के नारों में उसका नाम शामिल है।

तो, उसे टटोलना, खोदना और खरोदना
शायद किसी घाटी में कोई गोद हो,
और कोई बाप के कंधे जमा कोई कोना हो,
कौन जानता है, किसी पूरब जनम में तुम्हारे—
सुहागिन, शांति के समुन्दर' में कोई प्यार की—
पाती छिपा आई हो।

कभी कभी तो तुम्हारे मुहल्ले की अप्सराएं—
उल्काएँ बन कर वहां तुमसे आकर टकरा सकती हैं।
कुछ पता नहीं चलता कौन जाने चन्द्रमा ने
तुम्हारी चाहत परखने के लिये, अपना मेकअप
बदल लिया हो।
क्या न वहीं चरखा कातती हुई बुढ़िया हिरन और खरगोश
की कहानी सुना रही होगी।
यन्त्रों की घरघराहट में अक्सर मुलायम
दास्तान दब जाया करती हैं।
और बुढ़िया का भी क्या भरोसा,
अपना चरखा, हिरन और खरगोश लेकर वह
तुम्हें आते देख मंगल, शुक्र या शनीचर की
तरफ चली गई हो।
उसे पता है तुमने इन्सानी रिश्तों को, बच्चों, बूढ़ों,
और बचों में बदल दिया है।
फिर भी डोकरी माँ से कहा, चाँद पर आदमी आया है
उसे एक मौका और दिया जाए।
हो सकता है आकाश गंगा की किसी बूंद से
उसकी फितरत ही बदल जाए।[1]

अकविता कविता को एक नया रंग देना चाहती है। वह लोक-कविता नहीं है लेकिन कविता को लोक के नजदीक लाना चाहती है। इस काम में,

1. ...

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति बाधक है समुचित सौन्दयबोध बाधक है जो लोकगाथों के रबर जैसे लचीलेपन से परिचित नही है। इसीलिए 'अकवि' के लिये 'वर्गचेतना' अनिवार्य है। अकवि सौन्दय और सार्थकता के लिये, विराट जन जीवन और प्रकृति को देखता है, वह अपने मन की हर एक हरकत पर गौर करता है अपने से खूब उलझता है लेकिन हर एक लहर को रूपायित करने के लिये भौतिक जीवन म कही न कही प्रतिमा अवश्य है। वह सिर्फ किसी एक व्यक्ति के वृत्त म या उसकी जमात के घेरे म नही मिल सकती, उसके लिए जीवन की विशद् प्रक्रियाओ को सहानुभूति से सोचना समझना होगा— मानसिक प्रक्रिया बहुत बारीक और धूमिल हो सकती है लेकिन व्यापक जीवन प्रक्रियाओ मे उसकी हर एक हलचल का प्रतिबिम्ब कही न कही अवश्य छिपा हुआ है—यह खोज ही अकवि को चहार दीवारो को लाँघने के लिए प्रेरित करती है।

सभी का यान्दोलन एक सीमा खीच कर, उसम बन्द हो जाते हैं। सजनात्मक शक्ति के केन्द्रीकरण के लिये यह जरूरी भी हो सकता है लेकिन उसे तोडना भी जरूरी है। अकविता अब तक की काव्य परम्परा और 'शास्त्रीय सस्कार' को तोडती है और जिन्दगी के अन्तहीन विस्तार की तरफ ले चलती है। पिछडी हुई और परावलम्बी सस्कृतियो के प्रबुद्ध कलाकार अकवि मनोवृत्ति द्वारा अपनी जाति के विकास या कायाकल्प म मदद कर सकते है।

कुछ मित्रो का कहना है कि हर नय आन्दोलन का समथन जल्दबाजी है। बात सही है लेकिन इन पक्तियो का लेखक भारतीय स्थापित व्यवस्था के विरोध का समथक है लेकिन समथन का अथ रमणानी पीढ़ी, अनागरिक कविता युयुत्सापरक लखन बीटनिक या दिगम्बर कविता का अन्धसमथन नही है न कोरी वाहवाही स इन नय स्वरो की सम्भावनाओ का विकास हो सकता है। हिन्दी म किसी आन्दोलन को व्यापक सन्दभ म रखकर समझने की उतनी कोशिश नही होती जितनी उनम किसी एक के अनुसरण और अन्यो के विरोध की। ममलन् किसी उत्कृष्ट अकवि के अभाव म, अकविता की धारणा और उसकी सभावना का भी मजाक म टाल दिया जाता है अथवा नयी कविता के प्रति पापापरक रवय्या अपनान वाले डा० जगदीश गुप्त उसे नयीकविता की ही एक मुद्रा कहन लगते हैं जबकि अकविता कवितामात्र के खिलाफ चलकर रचना सम्भावना की खोज है।

करते रहते हैं श्मशानी पीढ़ी और अकविता के शिविरों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः देखी जा सकती है। विमय मल्लिक अगर सिर्फ गन्दगी और गिलाजत को ही सामने लाने को विद्रोह समझते हैं तो अकविता अश्लील होने का ही अपना मजहब बना लेती है। लेकिन बिना जागरूक सामाजिक चेतना के, विद्रोह अन्त में स्वयं अपने ही विरुद्ध होने लगता है। लेखक वास्तविकता की सही पहचान के बिना सनकियाने लगते हैं, अथवा वे पहचान (रिकागनीशन) के अभाव में घृणावादी होने लगते हैं। लक्ष्यहीन नफरत, घृणित की रक्षा करती है और "नफरती" को ही खा जाती है। इस प्रकार की नफरत और बौखलाहट आजकल रामदरश मिश्र जैसे नयी कविता के कुछ "छुटभइयों" में बहुत अधिक है। उनके नीचे की जमीन खिसक रही है उनकी बनावट, बुनावट और विज्ञापन दिवालिया हो गया है भविष्य "अभिनव कविता" और "कलात्मक" अकविता का है।

सप्तम दशक की कविता

कई मित्र पचासोत्तरी, साठोत्तरी पीढ़ी का विभाजन नहीं मानते। लेकिन किसी नए स्वर की पहचान और उसके रेखांकन के लिए ऐसे नाम सुविधाजनक होते हैं और उन्हें इसी रूप में ग्रहण भी करना चाहिए।

पिछले दशक के नए कवियों के हल्कों में अक्सर सुना जाता है कि सप्तम दशक अथवा साठोत्तरी पीढ़ी में कोई अभूतपूर्व बात नहीं है। नवीनता का आन्दोलन अनाड़ियों के हाथ पड़कर अराजक स्थितियों में बदल रहा है और यदि सप्तम दशक में कहीं कुछ अच्छा है तो वह नई कविता का ही शाखा प्रसार है। अतः नए कवियों के प्रति नव्यतर तरुणों का आक्रोश 'प्रतिष्ठा प्राप्ति की सस्ती कोशिश' है। इसीलिए राजकमल चौधरी, केदारनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा, कैलाश वाजपेयी, विशेषकर अद्वितीय विद्रोही कवि राजकमल को अज्ञेय भारतीय जगदीश गुप्त वगैरह उतना महत्व नहीं देना चाहते और इनके बाद के धूमिल, चन्द्रमौलि, मृत्युंजय आदि सर्वथा ताजे कवियों तथा श्याम परमार, जगदीश चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद विमल को वे कुछ पराया सा अनुभव करते हैं।

सप्तम दशक की कविता नई कविता के आत्मपीड़क स्वरों और अनात्मक मुहावरों को पीछे छोड़ रही है। यों प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिए सप्तम दशक के नव्यतर कवि अज्ञेय भारती वगैरह की खुशामद भी करते हैं। जगदीश गुप्त यह साफ महसूस कर रहे हैं कि उनका तलाक कर सप्तम दशक अपने रूप का स्वतन्त्र अनुसंधान कर रहा है। 'धर्मयुग' में गुप्तजी के लेख में उनकी हीनता की भावना स्पष्ट प्रकट हुई है। उन्होंने मुझ पर भी, एक शिकायती अन्दाज में, यह आरोप लगाया है कि मैंने सूर्योदयी कविता को नई कविता की अध्यात्मवादी शाखा क्यों कहा, और यह कि अज्ञेयजी को वीरेन्द्रकुमार जैन और सुमित्रानन्दन पंत के साथ नत्थी क्यों नहीं किया। लेकिन गुप्तजी स्वयं जानते हैं कि अज्ञेयजी तब तक 'स्पष्टतः' नव रहस्यवाद के पक्षधर नहीं थे। फिर किसी प्रवृत्ति के निर्देशन के लिए नामों की बारात जरूरी भी नहीं है।

मैं 'नई कविता' के द्वारा प्राप्त नया शिल्प, नवीन काव्यरूप और मुहावरे का योगदान स्वीकार करता हूँ लेकिन नई कविता के 'कथ्य' में सभी स्वर गतिशील नहीं हैं। पश्चिमी योरोप की नकल में जिन मानसिक स्थितियों और निम्न रूप "सोचों" के केक्टस यहाँ रोपे गए थे, उनका विरोध तब हमने किया था और इस सप्तम दशक में नव्यतर विचार भी विरोध कर रहे हैं। प्रतिगामी स्वरों के कारण नई कविता का एक हिस्सा और नए कवियों के कुछ वक्तव्य प्रतिक्रांति के प्रतीक बनते गए, परन्तु नई कविता के प्रचारक कवि जगदीश गुप्त यदि नव्यतर विकास से कुछ चिढ़े हुए लगते हैं, तो इसमें आश्चर्य की बात क्या है?

नई कविता में अज्ञेयजी टी. एस. इलियट की तरह एक ओर जा पड़े हैं तो एजरा पौंड की तरह बिम्बवादी कवि जगदीश गुप्त 'इमिवेड' होकर ही रह गए। यह तुलना भी अपने आप में अधूरी ही है (प्रत्येक तुलना अधूरी होती है) क्योंकि अज्ञेयजी टी. एस. इलियट का "विज़न" नहीं पा सके और न समकालीन सभ्यता और इतिहास के संकट और सम्भावना को कस-कसकर काव्य पंक्तियों में दबा सके। जगदीश गुप्त की एजरा पौंड से तुलना तो वस्तुतः हास्यास्पद है। लेकिन "किंचित् सादृश्य" भी तुलना के लिए आधार बन जाता है। वस्तुतः जगदीश गुप्त कुछ थोड़ी सी चित्रकारी ही कर सके, वह 'नई कविता' के सम्पादक है, कवि सम्पादक से बड़ा होता है।

धर्मवीर भारती अंधा युग के बाद ठंडे होते गए। 'कनुप्रिया' तो भावुकता से ग्रस्त रचना है और स्वतंत्र रचनाओं में उनकी क्षयी रोमांस पीड़ा नहीं छोड़ सका। साही को अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली।

इन आंदोलनी कवियों की तुलना में कुँअरनारायण ने अलग रहकर काम किया। चिंतनशील नए कवियों में उनके 'आत्मजयी' का कवि स्मरणीय रहेगा, लेकिन "आत्मजयी" कृति बनते बनते रह गया ऐसा महसूस होता है। इस अधूरेपन का कारण अस्तित्ववादी चिंतन की गहरी अवधारणा का अभाव है या अन्य कुछ, यह तो कहना कठिन है लेकिन कुँअरनारायण का नया मुहावरा भी चिंतन की गहराइयों के अभाव को ढक नहीं पाता।

सबसे निराले और सबसे अधिक उपेक्षित मुक्तिबोध ही 'नई कविता' के सर्वोच्च कवि बन सके। इसका कारण यह है कि व्यक्तिमानस और समूह मानस के अन्तर्द्वन्द्व असंगति और समायोजन का बोध सर्वाधिक मात्रा में

मुक्तिबोध को हुआ था। अज्ञेय की तरह उनमें 'आयातित' माल नहीं है उन्होंने कविता को खुद संघर्ष करके उपलब्ध किया था। अज्ञेय हिन्दी काव्य में नए प्रारूप ला सकते हैं, किन्तु प्रारूप (मॉडल) में व्यक्त तो अन्ततः कवि ही होगा और अज्ञेय में चिन्तनशीलता होने पर भी उस 'ताप' का अभाव है जो केवल जिंदगी को लू-लपट से मिलता है।

'द्वन्द्वबोध' एक रूप में मुक्तिबोध में व्यक्त हुआ था तो अपने प्रयोगशील रूप में वह शमशेर में प्रकट हुआ और सरलीकृत रूप में केदार अग्रवाल में। अब वही द्वन्द्वबोध सप्तम दशक में केदारनाथ सिंह धूमिल विरेन्द्र मारत रत्नभार्गव वीरेन्द्र सक्सेना धनंजय कौल रणजीत, हरीशभादानी, जगदीश चतुर्वेदी चन्द्रमौलि, मृत्युंजय आदि में व्यक्त हो रहा है और यह द्वन्द्वबोध उसी क्रांतिबोध की परिणति है जो प्रगतिवाद द्वारा अस्तित्व में आया था, अतः वह नई कविता की शाखा-प्रशाखा नहीं है। वस्तुतः प्रगतिशील क्रांतिबोध का ही यह शाखा प्रशाखा सप्तम दशक में विकसित हुई है जिसका मूल निराला के नए पत्ते' और कुकुरमुत्ता' में है और जो प्रयोगवाद के ऊबड़-खाबड़ मार्ग से मुक्तिबोध शमशेर जसे रचनाकारों को गढ़ता हुआ सप्तमदशक के विचारों में फैल गया है और अपने धक्के से अज्ञेय भारती जगदीश गुप्त आदि का एक ओर धकेल कर तरुणों के स्वरों में गूँज रहा है। पिछले दशक के क्रांतिविरोधी प्रतिबद्धता विरोधी मानव के ठहराव संदेह और अनिश्चय को ही उसका "स्वरूप' समझनेवाले 'आंदोलनी' कवियों को यह देखकर आश्चर्य हो रहा है कि जिस विद्रोह को रोकने या पथभ्रष्ट करने के लिए उन्होंने इतने उपाय किए थे वह फिर साहित्य में प्रमुख हो गया है और उसकी 'कोड़ा मार भंगिमा से मुलायम लेखक' संत्रस्त हो उठे हैं।

यह सत्य है कि सप्तम दशक आइडियालाजी" से बचना नहीं चाहता लेकिन सिद्धान्तशास्त्री जिस अहसास और बोध को विचारव्यवस्था देता है धारणाओं में बोलता है उसी अहसास और बोध को कवि अपनी सहज प्रतीति के बल पर पाता है। तभी इलियट ने कहा था कि शेक्सपियर प्लूटार्क तथा परवर्ती इतिहासकारों से कहीं अधिक समझता था कि इतिहास चेतना क्या होती है। इसके सिवा प्रगतिशील दर्शन यह नहीं चाहता कि कवि किसी दल का प्रचारक बने। वह तो चाहता है कि लेखक जीवन के प्रति वफादार रहे, यानी व्यक्ति और समाज की कमजोरियों के विरुद्ध संघर्ष करें, असंगतियों का वर्णन करें।

सप्तम दशक की कविता को उपर्युक्त शांति वादक परंपरा में कवि और परिवेश का अलगाव समाप्त हो रहा है। द्वन्द्व है, लेकिन अलगाव नहीं है। अलगाव कृत्रिमता, रहस्यवाद, अतिभ्रांति या वास्तविक यथार्थ के अतिक्रमण की ओर ले जाता है अथवा मानवात्मा को एक अलग निरपेक्ष इकाई मानकर धीरे धीरे उसमें प्रतिबिम्बित यथार्थ को धोया जाता है, लेकिन प्रतिबिम्ब कभी धुलते नहीं हैं। ऐसे आत्महाराओं को एक नवीन वैयक्तिक संकट में फंसकर, वास्तविकता नव्यतर चेतनाओं की खोज में निकल पड़ती है, अहंवादी पीछे छूट जाते हैं।

सप्तम दशक में इसीलिए बाह्य वास्तविकता के दबाव से अब प्रतिबद्धता, युयुत्सा, क्रांति, पक्षधरता, दायित्व आदि के स्वर पुनः जाग्रत हुए हैं। इसी दशक में "भीड़" ने साबित कर दिया कि वह विरोध और युद्ध के लिये सक्षम है, पिछले चुनाव सबूत हैं। वियतनाम के युद्ध से उत्पन्न ऊष्मा गवाह है कि आदमी की नियति के विषय में निराशावाद और कुंठा व्यर्थ है और यह, कि "भीड़" कही जानेवाली जनता का सहज विवेक, नई कविता के प्रतिगामी कवि से बहुत आगे है। इसलिये सप्तम दशक के नव्यतर कवियों में कविसत्य और बाह्य सामाजिक सत्य में पुनः समायोजन दिखाई पड़ता है। परिवर्तन की तीव्र कामना ही इस नव्यतर चेतना का मुख्य लक्षण है। यही 'गिरवंग' के 'हाउल' और 'अमेरिका' शीर्षक कविताओं में व्यक्त हो रही है और यही भूखी पीढ़ी, विद्रोही पीढ़ी, अकविता पीढ़ी आदि में। जगदीश गुप्त ने शुष्कप्राय शाखाओं को, अक्षय हरियाली से गदबदी शाखाओं प्रशाखाओं के साथ गड्डमड्ड कर दिया है यह 'द्वन्द्वबोध' के अभाव का द्योतक है।

सप्तम दशक में एक नई वक्तव्यता का प्रयोग हो रहा है जो स्थूल और सूक्ष्म रूपों में व्यक्त हो रही है। स्थूल रूप में इसे धूमिल की पटकथा (आलोचना, मार्च ६८) में और रणजीत-राजीव सक्सेना वगैरह की "प्रतिश्रुत पीढ़ी" में देख सकते हैं और चेतनाप्रवाही अवितिहीन शैली में उसे "खण्ड-खण्ड" पाखण्ड पर्व में देख सकते हैं—लेकिन वक्तव्यता और 'विस्तार' दोनों प्रारूपों में मिलता है। यहाँ बनौटनाई मानव नियति की खोज नहीं है अपितु आसपास के असंताप के विरुद्ध लड़कर स्वयं नियति बनाने का इरादा है।

उन्होंने किसी चीज को सही जगह नहीं रहने दिया है।
न संज्ञा न विशेषण न सर्वनाम
एक समूचा सही वाक्य, टूटकर बिखर गया [३]।

मासूमियत के हर तकाजे को ठोकर मार दो
अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो। (धूमिल)

× × × × ×

अमरीका, मैं कम्युनिस्ट हुआ था जब मैं बालक था।
मुझे खेद नहीं है।
मैं मरीआना फूंकता हूँ जब भी अवसर पाता हूँ।
मैं कई दिनों अपने घर में बैठा रहता हूँ
और गुलाबों को घूरा करता हूँ।
जब मैं चीना टाऊन जाता हूँ तो शराब में धुत होता हूँ।
मुझे निश्चय हो गया है कोई आफत आने वाली है। (गिंसबर्ग)

यह वाक्‌विधि 'आत्मपरक कथनविधि' के विपरीत 'वक्तव्यविधि' है जो जनता की चीज है जनता के मध्य की चीज है। इसके लिये गिंसबर्ग ने 'आइम्बिक छन्द' को छोड़ा और टी० एस० इलियट की प्रसंगगर्भितवाली और एजरा पौण्ड की बिम्बवादी लघु रचनाओं की कसावट की जगह बिखराव और विस्तार को पसंद किया। 'क्रुद्ध' और प्रबुद्ध आलोचक' गोपाल कृष्ण कौल का मत है 'नगीने में पच्चीकार और कारीगर' कवि नहीं होते, क्यों कि वे एक पूरे युग की आकांक्षाओं को समझ नहीं पाते। एक खास मुहावरे को लेकर संकीर्ण घेरे में घूमते हुए वे समझते हैं कि वे कवि हैं। नए युगों के अन्वेषी ही कवि होते हैं किसी नई पगडण्डी की खोज बहुत बड़ी प्रतिभा का सबूत नहीं होता।

विद्रोह का यही स्वर सप्तम दशक का मुख्य स्वर है। कलाश वाजपेजी के अस्तित्ववादी लहजे में भी यही व्यापक विरोध है। यों अब उनमें 'ठण्डापन' और दुहराव आ रहा है, स्वाभाविक भी है।

राजकमल एक तान्त्रिकनुमा विद्रोही कवि थे। 'मुक्ति प्रसंग' के विभिन्न अभिव्यक्ति के अभाव आदि पर तो कुछ 'ठण्डे ज्वालामुखी' कवियों ने सही कयास तय किये हैं। किन्तु यह विरले ही कहते हैं कि मुक्ति प्रसंग विद्रोही युग का दस्तावेज है, जिसने नई 'कविता की मासूमियत' को बनावटी साबित कर दिया है।

यहाँ वक्तव्यता एक दूसरे लहजे में, चेतना प्रवाह शैली में मणि मधुकर ने अपनाई है —

"खुदकशी करने से पहले मुझे अपने आवेग का कारण जान लेना होगा।

यह भी कि मैं अकेला नहीं हूँ।
और भी हैं जो साधनों के अभाव में जिन्दा हैं
आवाज जिनके गलों में जम गई है बर्फ की तरह।
असमर्थ हैं जिनके हाथ
चाहकर भी जो मौत के फन्दे उसकी सूजन तक पहुँच नहीं पाते।
सयानी लड़कियाँ के सयाने रामपुरा की बरहम बेसब्री से
रौंदता खौंदता हुआ भाग रहा है एक हब्शी
और मैं रात दिन ख्याल किए बगैर उसका पीछा कर रहा हूँ।

यह गवाहों का बयान नहीं है, लड़ाकू छापामारों का आत्मपरिचय है। नई कविता में अगतिशील 'रिरियाते' हुए चित्रित मनुष्य से सप्तम दशक की मानवमूर्ति सर्वथा भिन्न है। अब 'मणिधर' अपनी असलियत खुद कहने लगे हैं —

मेरी असलियत में एक छेद है,
चुगलखोर है और सचमुच मुझे इसका खेद है।
(जो चोर है खतरनाक है, वह अपने अभियोग से बरी है।)
महसूस तो करता हूँ कि मुझ में गर्मी है या गर्मी की खाली है।
(मौलिकता पर भरोसा नहीं रहा।) (मणि मधुकर)

इस वक्तव्य खाली में प्राय व्यर्थ दुहराव है, उदाहरण के लिए कोष्ठक बन्द पंक्तियों को निकाला जा सकता है उसमें एक अजीब 'घुन्नापन' और 'अनापशनापी भुनभुनाहट' भी है जैसे वह मन ही मन, वास्तविकता के स्पष्ट बोध के बिना भुन भुन कर रहा हो। लेकिन नई कविता के पाखण्डों का खण्डन करने के लिए भी यह रचना लिखी गई है, यह स्पष्ट है।

षष्ठ दशक में आवेश के कारणों को जानने की छटपटाहट नहीं थी वस्तुत छायावाद की भावुकता के विरोध के बावजूद नई कविता के एक बड़े अंश में 'ताव' बहुत था। वह ताव अब भी बहुत है लेकिन 'कथ्य' परिवर्तन बोधक होने से वह धरातल से जुड़ा हुआ है।

सप्तम दशक में 'आत्महत्या के विरुद्ध' जैसे शीर्षक यही इंगित कर रहे हैं। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की प्रसिद्ध रचना में अब खिड़की नहीं

सोनू गा' में भी यही क्रांति की आहट का अहसास है। अर्थात् 'पुराने नए कवि' भी सप्तम दशक के आक्रोशी स्वर को पहचान रहे हैं। श्रीकांत वर्मा के 'माया दर्पण' में हालात के ऊलजलूलपन का तीखा अहसास और उस पर खीझ और बौखलाहट है नफरत के रूप में चेतना जैसे एंठ रही हो, या गुस्से में गाली देने के अलावा जैसे कोई उपाय न हो।

सप्तम दशक का एक सशक्त स्वर युयुत्सापरक रचनाओं में मिलता है। चन्द्रमौलि उपाध्याय का 'युद्धश्रेयस' इस रूप की क्लासिक रचना कही गई है। इस काव्य की महाकाव्योचित गम्भीर भाषा की कुबेरनाथ राय ने (युयुत्सा, जनवरी ६८) प्रशंसा की है, जिसका एक वाक्य ध्यान देने योग्य है—

"इतना सुन्दर और महाकाव्यों जैसा गम्भीर भाषा में साठोत्तरी पीढ़ी की किसी प्रतिभा ने नहीं कहा है और कहा भी है तो अपशब्दों की भाषा में या सागभाजी की भाषा में। सागभाजी की भाषा में कुंजड़े से भगड़ा किया जा सकता है भविष्य का तूर्यवादन और स्वर्ग का पाठ नहीं है।

सप्तम दशक की काव्यभाषा के वैविध्य का यह प्रमाण है।

एक और प्रवृत्ति उदित हुई है कविता में कहानी कहते चलने की प्रवृत्ति इसमें रचना का भीतरी ढांचा बिखरता नहीं है और कहानी सिर्फ अनुभूति के लिये मार्गदर्शक होने के कारण कविता से स्वतन्त्र स्थान नहीं बनाती सहायक मात्र रहती है। यह प्रवृत्ति 'पटकथा' में भी है और यत्किंचित 'युद्धश्रेयस' में भी। धूमिल के 'मोचीराम' (आरम्भ, अप्रैल १९६८) में भी यही गली है।

छठे दशक में कविचेतना और परिवेश एक दूसरे का अस्वीकार करने के क्रम में थे। निरर्थकता का बोध इसी की परिणति थी। लेकिन अब चेतना परिवेश को अनुकूल बनाने को कटिबद्ध हो रही है जिसके लिए निरन्तर विद्रोह अनिवार्य है—

मैंने इतिहास के रथ को नहीं रोका
मैंने इसे कभी मुक्त नहीं किया
मैं कभी मुक्त नहीं हुआ इतिहास के झूठ से
अपने अहंकार से देवत्व की कल्पना से
युद्ध से अपने आप से, पारतन्त्र्य से
मैं समय से कभी नहीं छूटा,

'नई कविता' में जिस बौद्धिक गद्य की भरमार हुई थी, उससे इस तरह की अ-कविता की गहराई सप्तम दशक में ही पहचानी जा सकी।

इस प्रकार सप्तम दशक आक्रोश और विरोध का दशक है। क्या हमारी आधारभूत चेतना में कोई अब तक गुणात्मक परिवर्तन हुआ है? स्पष्ट उत्तर है कि अभी तक तो नहीं लेकिन सप्तम दशक दिशा निर्देशक तो अवश्य है। यदि सामाजिक ढाँचे में हम परिवर्तन न कर सके तो सप्तम दशक के नये-नये विद्रोहों का भी यही हाल होगा जो अमेरिका में 'बीट कविता' का हुआ है —

'अंतिम रूप में बीटस से कोई अंतर नहीं पड़ा। पुरानी सामाजिक स्थिति यथावत है। विद्यालय छात्रों से भरे हैं। (पाठयक्रम में विद्रोही कवियों को शामिल कर लिया गया है)। कल जिससे लोग चौंकते थे, आज उसे काव्य संग्रहों में शामिल किया जाता है। पुराने कवि गिंसबर्ग के कुछ छंदों का अनुकरण कर रहे हैं, जबकि नव्यतर 'आयंबिक पटामीटर' को अपना रहे हैं, और आनंदित हैं। मूलभूत चेतना वहीं बनी हुई है—यद्यपि "पुराने" को एक ठोकर अवश्य लगी है। नए नशों की ओर रुचि बढ़ी है। अब काकटेलपार्टी की जगह चण्डू और गाँजापार्टी हुआ करेगी, दाढ़ियाँ आवश्यक मानी जाएँगी। समलिंगिक प्रेम स्वीकृत हो जाएगा किंतु बीटस की गंदगी को स्वीकृति नहीं मिलेगी क्योंकि साबुन के उपयोग में बहुत रुपया लगा है।' (बीटिंग फार द एण्ड, एल ए फिडलर पब्लिन सीरीज)

कहाँ यही स्थिति भारत में न हो लेकिन यदि अमरीकी पूँजीवाद का अनुकरण बढ़ता गया तो यही होगा। क्रांति जब तक ढाँचे को नहीं बदलती तब तक ऊपरी विद्रोह सिर्फ स्वांग में परिणत होते रहेंगे। हम वास्तविक क्रांतिकारी साहित्य की आवश्यकता है जो केवल मन की असलियत को ही सम्मुख न रखे बल्कि चारों ओर जो कुछ सत्य और असत्य है उसे कहे। सप्तम दशक के काव्य का रुख इसी ओर है।

डा० जिवागो का रोग निदान

वैज्ञानिक क्षेत्र में रूसी राकेट ने जितनी प्रसिद्धि और प्रशंसा पायी है, साहित्य क्षेत्र में बोरिस पास्टरनाक के उपन्यास डा० जिवागो के प्रकाशन से रूस की उतनी निन्दा भी हुई है। इस उपन्यास को कूटनीति का लक्ष्य बनाया गया और इस पर नोबेल पुरस्कार दिया गया। रूस ने इस के प्रकाशन को उचित न समझने के कारण साम्यवादी व्यवस्था को लांछित किया गया और सबसे बड़ी उपलब्धि यह हुई कि जिन्होंने इस उपन्यास को कभी नहीं पढ़ा, उन्होंने भी साम्यवाद की भरपूर निन्दा की। यह घोषित कर दिया गया कि रूस में मनुष्य को वैधानिक स्वतन्त्रता नहीं दी गयी है, वहाँ आर से भी गये बीते नरभक्षक दानव रहते हैं।

मैं इस कूटनीति के चक्र को एक ओर रख कर इस उपन्यास का विश्लेषण पसन्द करूँगा, ताकि पाठक को अपना मत निर्धारित करने में सुविधा रहे। इस उपन्यास का उद्देश्य क्या है? डा० जिवागो के मुख से ही सुनिए।

'क्या मार्क्सवाद विज्ञान है? सम्भवतः उसे विज्ञान बताना खतरनाक है— मार्क्सवाद से अधिक आत्म केन्द्रित व तथ्यों से दूर शायद ही कोई चलन होगा।'[1]

इस प्रकार डा० जिवागो का उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि मार्क्सवाद वैज्ञानिक नहीं है, यह आत्म केन्द्रित एवं अव्यावहारिक है।

इसी उपर्युक्त तथ्य को प्रमाणित करने के लिए यह उपन्यास लिखा गया है। डा० जिवागो अर्थात् बोरिस पास्टरनाक की राय में मार्क्सवाद वैज्ञानिक इसलिए नहीं है कि राजनैतिक सत्ता उनके हाथ में है व सत्य का सामना नहीं करते और अपनी पौराणिक कल्पनाओं यानी मार्क्सवादी विचारों को ही सत्य घोषित करते रहते हैं।[2]

---

१ डा० जिवागो पृष्ठ २३५
२ वही पृष्ठ वही।

तब डा जिवागो की सहानुभूति कहाँ है ? क्रांतिविरोधियों के साथ। डा जिवागो को प्रथम जार की सेना म काम करना पडता है, वह अपना काम मुस्तैदी से करता है। किन्तु क्रांति के समय डा जिवागो को विवश होकर क्रांतिकारियो के साथ कुछ समय के लिए रहना पडता है। क्रांतिविरोधियों के साथ एक बार लडने का भी अवसर आता है। डा जिवागो दुश्मन के सामने जमीन पर लेटा हुआ, भगवान से प्राथना करता है कि क्रांति विरोधियो की विजय हो। क्या ? क्योंकि शिक्षा, नतिकता और मानवीय मूल्यों की दृष्टि से डा जिवागो दुश्मनो के साथ अपना साम्य देखता है।

डा जिवागो की यह विशेषता है कि उसके मन मे साम्यवादी शिक्षा, उद्देश्य रुचि तथा साम्यवादी क्रांति के प्रति घोर घणा है वह कही भी किसी भी रूप म साम्यवादियो स समझौता नहा करता। अब तक जितना साहित्य साम्यवाद विरोधी प्रकाशित हुआ है सम्भवत साम्यवाद के विरुद्ध इतनी घणा कही नही प्रकट हुई है। नोबलप्राइजदान का यही कारण है।

अतत डा जिवागो की इस नफरत का कारण क्या है ? डा जिवागो समृद्ध और सुरक्षित मध्यवर्गीय परिवार का सदस्य है। बचपन म ही उसने माता पिता की मृत्यु देखी थी। अत एक प्रकार क दु खवाद और फलस्वरूप निराशावाद स वह पीडित रहा है। यद्यपि उसका लालन पालन और शिक्षा दीक्षा एक प्रोफसर क यहा हुई तथापि बचपन के दुख ने उस अतमु खी बना दिया है। उसने मन क भीतर ही एक अपनी दुनियाँ बसा ली है उसस बाहर वह कभी नही निकल सका। अत वह बाह्य जीवन सघष, ऐतिहासिक उत्थान-पतन, क्रांति प्रतिक्रांति आदि को उसी दुख और निराशा की स्थिति मे देखता है उसका मूल्यांकन करता है। डा जिवागो रूसी क्रांति क समय हिंसा को देखकर समझ लेता है कि जार की ही तरह साम्यवादी भी बबर हैं। इसके सिवा डा जिवागो की धार्मिकता भी क्रांति विरोधिनी प्रवृत्तियों का कारण है। लेखक इस उपन्यास म जगह जगह पर ईसाई धम के अध विश्वास और जार क साथ उसके षडयन्त्रो को नहा देखता, उसे चच की घटियों की आवाज का मधुरता और प्राथना क समय की शांति का आनन्द अधिक पसन्द है।

अतत ५०० पृष्ठो क इस उपन्यास का नायक करता क्या है ? वह जार की ओर स लडता है लडाई क समय लारा से उसका परिचय होता है लारा ने पाशा से किशोरावस्था म विवाह किया था। क्योंकि वह कामारोवस्की नामक एक चरित्रहीन किन्तु प्रभावशाली व्यक्ति की वासना का शिकार बन

चुका था। कामारोवस्की ने ही डा जिवागो के पिता को घुला घुला कर आत्महत्या के लिए विवश किया था। डा जिवागो मोर्चे से मास्को लौटता है। क्रांति भड़क उठती है। डा जिवागो क्रान्ति के पक्ष मे नही था। अत वह भागता है मार्ग म वह साम्यवादियो द्वारा 'बलात श्रम' के दल देखता है, हजारो घर उजड जाते हैं जगल का राज्य स्थापित हो जाता है। उपन्यास के प्रथम भाग म इतना ही है। कमारोवीन डा जिवागो के माध्यम से लेखक ने क्रान्ति की बरहमी का खौफनाक वणन किया है। ऐसा नही जान पडता कि क्रान्तिकारी साम्यवादी कुछ सिद्धान्तो का लेकर लडे थे। ऐसा लगता है कि वे केवल दरिन्दे थे, जिन्हें आदमी का खून पीने म ही मजा आता था।

उपन्यास के द्वितीय भाग म सायबेरिया की यात्रा मे जिवागो का परिचय स्ट्रेलिकव नामक क्रान्ति समथक एक सेनापति से होता है जो वस्तुत लारा का पति पाशा था वह लारा के वास्तविक प्रेम को पाने के लिए युद्ध मे चला गया था। डा जिवागो युर यतिन प्रदेश मे अपनी पत्नी टोनिया के साथ गुप्त रूप स रहता है और यहाँ भी सामदन्यावत नामक क्रांति समथक व्यक्ति के भ्रष्टाचार पर अवलम्बित रहता है।

सत्य बाम उस साम्यवादियो पार्टीजन को सना म विवश होकर काम करना पडता है। वहाँ से भी वह भागता है। लौट कर लारा स मिलता है। किन्तु लारा को कोमारोवस्की फिर उठा ले जाता है। इसी बीच लारा के पति पाशा पर से साम्यवादियो का विश्वास उठ जाता है और वह विवश होकर आत्महत्या कर लेता है। डा जिवागो सायबेरिया से भाग कर पुन मास्को आता है, और उसकी पत्नी टोनिया के पेरिस चले जाने के कारण पुन विवाह करता है दो बार बच्चा को जन्म दता है और रात दिन लारा के वियाग और साम्यवादियो की क्रान्ति के नरसहारों से परेशान होकर एक दिन इस दुनियाँ से चल बसता है।

स्पष्ट है कि डा जिवागो एक अतमुखी पात्र है जो शुरू से अन्त तक केवल दबाव रहता है। वह केवल क्रान्ति के कारण उत्पन्न कष्ट को अनुभव करता है और साम्यवादियो के प्रति घणा को चुपचाप मन म भरता रहता है। वह एक स नही तीन तीन के साथ प्रेम लीला रचता है और उनम स एक के प्रति भी सच्चा नहीं रह पाता। टोनिया की उसके विषय म राय है—

"तुम असाधारण हो, तुम म अनेक अ तर्विरोध हैं ।"[१] यद्यपि यह बात प्रशसात्मक लहजे म कही गयी है लेकिन इस उप यास को पढ कर कोई भी देख सकता है कि यूरी या डा जिवागो के चरित्र मे अनेक अ तर्विरोध हैं। क्रान्ति से भयभीत होकर सायबेरिया म छोटी माटी खेती म किये गये श्रम की तो जिवागो प्रशसा करता है। किन्तु वही जिवागो श्रम के गौरव के स्थापक लेनिन और उनके साथियो को कातिल और जाहिल समझता है। वह कोमारोवस्की से घोर घृणा करता है किन्तु उस अशान्ति के समय मे भी बदला नही लेता। वह लारा के प्रति अवध प्रेम को अनुचित समझता है, फिर भी करता है। उधर बेकारी बढ़ता, रोग की स्थिति मे वह मेरीना से विवाह कर लेता है जब कि उसे आशा थी कि उसका अपना परिवार पेरिस म था और वापस आने की आशा भी थी। वह क्रान्ति का विरोधी है तथापि युद्ध नही करता किसी क्रान्तिविरोधी कायवाही मे भाग नही लेता केवल अपनी रुचियो, अपनी प्रतिभा और अ तमु खता की स्थिति मे प्रकृति के दृश्यों का आनन्द लेता रहता है। वह दवी जुबान से एक जगह साम्यवादियो की मानसिक दृढता की तारीफ भी करता है परन्तु साथ ही क्रान्ति के समय उन की घोषणाओ का उतना बुरा असर उस पर नही पडता जितना उन घोषणाओ की पुनरावृत्ति का। जिवागो के दोस्त दुदरोव तथा गोरडन को उसके विषय मे यह राय सही थी कि वह अपने विचारो से ही उलझने वाला व्यक्ति है जिवागो जानबूझ कर कर अपने जीवन को बरबाद करता है, जसे उस बरबादी म उसे आनन्द हो।

जिवागो के चरित्र से अधिक सफल पात्र लारा है जो अपने शत्रु कोमारोवस्की को ठिकाने लगाने के लिए उसकी हत्या तक के लिए सन्नद्ध हो जाती है। वह पति की खोज के लिए मोर्चे पर नस बनती है, कठिन परिस्थितियों मे कभी नही घबडाती और अहसान करन वालो से अपना दामन बचाये रखती है। उसके मानसिक सयम की स्वय जिवागो भी तारीफ करता है। वह शिक्षा, गृहस्थी, प्रेम सभी क्षेत्रो मे एक आवपक महिला हैं।

इन दोनो पात्रो के अलावा कोमारोवस्की की दृढता और सफलता भी आकषक है। लारा के पति पाशा की दृढता तो अद्भुत है। टोनिया की माता तो धार्मिक है परन्तु इस उपन्यास के पात्रों म अधिकतर पात्र ऐसे हैं जो पीछे याद नही रह सकते। ऐसा लगता है कि एक ही तथ्य को पाठको के सम्मुख रखने के लिए अनक पात्र गढे गए हैं अत लेखक का ध्यान उस वास्तविकता को

१ डा जिवागो पृष्ठ २१४

बाँधने पर है, पात्रो के चित्रण पर नही। वह वास्तविकता क्या है? साम्यवादी क्रांति की नग्नता, साम्यवाद की निन्दा प्रतिक्रांतिवादियो की प्रशंसा।

उपर्युक्त वास्तविकता को चित्रित करने के लिए लेखक ने कथावस्तु म आकस्मिक तत्वो का बहुत अधिक प्रयोग किया है। इससे उपन्यास का बचपन ही प्रकट होता है। जिवागो की गोली ठीक वहीं लगती है जहाँ शत्रु टाइग्स के दल का सिपाही एक यन्त्र बाँधे हुए था। जिवागो का छद्मवेशी पाशा से भेंट होना फिर भी पाशा का उसकी रक्षा के लिए कुछ न करना, कोमारोवस्की का भूत की तरह चाहे जहा प्रकट हो जाना, आदि एक नही अनेक घटनाएँ ऐसी हैं, जिनम अद्भुत तत्व का प्रयोग किया गया है। यह नहा है कि ऐसे सयोग नही होते, परन्तु सयोग के बल पर ही कहानी की गति देने से उपन्यास महान नही बनता।

सयोग की अधिकता भी बर्दाश्त की जा सकती है यदि पढने म यह उपन्यास इतना अधिक ऊब पदा करने वाला न होता। पर्याप्त धीरज के साथ इस उपन्यास को पढा जा सकता है क्योकि लेखक एक कवि भी है अत दृश्य वर्णन का लोभ संवरण नहीं कर सका है। दृश्यो के साथ साथ असम्बद्ध विवरणो की भी अधिकता है। आलोचको ने लेखक की प्रकृति-चित्रण की बडी प्रशसा की है। यत्रतत्र प्रकृति के दृश्यो को सुदरता से अंकित किया गया है, यह सच है। किन्तु विवरणों मे कसाव नहीं है। प्रवाह जो जीवन का चिह्न है कहीं भी नहीं आ पाया है। चिंतन व निरीक्षण का अर्थ यह नहा होता कि हर भूलतापूर्ण बात का उल्लेख होना ही चाहिए—चयन यहाँ भी आवश्यक होता है। अत इस उपन्यास का वर्णनात्मक पक्ष कमजोर है। वस्तु मे क्रिया के अभाव तथा विवरण के आधिक्य ने इस उपन्यास को काफी कमजोर कर दिया है।

फिर भी उद्देश्य, चरित्र चित्रण और कथावस्तु की दृष्टि से कमजोर होने पर भी यह उपन्यास दुदिंसव के नॉट बाई ब्रेड एलोन की तरह एक महान् रचना भले ही न हो फिर भी उसे असफल उपन्यास नहीं कहा जा सकता। यदि हम कला की पूर्णता पर ध्यान न दे उद्देश्य की अपवित्रता पर पर भी विचार न करें तो इस उपन्यास म लेखक की घनीभूत पीडा निश्चित रूप से इसे एक उल्लेखनीय उपन्यास बनाती है। लेखक अपने परिवार के लिए और सुविधा के लिए मगर के आँसू नहीं बहाता, सच्चे आँसू बहाता है।

"आह मेरे प्यारे बच्चो, तो तुम सब मास्को में ही हो। तुमने अकेले ही इतनी लम्बी यात्रा की? यह कैसे सम्भव हुआ? तुम्हें वहाँ कैसा मकान मिला होगा? मैं भी कितना मूर्ख हूँ, मैं यह भी नहीं जानता कि वहाँ मास्को में मकान बचा भी होगा या नहीं?"

"हे ईश्वर! यह सब कितना दारुण और कष्ट दायक है। यदि मैं यह सब सोच न पाता। मैं स्पष्ट रूप से नहीं विचार कर पा रहा हूँ। टोनिया भी समझती है कि मैं रुग्ण हो गया हूँ, हम लोगों का अब क्या होगा? टोनिया, टोनिया, प्यारी टोनिया! तुम्हारा भविष्य अब क्या होगा? हे शाश्वतप्रकाश! मुझे तुम क्यों दूर फेंक दिया? हम हमेशा ही बिछुड़े रहे। हम फिर एक होंगे। चाहे मास्को तक फिर पैदल ही क्यों न चलना पड़े, हम फिर एक दूसरे से मिलेंगे, हम कुशल से रहेंगे।"[२]

ये भाव सच्चे हैं यद्यपि ये एक ऐसे संकीर्ण व्यक्ति की भावनाएँ हैं जो हजारों वर्ष के उत्पीड़न से त्रस्त सामान्य जनता के सात्विक क्रोध से भयभीत है। किन्तु फिर भी यह तो मानना ही होगा कि जिवागो की अनुभूति चाहे वह संकीर्ण भले ही हो, सच्ची है। उसने जो अनुभव किया है वह लिखा है, अतः वह प्रभावित करता है। कठिनाई यह है कि वह अपने दर्द से कभी भी ऊपर नहीं उठ पाता और कोई भी मनुष्य केवल दर्द की दृष्टि से ही तथ्यों को देखे, यह सहनीय नहीं हो सकता। अतः जिवागो की सफलता का कारण उस का अपना दर्द और हृदयचित्रणशक्ति है। और उसकी असफलता का कारण भी यही दर्द है। क्योंकि उससे ऊपर उठ कर ही इतिहास के साथ न्याय किया जा सकता था। क्रांति के ४० वर्षों की प्रगति जिस लेखक के सम्मुख हो, वह उस की प्रशंसा में एक शब्द न कहे यह देख कर आश्चर्य और दुःख होता है।

डा० जिवागो में रुग्णता सब जगह व्याप्त है उसमें मिथ्यात्व का प्रवेश हो गया है और उसी मिथ्यात्व की समाजवादविरोधियों ने प्रशंसा की है। उसी मिथ्यात्व के लिए नोबल प्राइज दिया है। अत्यधिक अन्तर्मुखी कला यद्यपि हृदय से निकलती है और हम कह चुके हैं कि यह विशेषता डा० जिवागो में है अपने ही प्रश्नों की पुनरावृत्ति करती है। वह अपने असंतोष को व्यक्त करते नहीं थकती, किन्तु उसी में उलझ कर रह जाती है। डा० जिवागो इस प्रकार की अन्तर्मुखता से जिसमें सामाजिक और ऐतिहासिक सच्चाई को न समझ

---

२ वही पृष्ठ ३५१।

की नापय मा ली जाती है अवश्य पीडित है। दुर्दिलेव न भी रूसी सरकार के मंत्रिया और अफसरों के घमड, दुराग्रह, महात्वाकाक्षा, तथा हर नयी बात का विरोध करने की प्रवृत्ति का पदाफाश किया है, किन्तु दुर्दिलेव को यह भी मालूम है कि जनता को मुक्ति दिलाने म साम्यवादी ही अग्रगण्य थे और नवनिर्माण का श्रेय भी उन्ही को है, अत मार्क्सवाद को कायरूप म परिणित करते समय दोषा की आलोचना उसकी सेवा है, क्तव्य है, जो दुर्दिलेव ने पूरा किया है। परन्तु बोरिस पास्तरनाक की अ तमु खता का परिणाम यह हुआ कि इतिहास म प्रथम बार जनता के मुक्ति सग्राम के औचित्य के आगे एक प्रश्न चिह्न लग गया है। कोई यह नही कहता कि साम्यवादी-क्रान्ति मे कुछ भी अनुचित नही हुआ, बाढ़ आने पर किनारे कट जाते हैं, पेड भी धराशायी होते हैं और कीचड भी फल्ता है। परन्तु बाढ वास्तविक वृद्धि का एक मात्र उपाय है। अत असलियत से आँख बन्द कर लेने के कारण जो सफलता दुर्दिलेव को अपनी रचना "नाट बाई ब्रैड एलोन" मे मिली है, वह डा जिवागो के बोरिस पेस्टरनाक को नही मिल सकी।

विद्रोह कविता के विरुद्ध

यह अजीब संयोग है कि हिन्दी का प्रथम कवि सरहपा विद्रोही कवि था, यही प्रवृत्ति समकालीन अनेक कवियों में मिलती है। भारतीय भाषा के कवियों को विपरीत परिवेश से निरंतर द्वन्द्वयुद्ध करना पड़ा है। सरहपा के समय सामन्तशाही और सम्प्रदायशाही का आडम्बरमय दबाव था। मध्ययुग में विदेशी शासन, ह्रास और विग्रह था, दुःख था, दारिद्र्य और सांस्कृतिक शोषण था। भक्तिकाल के कवि इसके विपरीत, धार्मिक प्रतीकों के माध्यम से, सदव संघर्षरत रहे थे। रीतिकाल में भी भक्तों और "भूषणों" की एक धारा लगातार जूझती रही और आधुनिक साहित्य में भी एक प्रबल धारा परिवेश से जूझ रही है।

लेकिन इस यशस्वी विद्रोह में सर्वत्र कला और कविता के स्वरूप की क्षति न हुई हो यह समझना भ्रम मात्र है। सिद्धों सन्तों भक्तों और आधुनिकों ने प्रचारात्मक काव्य भी बहुत बड़ी मात्रा में लिखा है और इस प्रचारपरक अंश का, अकविता कहकर समर्थन नहीं किया जा सकता। बड़े से बड़े कवियों में—तुलसी और सूर में भी—ऐसे अंश सहजता से अलग करके देखे जा सकते हैं। भारतेन्दु युग में भी प्रचारात्मकता मिलती है। द्विवेदी युग में तो कविता उपदेश का पर्याय बन गई। छायावाद में कला तत्व पर ध्यान दिया गया, और यह द्रष्टव्य है कि 'क्रान्ति' से सम्बन्धित कविता के श्रेष्ठ उदाहरण निराला ने ही 'बादल राग' 'भिक्षुक' जैसी रचनाओं द्वारा प्रस्तुत किये।

प्रयोग और विद्रोह के दशक में कुकुरमुत्ता से प्रारम्भ होकर प्रथम चार सप्तक की रचनाओं का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि कविता के तत्व की सर्वत्र रक्षा नहीं हो सकी। प्रयोग के नाम पर सप्तकों और नयी कविता में कूड़ा कम नहीं है। इस बिन्दु पर भी काव्य कला विकास दो अतियों से पीड़ित रहा है। या तो प्रचारात्मक तत्व या अभिधेयता प्रबल हो गई है अथवा कविता अत्यधिक दुरूह हो गई है। मुक्तिबोध इस दुरूहता दोष के शिकार थे। कविता के अत्यधिक 'मनोविज्ञानीकरण' से कथ्य का स्पष्ट

बिम्ब उभर नहा पाता क्योंकि प्रत्येक कला मे आत्मगतता और वस्तुगतता के द्वन्द्व का एक विशिष्ट समन्वय ही प्रस्तुत होता है। जहा इनमे किसी एक तत्व का अतिरेक हुआ, वही रचना या तो सतही हो जायेगी, अथवा एक अस्पष्ट (नबुलस) गुनगुनाहट या "धुनेपन" से ग्रस्त हो जायेगी, अथवा वह क्रमहीन, बिखरे हुए चित्रो का विचित्र बडल बन जायेगी।

इस देश मे सृजन सवदा क्रिया प्रतिक्रियात्मक रूप लेकर चलता है, इसका कारण हमारा पिछडापन है। ऐसे व्यक्तियो का अभाव है, जिनकी चेतना की प्रयोगशाला में, प्रतिक्रियाएँ तथ्यो के साथ, एक समीकरण, एक सगति प्राप्त कर सतुलित रूप म व्यक्त हो सकें। पराये को पचाये बिना सजन, मात्र प्रतिक्रियात्मक या अतिवादी ही होगा।

१ इस प्रवत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण सन ३० के बाद की कविताओं मे मिलता है। स्वच्छदतावादी काव्य आकाशमार्गी होता गया, तो प्रगतिकामी काव्य नारेबाजो मे परिणत होने लगा—'वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलकार' कहने वाला कवि भाषा को मात्र विचार का वाहन ही मानने लगा। इस स्थूलता के विरुद्ध प्रयोगशील नई कविता ने व्यक्ति सत्यों को व्यक्त करना प्रारम्भ किया और यह कविता अत्यधिक वयक्तिक और अन्तमुखी हो गई। भाषा नई होती गयी तत्व गायब होता गया। बिम्ब और प्रतीक नये आये लेकिन भीतर की ऊष्मा के अभाव मे, धारणाओं और अधसत्यो का वमन किया जाने लगा। व्यक्ति—स्वातन्त्र्य के तक को क्षीव कर अराजकता तक पहुँचा दिया गया। किसी भी प्रकार के अनुशासन को अत्याचार मानने के कारण, कला के आतरिक अनुशासन की भी हानि होनी ही थी। केवल 'अन्दरूनी उलझाव" का साक्षात्कार और उस 'सना—बना' के द्वारा व्यक्त करने को ही पुरुषाथ मान लिया गया। जिसने जरा भी चूँ चपड की, उसे दकियानूसी और दरिंदा घोषित कर दिया गया।

इस अतिवयक्तिकता और अतमुखता के विरुद्ध इस दशक (१९६९-७०) मे पुन प्रतिक्रिया हुई। अब कविता पुन सतही और प्रचारात्मक होती जा रही है। उसम 'सामूहिक सत्यो को ओर देखने अथवा अपनी खोल से निकलकर, बाहर झाँकने की प्रवत्ति तो है लेकिन आन्दोलनों की तोड़फोड और नारेबाजी स यह कविता बुरी तरह प्रभावित है। विद्रोह समाज की असगतियो से अवश्य होना चाहिए। साहित्य की रूढियों और 'अपनी" रूढ़ियो से भी विद्रोह आवश्यक है क्योंकि विद्रोह ही इस "दलदली देन' का एक मात्र उपचार है। लेकिन कविता प्रचार म बदल कर, चेतना पर स्थायी

प्रभाव छोड़ नहीं सकती। यह नहीं है कि इस मोटी बात से विद्रोही कवि परिचित न हों, लेकिन प्रतिक्रियात्मक क्रिया से वह बच नहीं पाते, चाहे वह 'अकविता' के कवि हों या 'अनागरिक' कवि हों या "श्मशानी पीढ़ी" के कवि हों या "भूखी पीढ़ी" के कवि हों। इसके विपरीत, अन्य कवि अब भी अपनी उलझनों को ऊलजलूल या उलझाऊ शैली में जान बूझकर व्यक्त करते हैं, अंत दोनों तरह की रचनाओं में विद्रोह स्वयं कविता के विरुद्ध होने लगता है। नतीजा यह होता है कि प्रगतिगामी तत्वों के 'अंगरेजी-दवा' साथ मुनादी कर देते हैं, "ये हिन्द के कवि हैं," ये अपने भोंडेपन और बदहज़मी पर कभी विजय प्राप्त कर ही नहीं सकते।

धूमिल की पटकथा के सतहीपन पर मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ। यहाँ कुछ अन्य "विद्रोही" कवियों से उदाहरण दूँगा और कतिपय विदेशी कवियों की रचनाओं के साथ उनकी तुलना करूँगा —

आइये बन्धु, हम सभी बुद्धि जीवी
कवि कहानीकार आलोचक
सभी हिजड़े इकट्ठे हो जायें
क्रोध से लाल हो, हवा में मुट्ठियाँ उछालें।
अपने लिंगों को बड़ा कर लें।
और अपने ही चूतड़ की तरफ उन्हें मोड़ दें।
हिरोशिमा और नागासाकी का जिन लोगों ने,
अपने जलते हुए लिंगों से रेप किया था।
क्या उन्हीं के समानधर्मी लोग,
आज कापका की माँ-बहनों का रेप नहा कर रहे हैं?
हाँ सो बन्धु आइये, हम सभी बुद्धिजीवी
नाक और माथे के बल परों को ऊपर कर
खड़े हो जायें अपने-अपने लिंगों को बड़ा कर
मुट्ठियों में थाम लें !!

(निमय मल्लिक, श्मशानी पीढ़ी
'विभक्ति तृतीय अंक)

इस "गाली कविता" या गन्दी कविता की शुरुआत से लगता था कि कवि अपने विद्रोह का आन्तरिकता देगा। आक्रोश का वमन न करके भावों को कम-कम कर शब्दों में दबायेगा और उसे प्रकट करने में कला का निर्वाह

करेगा ताकि प्रभाव गहरा हो लेकिन यह कविता कुंजड़ो—गाड़ीवानों रिक्शाचालकों की "पक्की बोली" का नमूना बन गई है। इसे पढ़ते समय, परम विद्रोही पाठक भी "निमय" को निमय होकर सिर्फ गालियाँ ही देगा प्रशंसा और प्यार नहीं, या मेरी तरह वह—निमय मल्लिक के विरोध तथा क्षोभ की प्रशंसा करेगा।

भद्रलोक की भद्रता का आडम्बर तोड़ने के लिए कविता को तेज चाकू में बदलना होगा, जो इस तरह तराश कर रख दे कि पता न चले लेकिन यह सीधी हिज्जड़ वाली, भद्रलोक के प्रति कम, कवि के प्रति अधिक नफरत पैदा करेगी। अब 'हलकी वक्तव्यता' के नमूने देखिए —

१ "नहीं" चाहता हूँ अब कोई ऐसी बात कहना
२ जिसमें किसी के लिये जरा भी सहानुभूति हो
३ या जिसमें अतीत की कोई स्मृति कोई गूँज
४ अपने या अपने किसी साथी के गाये
५ गीतों की हो। कोई तस्वीर नहीं देखना चाहता जो
पुराना हो।
६ हर पुरानी तस्वीर आकृति अब डरावनी
७ और दुर्गन्धमयी हो चुकी है—हर गाये गीत
८ अब मेरे लिये मातमी धुनों में भर गए हैं।
९ हर स्मृति, जो फूलों लदी थी, अब घिनौनी और
१० चिरायँधभरी, गहमगड्ड अधजले मुर्दों की कतार
११ बन चुका है

(मधुकर गंगाधर, सनीचर अगस्त १९६८)

यहाँ शब्द अपव्यय और सही शब्द न चुन पाने का सबूत यह है कि द्वितीय पंक्ति के बाद व्याख्या की जरूरत पड़ गई है। प्रथम दो पंक्तियों की अवधारणा में, कवि ने कोई कौशल नहीं दिखाया। व्याख्यात्मक पंक्तियाँ (३४५६) में चालू मुहावरा यथावत् अपना लिया गया [redacted] जैसे कोई नेताजी भाषण दे रहे हों। दसवीं पंक्ति में अधजले मुर्दों की कतार में कतार स्वर अवश्य है लेकिन घिनौना 'गहमगड्ड (चिरायँध)' शब्द व्यर्थ ही भर दिये गये हैं। इनसे 'अधजले मुर्दों की कतार' में पाठक की सक्रियता होती हुई कल्पना का धागा लगता है। शब्द पाठक का परिष्कार नहीं करता। सब कुछ कहा जाता है।

गनीपर के इसी अंक में अलखनारायण, हृषीकेश और समर्थ श्री राम सिंह की रचनाओं में थोड़ी चतुराई अवश्य है। लेकिन ये कवि भी अपने को बचाते हुए, चलते चलाते, कुछ फिकरों को फिट करने में लगे रहते हैं —

यह कब्रगाह या श्मशान नहीं है।
फिर भी मौत की छाया मँडराती रहती है।
नदी बहती है लाश पर तैर रही है।
राजकमल चौधरी की लाश।
हम घास काटते हैं घोड़ा हिनहिनाता है।
जैसे करता हो मेरे दुबक जाने का आह्वान
और मैं हूँ कि अड़ियल गधे की तरह रेंकता हूँ।

अलखनारायण की इस अकविता में 'विरोधों को आमने-सामने" रखने की शक्ति का कुछ अन्दाज तो होता है लेकिन अनुभूति सघन नहीं हो पाती अन्तिम पंक्ति सटीक है।

अलखनारायण की "अनागरिकता' (जून–१९६८) में छपी 'त्रिक' कविता, के बीच-बीच में कुछ स्थल पुरअसर हैं। लेकिन यहाँ भी 'सिल्ली उड़ाने" का चालू नुस्खा ही अधिक है।

पुस्तकों, घटालों और दलालों से मोक्ष प्राप्त कर
तुम रंग–बिरंगी चूड़ियाँ खरीद लो।
वितरित करते हुए उन्हें नामी गिरामी नीतियों के बीच
भाग जाओ जंगलों में— (त्रिक)

लेकिन कहीं कहीं कविता त्रिक जैसी रचना में भी झाँकने लगती है —

खतरा उठाया अश्लील हो लेने का
"साहित्यालोचन में विषय की अश्लीलता का प्रश्न उठाना असंगत है।"
विलक्षण एक और बात
तुम पाओगे कि वस्तुओं की स्तब्धता और ध्वनियों
के बीच नहीं है, कोई विरोधाभास। अज्ञात घात मे
अस्तित्व पर गहरा संशय प्रकट करेगा।
"एक अजनबी, दूसरे अजनबी पर बुरी तरह मरेगा"
(त्रिक)

आज की मजबूरियों, मुसीबतों और उनके विरुद्ध नाराजी पर अगणित रचनायें आ रही हैं। लेकिन श्याम परमार जैसे अकवि भी कहीं-कहीं कामयाब हो जाते हैं। कामयाबी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

मेरे माथे में किसी का हाथ तेजी से एक पेंच कसने लगता है।
घिरे हुए सवालों की कीलें चुभती हैं।
उनके बीच घिरी हुई जगह में सभी कोई चेहरा
शंकाओं से भरा ट्रक खाली करता है।
मेरा रक्त जमने लगता है।
(दर्पण—राजकमल-अंक)

यहाँ अकवि अपने मन के भीतर उतरता है, परेशानी में क्या होता है इसे टटोलता है और फिर उसे व्यक्त करने के लिये सोचता है कि कैसे कहूँ—यही कवि और अकवि का प्रकृत मार्ग है। एकदम सीधे सीधे शुरू हो जाने वाले कवि सतह पर ही शोर करते हुए रह जाते हैं। किन्तु उक्त रचना में श्याम परमार सवालों की कीलों' (चालू मुहावरा है) तक ही नहीं रुक जाते, बल्कि उनके बीच भी जगह में उनकी शंकाओं का भी रूप देते हैं जो "ट्रक खाली होने" के बिम्ब से यतित्व प्राप्त कर लेते हैं।

इसी तरह हल्के और एक गहरे (किन्तु पुतेपन से रहित) व्यंग्य के दो उदाहरण ले सकते हैं—

इससे पहले कि वे संविधान को आग लगा कर भून सकें
आओ हम उसके पन्नों पर दही-बड़े खायें।
इससे पहले कि वे सी सकें, पूरे देश के लिये
एक तिरंगा कफन, हम उसका जांघिया बनाएं।
(नन्द किशोर आचार्य वातायन)
(अगस्त १९६८)

यह हल्का-फुल्का व्यंग्य है कविता नहीं है यों शीर्षक है "एक कविता"। इसके विपरीत विश्व द्र की स्पर्वणना' (शीर्षक रीतिकालीन है) में गम्भीरता है—

अब एक बार मुझे अपना कर्जा बताना होगा।
जबकि इस बार मैं पुराने टीले की तरह
बाहरी अनुदान से खोदा गया हूँ
और कुछ एक नाजुक चीजों के निकल जाने की वजह से

आदमियों का वहम टूटा है कि म अब सिर्फ
भेड़ी रात का ढेर नहीं हूँ, न अकेला ताड़
न जतुन और न सुनसान द्वीप हूँ यों आत्मरक्षण की
रसमयता ने मुझे काफी भटकाया है
सुरगों में (वातायन, अगस्त, १९६८)

विजेन्द्र ने, साठोत्तरी चेतना म हुये इस गुणात्मक परिवर्तन को सावधानी स आँका है कि पिछले दशक मे, 'टूटे पहिये वाले अभिमन्यु आत्मा मे लोहा दबाये कायर" 'नदी के बेचारे द्वीप" जसे प्रतीको म व्यक्त होने वाले बीमार लोगो की कुण्ठा वयक्तिकता से आज की विद्रोही कविता बिलकुल भिन्न है। घुटन टूट रही है और धुआँ छँट रहा है। एड़ियाँ रगड़ने वाले अब घूँसा तान कर खड़े हो रहे हैं। लेकिन इस सत्य की पहिचान से, यह कम महत्वपूर्ण नहीं है कि विजेन्द्र अपने विद्रोही कथ्य को कविता बना सके हैं यो अभी भी शब्द की, और भी अधिक सही पहचान आवश्यक है—'कोमलता' "रसमयता' जसे शब्दो स बचना चाहिये।

साठोत्तरी विद्रोही कविता की एक अन्य प्रवृत्ति यह है कि कवि सहजता और कौशल का एक साथ बहुत कम निर्वाह कर पाते हैं। विशेषता म अब शब्द गर्भित "इलियटीय' कविता की जगह, सहज और सरल होने का दल बढ रहा है और फिर भी इस तरह की रचनाओ म सघनता' बनी रहती है। इसे सकुल सहजता कह सकते हैं। इन रचनाओ म भाषा और मुहावरा आम बोलचाल का होता है लहजा निहायत अपनापन लिए हुए है और कविता प्राय अब छन्दोबद्ध होती है। अकवि म जब मन छन्दोबद्धता का एक सवाल उठाया था तो कबीर के फकीरो ने समझा कि रूढ़िवाद का समर्थन किया जा रहा है। ये जो अत्याधुनिकता का मुखौटा लगाए हुये हैं इनमे भी रूढ़ि से लड़ने की मौलिक शक्ति नहीं है। इनके मन म औरो से भिन्न होने के लिये साहसी प्रयोग की क्षमता नहीं है। ये मात्र गद्यमयता को आधुनिकता का पर्याय समझते हैं। लेकिन आधुनिक चेतना गद्य और पद्य दोनों म व्यक्त हो सकती है। विद्रोह पद्यबद्ध भी होता है, हो सकता है। दर असल हम भयभीत रहते हैं कि हम पर कोई प्राचीनता का आरोप न लगादे

विशेषत अनेक कवि इस मिथ्या भय म पीड़ित नहीं है। वे आधुनिकता को फैशन क रूप म ग्रहण भी नहीं करते प्रयत्नशील रहते हैं—

विचार प्रथा हमारे देश म व्यक्तित्व और विद्रोह क विकास म सबसे बड़ी बाधा है। अनिकेत' हुए बिना शांति असम्भव है। रवीन्द्र इस चेतना के यातनामय रूप पर 'निम निस्सार इस तरह कहता है—

The ache of marriage
thigh and tongue, beloved,
are heavy with it,
it throbs in the teeth
we look for communion
and are turned away beloved,
each and each
two by two in the ark of
the ache of it

"विवाद एक दर्द का मेहराब है जो दो से बनता है"—यह उक्ति कविता की उक्ति है। शब्द चुने हुये हैं लेकिन अकवितापरक हैं। कविता एक साधारण छन्द में बँधी है और स्वच्छन्दता का संकेत है "वैवाहिक नियति" या संकट का बोध गहरे उतर कर अनुभव किया गया है। अपनी कीमत पर कवि व्यंग्य बहुत कम करते हैं लेकिन कुछ कवि अपनी असंगतियों पर भी इस प्रकार बेलाग होकर कह सकते हैं।

She is Sow
and I a Pig and a poet—Levertov

'विश्व शांति पर सपाट कवितायें बहुत हैं लेकिन यह भी तरीका है बात कहने का—'

On a quiet Sunday
when the Sun is out
you can drive to
a village in kent
which boasts a
coffe for with the plastic tables
a bird in a
painted cage says
' Ban the bomb ban
the bomb ban the
Bomb ban the bomb (Edwin Brock)

'एक शान्त रविवार है, सूरज डूब गया है आप एक गाँव जा सकते हैं। जिसे एक काफी घर मिल गया है। वहाँ तमाम चीजों में एक रंग बिरंग

पिंजड़े में चिड़िया है जो "बम बनाना बन्द करो," "बन्द करो बम बनाना" कहती है।"

यदि कवि स्वयं एक दो बम बनाने की बात कहता या यों कहता 'तरबूजों से बम बनाये जा रहे हैं अब इन पनघटों का क्या होगा ?" तो वह प्रभाव नहीं आता जो एक साधारण सी चतुराई से आ गया है। गाव की एक चिड़िया के मुख से बम निषेध सारे दृश्य को कविता में बदल देता है। यही "सकुल सहजता' है। इसके लिये पैगम्बरी और अखबारी मुद्रा छोड़नी होगी, अनाप शनाप न कहकर विवरण से, किसी एक को होशियारी से चुनना होगा। बिजलीघर से लेकर सारे खम्भों और तारों का वर्णन आवश्यक नहीं, बटन या स्विच की खोज से ही जैसे सम्पूर्ण स्थिति आलोकित हो उठती है उसी की तरह पक्षी की पुकार से विश्व युद्ध के विनाश की फिल्म पाठक के मन में खुलने लगती है, रील पर रील देखते चले जाइये।

यह कविता एडविन ब्रुक की है जो एक अमरीकी कवि हैं। पेंग्विन माडर्न प्यायटस सीरीज के संग्रह में बीट कवि भी हैं, पर उनके शोर शराबे कलाहीनता और मुद्राओं से भिन्न स्वतंत्र आधुनिक कवि इस संक्रमण युग को खूब समझते हैं। और जो इस बोध को गले उतार चुका है, उसे आधुनिक' मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। अब यह क्यों आवश्यक हो कि "क्रान्ति और संक्रान्ति बोध' को एक ही तरह से सब व्यक्त करें ? विद्रोही सहज तभी हो सकता है जब विकृति से घृणा उसके पोर पोर में समा गई हो। तब उसकी मुस्कुराहट, उसका लहजा "जहर बुझा" हो जाता है। जहर को देखकर चीखना और मुंह नोचना या सिर्फ चिढ़ना या चिल्लाना या स्यापा करना या फिर कुछ न कर सकने पर सिर्फ घुटना या नाटकीय होना या मात्र दार्शनिक होना तमाशा है असली त्वेष नहीं।

"विद्रोही-पीढ़ी (कैलाशनाथप्रसाद चौरसिया) से लेकर अकविता तक और अकविता से लेकर अनागरिक और श्मशानी पीढ़ी तक हमारी कविता उथलेपन और अनाड़ीपन से ग्रस्त है। इसका अर्थ यह हरगिज नहीं हो सकता कि इस सम्पूर्ण प्रयत्न में कोई उपलब्धि नहीं हुई है। प्रश्न सिर्फ यह है कि असन्तोष और विद्रोह की यह वाणी गले से निकल रही है या कलेजे से ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या उगाल और उबाल कविता है ? कविता के लिये कुछ और सीढ़ियाँ नीचे उतर कर, कथ्य का आन्तरिकीकरण करना पड़ता है। मेरा मत यह है कि बहुत सी रचनाओं में यह आन्तरिकीकरण (इण्टरनलाइजेशन) नहीं हो पाया है।

क्या इस उथलेपन और अनाड़ीपन का कारण मात्र कवि प्रतिभा का अभाव है? इस देश में प्रतिभा का अभाव नहीं है। अभाव है, प्रस्तुत संकट को गहराई से महसूस करने का। साथ ही हिंदी का कवि इस संकट का कारण क्या है? इसे बहुत मोटे रूप में जानता है, उसका संकट 'चिंतनशील" नहीं है। अतः विद्रोह स्वयं कविता के विरुद्ध होने लगता है।

कविता वमन नहीं है, कुत्सा नहीं है, न वह मात्र तीखे आक्रोश की ललकार है। अब कवियों से कला का आग्रह करना चाहिए और लघु पत्रिकाओं के सम्पादकों को मात्र मानसिक स्थिति या अनुभूति की नवीनता ही नहीं देखनी चाहिए अपितु 'अदायगी' पर भी गौर करना चाहिए।

मैंने समकालीन अभिनव आन्दोलनों के 'स्वस्थ कथ्य" की बराबर प्रशंसा की है और उसके लिए मुझे लाक्षित भी होना पड़ा है। श्री विमल वर्मा ने, सनीचर, (१९६६) के एक अंक में, मेरे द्वारा श्मशानी पीढ़ी के समर्थन को पानी पी पी कर कोसा है, लेकिन 'सम्बोधन' (काकरोली, राजस्थान) और विभक्ति (कलकत्ता) तथा सनीचर, (कलकत्ता) में प्रकाशित मेरी टिप्पणियों को भी विमल वर्मा ने गौर से नहीं पढ़ा। मैंने कहीं भी श्मशानी पीढ़ी की "गन्दगी' का समर्थन नहीं किया है और इस विरोध के परिणाम स्वरूप सुनने में आया है कि अब कविता को इस कुंठ "जडापन" से बचाने का प्रयत्न किया जायगा।[1] यह शुभ समाचार है।

हिंदी में बासीपन को तोड़ने के लिए शुरू से ही नयी कंटेंट के लिए आन्दोलन होते रहे हैं। 'नयी कविता' के विरुद्ध जो अभिनव काव्य के आन्दोलन चल रहे हैं उनमें भी 'कथ्य' के परिवर्तन की पुकार है और बदले हुए कथ्य के लिए भाषा को भी बदलना पड़ता है लेकिन विद्रोही कथ्य होने से ही कविता, कविता नहीं बन जाती कथ्य और रूप की संगति खोजनी पड़ती है और इसी बिन्दु पर समकालीन कविता को सावधानी बरतने की जरूरत है।

"आत्महत्या के विरुद्ध (रघुवीर सहाय) माया दर्पण (श्री कांत वर्मा) जैसे जमे हुए कवियों के संग्रहों में भी, 'अखबारीपन' बहुत अधिक है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि किशोर कवि ही रूप सम्बन्धी असावधानी दिखाते हैं। आतंरिक संयम और कुशलता के बिना *स्वस्थ कथ्य भी, वक्तव्य* होकर ही रह जाता है—आशा है तत्त्व और रूप की इस असंगति पर ध्यान दिया जायगा।

---

१ सनीचर के सम्पादक राजेन्द्र जी का व्यक्तिगत पत्र।

पुराकथा और प्रतीक

पुराकथा (माइथालॉजी) म आदिम मानव की इच्छापूर्ति (विशफुल फिल्मट) व्यक्त होती है, उसमे प्रकृति के ऊपर कल्पित विजय की कामना छिपी रहती है जो प्राय जादू क्रियाओ का रूप धारण करती है, उसमे पूर्वजो का इतिहास बीज रूप म सुरक्षित रहता है और इनके साथ ही—आदिम मनुष्य की सृजनात्मक कल्पना शक्ति का स्वत त्र चमत्कार भी दिखाई पडता है। इस प्रकार पुराकथाओं म प्रारम्भिक मानवचेतना के विभिन्न स्तर—विभिन्न इच्छाए, भावनाए और स्वप्न (अवचेतन) अभिव्यक्ति पाते है।

इस देश क वेदो—ब्राह्मणो, आरण्यको पुराणो और महाकाव्यो म पुराकथाओ के [illegible] रूप मिलत हैं। विकास की दृष्टि से इस आकर्षक और रहस्यमय पुराकथा के दो सोपान मान जा सकत है। इसका प्रारम्भिक सोपान पुराणो और महाकाव्यो स पूर्व का है और द्वितीय रूप पुराण महाकाव्यकालीन है। पुराण जिस रूप म प्राप्त है उस रूप म प्राचीनतर पुराकथाओ को, विभिन्न सम्प्रदायो क साधको पडितो न मनमाने रूप दिये है। महाभारत म भी यही प्रक्रिया दिखाई पडती है किन्तु जसा कि पुराणो का कथन है उनम वर्णित पुराकथाओ के बीज किसी न किसी रूप म—वदिक साहित्य म मिल जाते हैं तभी यह कहा गया है कि पुराण वेद की ही कथात्मक व्याख्या करते हैं अथवा आज के शब्दो मे पुराण उपन्यासात्मक वेद हैं।

इस देश की सास्कृतिक निर तरता का एक अद्भुत रूप पुराकथाओ म सुरक्षित है।

जिस प्रकार वेदो की ऐतिहासिक कर्मकाण्डपरक, दार्शनिक मनोवैज्ञानिक और प्राकृतिक व्याख्याए होती थी उसी तरह पुराकथाओ की व्याख्याओ का प्रचलन था। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य इन पुराकथाओ पर ही आधारित है, वाल्मीकि रामायण और महाभारत म दो प्रमुख पुराकथाओ का ही उपयोग किया गया है और उनस अनेकार्थक या विविधार्थी काव्यग्रन्थ की सृष्टि हुई है यथा, महाभारत इतिहास भी है और मानवजीवन की 'निदय निरर्थकता' का प्रतीक भी वह धर्मशास्त्र भी है और साथ ही कर्तव्य शास्त्र भी।

महत्त काव्यो, नाटकों, कथाओं में पुराकथाओं का ही प्रयोग हुआ है और मानव जीवन में साधारणीकृत सार्वभौमिक मानव की जो छवि अवतरित हुई है और उसके साथ ही अनेक अपरिमापेय स्थितियां अनुभवों और सत्यों की जो प्रतीकात्मकता उत्पन्न हो गई है, उसका कारण पुराकथाओं का प्रयोग है।

पुराकथा सर्वदा प्रतीकात्मक होती है क्योंकि उसमें मनुष्य के विवेक-पूर्ण, जागरूक बौद्धिक चेतन के अतिरिक्त उसके अविवेकी, असगत अवचेतन को सदा लिया जाता है। पुराकथा किसी सत्य को बुद्धिगम्य बनाने का भी प्रयत्न करती है किन्तु वह सर्वदा सर्जन क्रिया की दृष्टि से मनुष्य की भीतरी गुफाओं से गुजरती है। वह चेतना के पाताल्लोक से राह बनाती है वहां बनने वाले रूपों को, बौद्धिक अनुशासन की चिन्ता किये बिना, उसी रूप में प्रस्तुत करती है जिस रूप में वे प्रतीत होते हैं या वहां उभरते हैं। इस 'रहस्य मयता' के कारण ही वे 'रूप' जागरूक होकर विचार करने पर किन्हीं सत्यों या भावों के प्रतीक लगने लगते हैं और काव्य पुराकथाओं के प्रयोग द्वारा रचित 'रेडियम' की तरह अनेक प्रकार की किरणों या सुझावों का अक्षय कोष बन जाता है।

इसलिये रामकथा मानवकरुणा का प्रतीक है महाभारत संघर्ष और पराक्रम का, असमर्थता का। अभिज्ञान शाकुन्तल नारी पुरुष के सम्बन्धों की निविड़ता का प्रतीक है तो 'शिशुपाल वध' साहस और दृढ़ता का। कादम्बरी और वासवदत्ता रोमांस का प्रतीक है तो कुमारसम्भव उत्तरदायी प्रेमी का। नैषधीय यदि अस्पष्ट मन (नल) का प्रतीक है तो रामचरित मानस मनोराज्य का।

आधुनिक युग में कामायनी में नानार्थकता पुराकथा के कारण उत्पन्न हुई है और कामायनी, अंधायुग कनुप्रिया एक कंठ विषपायी आदि साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि पुराकथा द्वारा समसामयिक संवेदनाओं समस्याओं और उलझनों को रूपायित किया जा सकता है बल्कि पुराकथा द्वारा ही सफलतापूर्वक यह कार्य किया जा सकता है।

पुराकथाओं का एक अन्य पक्ष है जो सृजन की प्रेषणीयता से जुड़ा हुआ है और जिस पर बहुत कम विचार किया गया है। मूलतः यह प्रश्न सांस्कृतिक प्रश्न है। उदाहरण के लिये भारत में पुराणों की कथाएं बहुत प्रचलित हैं। साधारण व्यक्ति बहुत सी प्रेरणाएं इन्हीं कथाओं से पाता है। दैनिक पात्र और घटनाक्रम केवल आदर्श रूप में ही नहीं आते बल्कि वे शास्त्रों

वे साथी बन जाते हैं और स्वतन्त्र रूप में भी वे मानव मन को अपने रहस्यमय सत्यों में उलझाये रहते हैं, अतः पुराकथाओं का माध्यम अपनाते ही साहित्य साधारण व्यक्ति के अवचेतन-चेतन का हमराही हो जाता है और लेखक को अपना मन्तव्य प्रेषित करने में सुविधा हो जाती है अतः जो देश पुराकथाओं की दृष्टि से जितना ही अधिक समृद्ध है, वह उतने ही उच्चकोटि के और साथ ही उतने ही सम्प्रेषणयुक्त साहित्य की सृष्टि कर सकता है।

इतिहासकथा भी साहित्य में प्रतीक बन सकती है यथा शेक्सपियर का 'जूलियस सीजर' अथवा वृन्दावनलाल वर्मा का—'झाँसी की रानी' नामक उपन्यास यथार्थ साहित्य में विशिष्ट सामान्य बन जाता है किन्तु पुराकथाओं में काल की प्राचीनता में, पूर्वस्मृतियों के जुड़े रहने से, कल्पना के मुक्त प्रवाह से अथवा विगतकाल को भ्रकार से जिस 'रहस्यमयता' की सृष्टि होती है, वह इतिहासकथा द्वारा सम्भव नहीं है। यह स्मरणीय है कि यह पुराकथाओं की रहस्यमयता 'रहस्यवाद' नहीं है। यहाँ रहस्यमयता का अर्थ है एक निश्चित, स्पष्ट स्थिति से अधिक सम्भावनामयता की उत्पादक स्थितियों की सृष्टि।

सभी पुराकथाएँ एक जैसी प्रतीकात्मक नहीं होतीं। अतिपरिचित होने से पुराकथाओं की सांकेतिकता कम होने लगती है। कुछ कथाएँ ऐसी होती हैं जिनका एक प्रसिद्ध अभिप्राय प्रचलित हो जाता है जैसे 'रामकथा' का। ऐसी कथाओं की भी पुनर्व्याख्या द्वारा समसामयिकता की अभिव्यक्ति हो सकती है यथा 'संशय की एक रात' (नरेश मेहता) में। किन्तु युगप्रवर्तक रचनाओं के लिये प्रायः लेखक कम प्रचलित पुराकथाओं का अनुसंधान करते हैं, जैसे 'कामायनी' में प्रसादजी ने किया है।

समसामयिक युग के लिए यम यमी, पृथु, ययाति, विश्वामित्र, जैसी कथाएँ अधिक उपयोगी हो सकती हैं और 'महाभारत' तो 'अन्धायुग' के बाद भी, यथाप प्रतीक है। महाभारत के विषय में जो यह कहा गया है कि जो महाभारत में नहीं है वह कहीं नहीं है—वह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक सत्य है।

आज की स्थिति ययाति और विश्वामित्र की मिश्रित स्थिति है। क्या इन कथाओं के स्रष्टा यह कल्पना कर सकते थे कि वे कामधेनुमयी अन्यापदेशपरक कथाओं की सृष्टि कर रहे हैं। वस्तुतः पुराकथाओं की नित्य नूतनता का रहस्य यह है कि मानवमन जब एक जैसी (एक नहीं) स्थितियों से गुजरता है तब पूर्व स्थिति की स्मृतियाँ, उसकी समस्याओं और भावनाओं

के लिये एक क्षेत्र प्रस्तुत कर देती हैं, जहाँ वह पूर्वपात्रों और घटनाओं के द्वारा अपने मन को टटोलता है और प्राय अपनी उलझनों से गुजरते हुए पुराकथा का क्षेत्र उसे समाधानों का संकेत दे जाता है इसलिये पुराकथाएँ पुरानी भाषा में 'कामधेनु' कहलाती हैं। इसी दृष्टि से बीसवीं सदी के तकनीकी दृष्टि से विकसित किन्तु मनुष्यता की दृष्टि से अभी भी अविकसित नवीन सभ्यता की सक्रान्ति को प्रस्तुत करने के लिये पुराकथाओं का उपयोग प्रचलित है।

वर्जिल का 'एनीड', दान्ते की डिवायन कामेडी', शेली का, 'प्रामीथियस अनबाउण्ड' निराला की राम की शक्तिपूजा प्रसाद की 'कामायनी', भारती का अन्धायुग', जैसी कृतियों में, प्रारम्भ से अन्त तक मानवीय-चेतना की निरन्तरता और विकास की दुर्दमनीयता प्रकट होती है, लगता है कि हम उन्हीं 'आरमनिर्भिया से जुड़े हुये हैं, जिन्होंने हिमालय के शृंगों को देखकर शिव की कल्पना की थी, जिन्होने क्रौंच पर्वत की गुफा को देखकर सोचा था कि यह परशुराम के परशु का चमत्कार था, जिन्होंने नीले आकाश को 'दिगम्बर रुद्र' का बिम्ब दिया था और प्रकृति के बदलते मन और विराट शक्ति को देखकर पार्वती' की मानसिक रचना की थी, जिन्हें वह पूजकर आत्मविश्वास प्राप्त करता था और साथ ही साहित्य में उन्हें वर्णित कर अपनी चेतना के लिये पाथेय जुटाता था।

घटनाओं में पुनरावृत्ति अवश्य होती है भले ही उनमें मात्रा और गुण की दृष्टि से अन्तर हो—उदाहरण के लिये 'प्रलय' की आशंका पुरानी है सवनाश का भय कबीलाई जीवन की एक वास्तविक आशंका थी। आज वह सवनाश नवीन रूप में उपस्थित है अत प्रलय से सम्बन्धित कथा की ओर हमारा मन भागता है। मशीनयुग में द्वापर' की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। अतः टी० एस० इलियट के शब्दों में विगत की—वर्तमानता ' (प्रजेन्टनेस आफ पास्ट) का बोध उन कवियों को अवश्य होता है जो काव्य या साहित्य की रचना पच्चीस वर्ष के बाद भी करते रहना चाहते हैं। अत पुराकथाओं के प्रयोग का काम पच्चीकारी या कलाकारिता नहीं है अपितु यह 'भूतसिद्धि है, दायसाधना है सम्पूर्ण इतिहास के साथ जुड़े रहने का प्रयत्न है। अत जो परम्परा के नाम पर, सममामयिक चेतना के भीतर घटी हुई पुराकथाओं का बहिष्कार करना चाहते हैं व सृजन के मूल स्तम्भ को ही काट फेंकना चाहते हैं।

कल्पनाहीन व्यक्ति पुराकथाओं के सामयिक प्रतीकत्व को नहीं पकड़ पाता। कभी-कभी महज प्रतिक्रियावश वह पुराकथाओं की समृद्धि से दामन छुड़ाता है और केवल आत्मकथन पर ही जीवित रहना चाहता है। प्रतीकात्मकता से ऊबकर साहित्य में स्पष्ट कथन के दौर आते ही हैं। आज भी सभी साहित्यकार पुराकथा का प्रयोग नहीं करते और वे सफल भी होते हैं किन्तु स्थायी नवीनता की सृष्टि के लिये पुराकथा भी एक महत्वपूर्ण माध्यम है इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। भारतीय समृद्ध पुराकथाएँ लेखकों को अपने पास इसलिये भी बुलाती हैं क्योंकि किसी भी समस्या के रूपायन के लिये यहाँ पुराकथाएँ विद्यमान हैं। स्वर्गीय डा० केशिनीप्रसाद चौरसिया ने मुझे 'सीता की आत्महत्या' के "मिथ" के विषय में कई पत्र लिखे थे। ये पत्र नवीन लेखक की सजनाकुलता के श्रेष्ठ परिचायक हैं।

आत्महत्या की धारणा कायरता पूर्ण है या वीरतापूर्ण, वह पाप है या पुण्य इसे लेकर बहुत सोचा गया है। नारी-पुरुष के प्राकृतिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक सम्बन्धों और उस सन्दर्भ में आत्महत्या की उलझन के लिये 'सीता की आत्महत्या' की पुराकथा बहुत संकेतमयी लगती है अतः डा० चौरसिया उस पर काव्य लिखना चाहते थे पर वह शायद पूरा नहीं कर सके। उनके मन में ऐतिहासिक प्रश्न भी उठते थे क्या सीता ने 'आत्महत्या' की थी? क्या राम ने सीता को उसके लिये विवश कर दिया था अथवा प्रतीकात्मकता को उभार कर कहें 'क्या प्रत्येक पुरुष नारी को आत्महत्या के लिये ही विवश करता है अथवा नारी पुरुष का एक भ्रम से गुजार कर फिर उसे अपने विषय में संदेहग्रस्त करके तड़पाती है? राम का 'एकपत्नीव्रत' क्या एक गलत निर्णय नहीं था।' इस तरह के अनेक सवालों को प्रस्तुत करने और इस तरह आज की 'नैतिक सम्भ्रान्ति' को समझाने के लिये "सीता की आत्महत्या" की पुराकथा एक समर्थ माध्यम है और चूँकि "सामूहिक अवचेतन" में सीता अवस्थित है अतः इस प्रकार का सम्भ्रान्तिबोध सहज ही सम्प्रेषणीय हो सकता है। इस तरह मानव मन की दृष्टि से—भूतकाल या परम्परा या नवीनता एक ही धातु के विभिन्न रूप हैं—भूत वर्तमान की भट्टी में गलकर नवीन बन जाता है और उसमें नवीन गुण व नये प्रतीक की क्षमता आ जाती है।

क्या प्रत्येक मौलिक कल्पना में प्रतीकत्व आ जाता है? यह एक आधारभूत प्रश्न है। वस्तुतः भौतिक आवश्यकताओं के दबाव से स्वच्छन्दता की सृष्टि होती है जो बाद में भौतिक स्वतन्त्रता में परिणत होती है, यह

इस प्राचीन युगो म स्पष्ट देखा जा सकता है। ग्रीक देवताओ और भारतीय देवताओ की सृष्टि आदमी ने अपनी मूर्ति को प्रतिविम्बित या प्रक्षिप्त करके ही की है। कालान्तर मे बुद्धि द्वारा उनका प्रतीकत्व विश्लेषित होने लगता है, जब मनुष्य अन्त सघर्ष का धीरे धीरे साक्षात्कार करने लगता है। साहित्य म यह अन्त सघर्ष ही व्यक्त होता है अत जादू की क्रियाएँ, देवताओं के नाम और रूप आदि प्रतीकात्मक रूप पाने लगते हैं। इस दृष्टि से पुराकथाओ की प्रतीको म परिणति का प्रवाह चलता रहता है। क्योकि चन्द्र, शुक्र, मगल आदि ग्रहो की विजय हम बुद्धि द्वारा कर रहे हैं, केवल कल्पना द्वारा नही जसाकि 'पुराकथा म होता है, अत 'ग्रहविजय के पश्चात् नवीनतम मानव सभ्यताओ मे भी (यदि तृतीय विश्वयुद्ध न हुआ तो) पुराकथाओ से नित्य नये प्रतीको का दोहन प्रचलित रहगा क्योकि मानवमन की सकुलता बाह्य व्यवस्था की सकुलता के साथ बढती ही जायगी और यदि मनुष्य "सकुल सहजता का विकास कर भी लेगा तो भी पुराकथाओ मे 'सकुलसहज प्रतीको' का भी अभाव नही है और फिर भी पुराकथाएँ अनबूझ, अद्भुत और नवीन बोधो का माध्यम बनी रहेंगी।

पुराकथाएँ छायाओ की तरह होती हैं जो नये प्रकाश मे उगे सवालो के शैतानो से जूझती है और वे कभी हमारा साथ नही छोडती।।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न—खतरे

दो विदेशी बातें कर रहे थे। हिन्दी के लिये आन्दोलन चल रहा था, हिन्दी के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा था—"यह हिन्दुस्तानी चरित्र है जो परायों को सह लेता है लेकिन अपने को नहीं सह पाता।"

"यह अति सरलीकृत, सामान्यीकरण है"—दूसरा कुछ कुछ कर बोला।

प्रथम ने कहा—सबूत यह है कि तमिल और बगाल मे एक तबका अगरेजी को सीखना पसन्द करेगा, हिन्दी को नही, क्योंकि हिन्दी अपनों की है, अगरेजी परायो की भाषा अतत एक विशिष्ट सस्कृति भी तो साथ लाती है। हिन्दी को अपनाने से तमिल और बगाल मे भारतीयता के प्रति निकटता का बोध होगा। अगरेजी अपनाने से दोगली सस्कृति बराबर बनी रहेगी। हाँ, राष्ट्रभाषा हिन्दी होने पर किसी भी विदेशी भाषा और उससे सन्निविष्ट सस्कृति का अध्ययन और समीकरण स्वेच्छया होगा अत भारत 'सास्कृतिक दोगलेपन' से बच सकेगा—भारतीय व्यक्ति म उसकी रीढ़ अपनी होगी।

किन्तु हिन्दी विरोधी मूलत स्वार्थों के लिये सघर्ष का एक रूप है अत नेताओ के सम्मुख प्रश्न अब यह नही है कि हिन्दी राज्यभाषा या शृ खलाभाषा हो या कोई अन्य भाषा—यह तो निश्चित हो गया कि है हिन्दी ही शृ खला भाषा होगी लेकिन हिन्दी की इस रूप म सब स्वीकृति के लिये 'स्वार्थों मे सतुलन' करना होगा। हिन्दी से किसी प्रान्त के तरुणों की नौकरियों पर बुरा असर न पडे, किसी अचल पर दूसरे का अनुचित प्रभाव न बढ़ जाये, आदि आदि।

यदि एक दल होता, निरकुश शासन होता यदि काग्रेस शासन में ढुलमुलयकीनी न होती तो भाषावार राज्य बनाते समय ही यह समस्या हमेशा के लिये सुलझ जाती किन्तु 'यदि' हटाकर अब तो यथार्थ का सामना करना है। फिलहाल यह भी सम्भव नहा कि प्रतिक्रियावादी बूर्ज्वा सरकारों की जगह क्रान्तिकारी दल शासन का अधिकार पा जाय। और यह भी क्या

अनिवार्य ही है कि क्रान्तिकारी मात्रा में भाषावाद का समाधान सीधा और सरल हो सकेगा? अब तो गाँठ पड़ गई है रस्सी भीग चुकी है।

चाहे युक्तियुक्त हो या अनुपयुक्त या जनद्रोह, असलियत यह है कि जनतन्त्र में जो जनता की भावनाओं को भटका लेता है वह अनुचित निर्णय भी करा लेता है तभी "प्रबुद्ध जनमत" की सतत जागरूकता अनिवार्य होती है। भाषावाद एक भूतावेग के रूप में बढ़ रहा है, बढ़ गया है और देश का अस्तित्व ही खतरे में है। वे लोग भोले हैं जो यह कहते हैं कि हिन्दी विरोध मात्र कुछ राजनीतिज्ञों का भटकाव है।[1]

स्थिति यह है कि कोई समूह अपने स्वार्थों को नहीं छोड़ना चाहता। उग्रवादी सबसे जानते हैं कि देश की एकता का खंडित करने के किन्तु तब बन्द कर दिया था तो 'एकतावादी केन्द्रीय शासन' तुरन्त अधिकाधिक माँगें स्वीकार कर लेगा और उस क्षण उदारता से यह कह देंगे कि यदि हिन्दी न थोपी जाये तो हम भारतवर्ष के अंग बन रहेंगे।

राजनीति में आज भी भावुकता ही निर्णायक तत्त्व है और भाषा के प्रति समूहों का एक रागात्मक सम्बन्ध होता है, जहाँ विवेक अपमानजनक लगने लगता है। इस स्थिति से वे "हिन्दी वाले" वाकिफ हैं जो हिन्दी इतर प्रदेशों में काम कर रहे हैं। अंगरेजी प्रधान वर्ग का प्रभाव तो स्वीकार्य है, परन्तु "हिन्दी वालों के प्रभाव से तो मौत अच्छी" कुछ इस तरह की मनोवृत्ति बनती जा रही है।

नेहरूजी के आश्वासन कानून बन जाने के पश्चात् हिन्दी के लिये संघर्ष और भी दूरगामी और दुष्कर हो जायगा, लेकिन किसी क्रान्तिकारी विकल्प के लिए हम स्वयं प्रस्तुत नहीं हैं।

किसी भी मूल्य पर राज्याधिकार रखने के महत्त्वाकांक्षी केन्द्रीय सरकार के सदस्य पुनः पुनः तब तक समझौते करेंगे जब तक भाषा का समाधान 'असाध्य' न हो जाये क्योंकि देश से अधिक उन्हें अपने अस्तित्व की चिन्ता हो गई है।

ऐसी स्थिति में सरकार के विरोध के साथ साथ, सभी भारतीय भाषाओं के विवेकशील समूहों का सद्भाव प्राप्त करना है और एक प्रबल जनमत तैयार करना है कि अगले चुनाव में यह तय हो जाय कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना है या नहीं। यों अभी तो स्वयं हिन्दी प्रदेशों में ही विधि,

---

१ डा० रूप—नमिलनाडु में भाषाई भावुकता—आरिगनाइजर, धर्मयुग १५ अक्तूबर, सन् १९६७।

शासन, तकनीकी ज्ञान आदि क्षेत्रों म अगरजी का साम्राज्य है। और भारतीय भाषाओ को शिक्षा माध्यम बनाने की जो कागजी घोषणा हुई है, उस विश्व विद्यालयो के उस तबके पर छोड दिया गया है जो अगरेज परस्त था, और अब भी अगरेजी परस्त हैं। यही तबका, उच्च नौकरशाही से साँठ गाँठ कर भारतीय भाषाओं की पीठ म छुरा भोंकता आया है और यह गिरोह पुन भारतीय भाषाओ को सहज ही माध्यम नही बनने देगा। पग पग पर युद्ध करना होगा अन्यथा भाषण हिन्दी म दिये जाएँगे और पढ़ाई अगरजी म चलेगी, यानी हिन्दी "औपचारिक" भाषा के रूप म ही इन गिरोहो म स्वीकृत होगी।

जन सघष छात्र आन्दोलन तीव्रतर हो रहे हैं। इस सन्दभ म कुछ बिन्दुओ पर विचार करना होगा

प्रथम विदेनी भाषाओ से हिन्दी तथा अन्य भाषाओ म अनुवाद काय विस्तत पमाने पर शुरू होना चाहिए। एक "अनुवाद मत्रालय" होना चाहिए जो शिक्षा विभागो के अतगत काम करे अथवा विश्वविद्यालयो कॉलेजो को एक 'विराट अनुवाद योजना' के अन्तगत काम बाँट दिया जाये। अनुवाद के बिना देश कूपमण्डूक हो जायगा क्योकि अभी तक हम अगरेजी के माध्यम से विदेशी प्रगति स परिचित होते थे, नई पीढी म अधिकाश को यह सुविधा नही होगी। केवल १८ करोड रुपय से तो पाठय पुस्तकों का भी अनुवाद नही कराया जा सकेगा, जिसकी व्यवस्था केन्द्रीय शिक्षा विभाग ने की है।

दूसरा काय जो अविलम्ब होना चाहिए, वह यह कि विश्वविद्यालयो म सभी प्रमुख भारतीय भाषाओ के शिक्षण का प्रबन्ध हो—हिन्दी के अतिरिक्त कम से कम एक भारतीय भाषा की अनिवायता उच्चपदों के लिये अवश्य होनी चाहिए तभी हिन्दीतर प्रान्तो म हिन्दी को स्वीकृति मिल सकेगी और यह मान्यता बन सकेगी कि 'हिन्दी वाले' भी तमिल जसी भाषाओ को अपनी भाषा मानते हैं। इस कहा तो गया है पर इस वक्त इस तथ्य को न केवल रेखांकित करना आवश्यक है बल्कि इस अमल म लाना होगा। हिन्दी प्रदेशो म 'त्रिभाषा फामूला' असफल इसलिय हुआ कि उस लागू नही किया गया, इससे हिन्दीइतर प्रान्तों म हिन्दी प्रदेश के प्रति आशकाएँ पनपती हैं जो एकता के लिय खतरनाक हो सकती हैं।

और अन्त म स्वय हिन्दी प्रान्त म भी जन-बोलियो को उचित सम्मान और सरक्षण मिलना चाहिए। उर्दू को राज्यभाषा बनाना तो अपरिहार्य है

किन्तु उस सुविधाएँ मिलनी चाहिए। इसी तरह अवधी, ब्रजभाषा, मारवाडी हाड़ौती, मेवाती आदि अनेक समृद्ध बोलियों और उप भाषाओं की समृद्धि से हिन्दी का हित ही होगा। अन्यत्र में यह लिख चुका हूँ कि किस प्रकार कुमाउँनी, राजस्थानी (मारवाडी हाडौती, मेवाती आदि सभी) प्रदेशों में खड़ीबोली हिन्दी को आशंका की दृष्टि से देखा जा रहा है कि कहीं हिन्दी अंगरेजी की तरह स्थानीय भाषा के प्रति उपेक्षापरक दृष्टि न अपना ले। इस अनतात्त्विक मनोवृत्ति का आदर तथा दूरदर्शिता न समझ कर, डा० राम गोपाल शर्मा 'दिनेश' ने 'साहित्य-परिचय' (आगरा) में मेरी मान्यता के पीछे राजनतिक कारणों का अनुमान किया था। परन्तु राजनतिक दृष्टि से भी यह जरूरी है कि बोलियों और उपभाषाओं की समृद्धि हो अन्यथा उनमें प्यार करने वाले उस भाषा से घृणा करेंगे ही, जिसे आप 'प्यार' करते हैं। यह सच है कि राजस्थानी पूरे राजस्थान में स्वीकृत कोई एक भाषा नहीं है, वह "मारवाडी उपभाषा" कहला सकती है लेकिन मैं तो मारवाडी हाडौती ढूँढाड़ी, मेवाती आदि सभी की समृद्धि की बात करता हूँ। करोड़ों लोग जिस बोली में बात करते हों भावनाएँ प्रकट करते हों उसमें यदि आज गद्य नहीं है तो कल 'जनमनरूप' से गद्य भी लिखा जा सकता है और वह बोली शिक्षा का माध्यम बन सकती है। यही नहीं, बोलियों के आधार पर गठित प्रदेशों की माँग अभी समाप्त नहीं हुई है, अतः शासन और शिक्षा के माध्यम आदि के लिए यदि हिन्दी को 'स्थायी स्वीकृति' दिलानी है तो यही उचित है कि उस प्रदेश की बोली और उपभाषा की स्थिति उपेक्षणीय न हो।

हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य को कोई रोक नहीं सकता क्योंकि कोटि कोटि जनों के कण्ठों से लेखनियों से हिन्दी प्रकट हो रही है। कोटि-कोटि जन हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं द्वारा ही अपनी 'जुबान' पा सकते हैं, मौलिक चिंतन और सर्जन कर सकते हैं इसलिए हम हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के समर्थक हैं इसलिए नहीं कि हम पक्षपाती या दुराग्रही हैं या हमारे मंसूबे देश और जनता के हित के प्रतिकूल हैं।

राष्ट्रभाषा के लिये व्यापक संघर्ष के क्षणों में इन खतरों और सम्भावनाओं पर एक साथ विचार होना चाहिए।

हिन्दी प्रदेश और केंकड़े

हिन्दी प्रदेश में इधर केंकड़ों का जोर बहुत बढ़ा है। सुना है कि अगर आप केंकड़ों को किसी घेरे में बन्द कर दें और अगर उनमें कोई निकलने कोशिश करे तो दूसरे उसकी टाँग खींच कर नीचे कर लेंगे। नतीजा यह कि अधिकतर उस घेरे से बाहर नहीं, भीतर ही रह जाते हैं और इधर उधर न देखकर सिर्फ अपने पिण्ड में ही ब्रह्माण्ड देखते हैं। अपवादों पर यह नियम आरोपित नहीं किया जा रहा लेकिन एक बहुत स्पष्ट रुझान इधर यही है, इसलिये यह लिखना जरूरी है।

ऐसा क्यों है ? इसका एक बड़ा सबब है 'अपनी कीमत' बढ़ाने के लिये रचना से अधिक विज्ञापन की कोशिश। इसके लिए ही सम्पादकों और लेखकों, लेखकों और लेखकों, लेखकों और आलोचकों में सतियाव'' चल रहा है। जब जब लेखक का अवदान क्षेत्र संकुचित होता है चेतना अपने में ही सिमिटने लगती है तब तब ऐसा ही होता है। दूसरा सबब है हिन्दी प्रदेश में समष्टिमूलक चेतना का पिछड़ापन तथा उसके परिणाम स्वरूप पूँजीवादी सामंतवादी मनोवृत्तियों का दबाव। यह दबाव प्रायः अचेत रूप से ही होता है जो लेखकों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की जगह, उनमें 'केकड़ापन' की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। बाहर बाजार व्यापार उद्योग और प्रतिष्ठानों की प्रतियोगिता का प्रतिबिम्ब लेखकों में व्यक्त हो रहा है और इस तरह की प्रतियोगिता जिस तरह सेठियों जमींदारों नेताओं और चौधरियों को सिर्फ ''आत्मकेंद्रित' कर देती है, यानी उन्हें अपनी प्रतिष्ठा, अपने परिवार, जाति या वर्ग की प्रतिष्ठा तक ही सीमित कर देती है ठीक इसी तरह लेखकों में शक्ति सम्पन्न, धनसम्पन्न, प्रतिष्ठा सम्पन्न और अब पत्रसम्पन्न'' (सम्पादक बनने की होड़) की 'गलाकाटक' प्रतियोगिता चल रही है। यह कई छद्म रूप धारण करती है। मिसाल के लिए कुछ इस तरह के उपाय अपनाये जा रहे हैं—

(१) जिसे गिराना हो, उसे "पुराना" घोषित कर दो। इसके लिए रात दिन मित्रों में प्रचार करो, सम्पादकों को पत्र लिखो और जो न माने, उसे भी 'पुराना' घोषित कर दो।

(२) यदि रचना की चर्चा नहीं होती तो आंचलिक आन्दोलन खड़ा करो, जो प्रांत, जिला, तहसील, गाँव, जाति, धर्म आदि के आधार पर हो सकता है।

(३) जो आलोचक आपकी चर्चा करे, उसकी आप चर्चा करिये उसे उद्घाटन, भाषण, परिसंवाद आदि के लिए बुलाओ, जो ऐसा न करे, उसका हुक्का पानी बन्द। अगर फिर भी उसको पूछा जाए तो उसके श्रोताओं में बुरा मुँह बनाकर उठो। हर अकल्मन्दी की बात पर इस तरह हँसो जैसे वह सिड़ी और खड़ा हुआ है।

(४) अपनी अपनी अलग पत्रिका निकालो और उसमें सिर्फ उन्हीं को छापो, जो आपके प्रशंसक बन सकते हैं यानी पत्रिका का कार्य रचना को बनाना देना नहीं रचनाकार की इमेज गढ़ना ही है।

(५) जो शैली या मन स्थिति औरों का ध्यान आकर्षित कर, उसकी नकल शुरू कर दो।

(६) खिलाफ उन्हीं के लिखो जो जीवन में हानि नहीं पहुँचा सकते। अधिकारी आलोचक धनी सेठ, प्रभावशाली मन्त्री, अपनी संस्था के चौधरी आदि की चापलूसी करो, एकान्त में गालियाँ देकर कोटा पूरा कर लो।

(७) सिर्फ ऐंग्लो-अमरीकी लेखकों से प्रेरणा लो, समाजवादी देशों से प्रेरित होने में सम्पत्ति, प्रतिष्ठा आदि को खतरा है। इसलिए यहाँ प्रगतिशीलता मर गई, प्रगतिवाद को जला दिया गया।

(८) शान्ति सिर्फ अवसरान्तर पर करो ताकि योग निर्बाध हो या फिर गरीब बाप माँ को कोसो।

इसलिए इधर 'बेचारी पीढ़ी' 'नशा' 'अतिचारी' पीढ़ी है जो अस्वीकार पर पल रही है लेकिन इस अस्वीकार में क्रान्तिचेतना नहीं है जनता को भ्रमित करने का व्यापक षड्यन्त्र है। 'अराजनैतिक' होते जाने का यही कारण है कि अराजनैतिक होने में सुख है सुविधा है और बुर्जुआ शासन और समाज में प्रतिष्ठा का कारण भी। बुर्जुआ

यह आक्रोश वस्तुगत, नहीं है, व्यक्तिगत है। चोट जड़ पर नहीं होती, पीठ पर हलकी धौल लगती है।

उपाय क्या है? उपाय तो यह है कि सामाजिक तथा राजनतिक चेतना जगे वर्ग संघर्ष तीव्र हो।

छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद भी 'युयुत्सा' के देश (बंगाल) से ही शुरू था फिर इधर आया। अब 'युयुत्सा' और 'वाम' जैसे पत्रों को देखकर सम्भव है, यहाँ भी कुछ जगे। कुछ तो जगे हुए हैं, वे कभी सोते नहीं हैं, और जो अधिकतर सोते हैं, सुख से, वे कभी जगते नहीं है, इसलिए अपनी टकटकी तो आपकी तरफ (कलकत्ता के क्रान्तिकारी लेखन) ही लगी हैं, यही क्या कम है कि इधर काफी लेखक आपकी तरफ देख रहे हैं। बेचारे पंखों को परों से छुड़ा रहे हैं।

प्रतिबद्धता बनाम अप्रतिबद्धता

प्रतिबद्धता की धारणा तभी विवादास्पद बनती है जब परिवर्तनशील और प्रतिगामी शक्तियों के संघर्ष में गर्मी आने लगती है। स्वयंविश्व समाजों (कबीलों, प्रारम्भिक कृषि-समाज आदि) में व्यक्ति अप्रतिबद्ध हो सकता है यह कल्पना करना भी कठिन है।

इस देश के लम्बे सामन्ती समाज में भी प्रतिबद्धता का प्रश्न नहीं उत्पन्न हुआ। काव्य का हेतु 'मानव करुणा' (नाक दलावस्वमागत) स्वीकार किया गया, क्योंकि सामन्ती समाज में व्यक्ति जाति गोत्र वंश, परिवार, ग्राम आदि घेरों में बंधा रहता है अतः वह पूर्ण व्यक्तिवादी नहीं हो पाता।

इस तरह अप्रतिबद्धता की धारणा व्यक्ति की स्वच्छन्दता की धारणा है, जो औद्योगिक पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में पनपी है—इस व्यवस्था में 'मानवीय सम्बन्ध' पैसे के रिश्तों' में बदलने लगते हैं। एक नये बूर्ज्वा वर्ग का जन्म होता है जो राजाओं की तरह सुरुचि के कारण नहीं प्रदर्शन और संग्रह के लिये कला और साहित्य की ओर लपकता है उसे बिक्री की वस्तु बनाता है।

बूर्ज्वा वर्ग की इसी कुत्सित रुचि के कारण कलाकार अलगाव' महसूस करता है जो दार्शनिक नहीं परिस्थिति जन्य होता है। फ्रांस में गोतिए ने इसी कारण कला कला के लिए —यह नारा लगाया था क्योंकि बूर्ज्वा वर्ग दोहरा जीवन जीता है। वह एकान्त में अनैतिक और समूह में नैतिकता का दावा करता है। इसलिए इस ढोंग पर चोट करने के लिए गोतिए ने कहा था कि किसी नंगी औरत को देखने के लिए वह फ्रांस की नागरिकता को छोड़ सकता है। इस तरह 'स्थापित' व्यवस्था के मूल्यों के लिए सर्जक और चिन्तक 'नहीं' घोषित करने लगते हैं।

अप्रतिबद्धता का दूसरा रूप शीत युद्ध' के काल में उदित हुआ है। दो शिविर अपनी-अपनी 'आइडियालाजी' के अनुसार सर्जन और चिन्तन का राजनैतिक हितों के लिये प्रयोग करना चाहते हैं। उन पर आत्म शिल्पी

सर्जक और चिंतक अपने को अप्रतिबद्ध घोषित करने लगते हैं ताकि उनकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहे। इस अप्रतिबद्धता के भी अनेक रूप हैं।

हिंदी में प्रगतिवाद ने 'पक्षधरता' की धारणा प्रस्तुत की थी। सामाजिक चेतना को जगाने और उसे 'क्रान्तिकारी चेतना' में बदलने के साम्यवादी ने सृजकों का आह्वान किया था। किन्तु अधिक 'बहाव' और इस देश के श्रमिक कृषक वर्गों के संगठनों की अनेक असंगतियों और अपूर्णताओं के कारण साहित्य में वर्ग चेतनात्मक पक्षधरता का इच्छित विकास न हो सका।

इस उग्र पक्षधरता के विरोध में ही उग्र-व्यक्तिवाद अथवा अप्रतिबद्धता की धारणा प्रचारित हुई थी, जिसके लिए अमरीका से प्रेरणा और विचार मिलते थे। 'सांस्कृतिक स्वतंत्रता' (कल्चरल फ्रीडम) जैसे आन्दोलन मुख्यतः साम्यवादी समाजवादी धारणाओं के अवरोध के लिए ही चले थे। अज्ञेय जी इस आन्दोलन के एक सक्रिय सदस्य रहे और शायद अब भी हैं।

अप्रतिबद्धता का आन्दोलन जहाँ लेखकों की स्वच्छन्दता के लिए संघर्ष करता है वहाँ वह आजादी' की धारणा को 'आवश्यकता की पहचान' से अलग करके देखता है। मिसाल के लिए, अमरीका का अपने आर्थिक प्रभाव की आजादी चाहिए तो एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका के देशों को इस आर्थिक साम्राज्यवाद और उसके साथ आने वाली 'वणिक संस्कृति' के विरोध की आजादी चाहिए। किन्तु 'कल्चरल फ्रीडम' के वर्ग के विचारक इस तरह सोचने से घबराते हैं।

चीन, क्यूबा, अरब देश, बर्मा और अब वियतनाम के संघर्ष 'अप्रतिबद्ध' होकर नहीं लड़े जा सकते थे। इन देशों का साहित्यकार और चिंतक आम आदमी की हरारत को अनदेखा नहीं कर सकता। अज्ञेय और वात्स्यायन के विचार एक से नहीं हो सकते क्योंकि अज्ञेय पूँजीपतियों द्वारा दी गयी सुविधाओं को भोग कर, 'मानवात्मा की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं, पर सुख से इस तरह सोच सकते हैं जैसे वह निरपेक्ष हो। हिन्दी की बड़ी बड़ी व्यावसायिक पत्रिकाएँ (धर्मयुग सारिका आदि) और पत्र (बिड़ला, साहू जैन, डालमिया आदि के), चाहे वे दैनिक हों या साप्ताहिक पक्षधर क्रान्तिकारी चेतना के विकास के लिए कुछ नहीं कर सकते क्योंकि अन्तिम व्याख्या में ये पत्र पूँजीवाद को जमाये रखने के लिए है, उखाड़ने के लिए नहीं। इसीलिए इनके सम्पादक 'बड़े होने पर जनता की दृष्टि में ज्यादा ही सड़े' साबित होते हैं।

ये बड़े व्यावसायिक पत्र पत्रिकाएँ, धन और प्रभाव के भूखे मध्य वर्ग के लेखकों को 'लेखक' बनाने में निर्णायक भूमिका अदा कर रहे हैं और

तकनीली के विरोधी 'संस्थान' इनके साथी और सहयोगी होते हैं क्योंकि उन्हें भी प्रसिद्धि चाहिए। इसलिए व्यावसायिक पत्रों का बहिष्कार सम्भव नहीं रहा हो पाता है।

लेकिन परिवेश की दुर्गति का दबाव इस षड्यन्त्र का पर्दाफाश कर देता है। इसलिए 'अप्रतिबद्धता' को बूर्ज्वा धारणा मानकर पुनः प्रतिबद्ध साहित्य की ओर ध्यान जाना है। पिछले दशक में 'अप्रतिबद्धता' का बोलबाला रहा। सन् ६० के बाद पुनः प्रतिबद्धता की प्यास बढ़ती जा रही है।

सन्' ६० के बाद लघु-पत्रिकाओं और आन्दोलनों के नाम ही इस प्रतिबद्धता को साबित करते हैं—निष्ठा, वातायन (राजस्थान), भूखी पीढ़ी (बंगाल), विद्रोही पीढ़ी (इलाहाबाद) 'दिगम्बर पीढ़ी' (आन्ध्र), और अब श्मशानी पीढ़ी।

श्मशानी पीढ़ी 'विभक्ति' (कलकत्ता) नामक पत्रिका ने कलकत्ते में शुरू की है। गत दो फरवरी को नीमतल्ला श्मशान घाट पर एक मुर्दे की अध्यक्षता में कवि गोष्ठी की गयी—

'भारतीय युवा पीढ़ी के लिये इस तरह के विद्रोह की आवश्यकता है जहाँ से शरीर या जिन्दगी की अमरता की शुरुआत हो। दार्शनिक और हिप्पी पीढ़ी पलायनवादी है क्योंकि वह यथार्थ का भजन (समाज-व्यवस्था में पूर्ण परिवर्तन) में नितान्त असमर्थ है। हर तरह के बूज्वा इस नये रचनात्मक बोध से भयभीत हैं।'

यह स्वर पिछले दशक की मासूमियत और सौन्दर्यवादिता से भिन्न है। आज हर लघु पत्रिका में रूसो वाल्तेयर शैली और मयकोवस्की के प्रेत जग रहे हैं।

फ्रांस ने फिर साबित कर दिया है कि वामपंथी प्रतिबद्धता क्या कर सकती है। ज्याँ पाल सार्त्र ने छात्रों के सम्मुख क्या कहा, यह तो अभी नहीं पढ़ने को मिला, लेकिन अस्तित्ववाद जिसे कुछ अपढ़ और कुछ प्रतिगामी लेखकों ने बड़े ही मरियल रूप में पेश किया है कितना क्रांतिकारी हो सकता है यह सार्त्र और कामू के लेखन और कर्म से साबित होता है।

प्रतिष्ठानों द्वारा लेखकों और विचारकों को नयी प्रतिष्ठा' और पद मिले हैं—उनसे एक अभिजात लेखक या अभारतीय लेखक का भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस दशक में साहित्य की तटस्थ पसन्द भूमिका को नकारा जाता

है और सिर्फ गतिहीन सौंदर्य, कर्महीन चरित्रचित्रण अथवा देशकाल निरपेक्ष सर्वातीत सृजन को ही महत्व मिलता है। ऐसे वातावरण में आत्म शिल्पी सर्जक 'आत्मा की सम्भावनाओं' पर ध्यान नहीं देते, वे सिर्फ चेतना की दुरूहताओं तथा दुर्गतियों को रूपायित करते हैं। इससे पाठक एक ऐसी मिथ में विहार करने लगता है जिसमें वास्तविक जीवन अमूर्त, निरर्थक और निर्मूल्य प्रतीत होता है। यह अज्ञेय के 'नव रहस्यवाद' में, 'नदी के द्वीप' में भारती के क्षयी रोमांस में और इन्हीं के चले चपाटों के लेखन में मिलता है।

यह याद रखना चाहिए कि पिछले दशक की 'नयी कविता' में हमारे देश की असंगतियाँ और अन्धता ही प्रतिबिम्बित हुई हैं—उनके विरुद्ध संघर्ष कमजोर हुआ है। कविता में शमशेर, मुक्तिबोध जैसे प्रगतिकामी कवि अवश्य अपने अन्तर्द्वन्द्वों के साथ-साथ व्यापक विद्रोह के प्रति जागरूक रहे हैं। इस विद्रोह चेतना ने ही नयी कविता का सर्वश्रेष्ठ कवि मुक्तिबोध को बनाया, न कि अज्ञेय को। नयी कहानी में कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, राकेश वगैरह ने अधिक यथार्थबोध का परिचय दिया है लेकिन वह भी अपने बुर्ज्वा घिराव और दबाव से बच नहीं सके।

इस दबाव का एक दिलचस्प सबूत यह है कि 'अस्वीकृति', 'अजनबी', 'वरण' जैसी नास्तिबोधक धारणाएँ हिन्दी में जुल्म का रहने के लिए प्रयुक्त की जाती रही हैं। कामू का 'अजनबी' (आउट साइडर) बुर्ज्वा समाज से भयंकर लेकिन गहरी और शीतल घृणा करता है। द फाल में कामू एक सफल आधुनिक व्यक्ति का आत्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अपनी कमजोरियों के प्रति यह निर्ममता 'सत्य के प्रति प्रतिबद्ध' लेखक में ही होती है—किसी 'सत्य' के नाम पर अपने को जमाने वाले लेखक रंग दिखाते हैं और अधिकतर लेखक इस नैतिक साहस से रहित हैं।

देश के श्मशान बनते जाने में एक यह भी कारण है। मुर्दे अप्रतिबद्ध होते हैं, लेकिन 'शव साधना' से 'शव' भी जग जाता है। अनुरक्त और पूँजीवादी मूल्यों का शिकार भारतीय लेखक इस 'शव साधना' से डरता है लेकिन अब नव्यतर पीढ़ी सन ६० के बाद आक्रोश और स्वस्थ अस्वीकृति को वाणी दे रही है मगर जानिन्मारा के नीचे से जमीन खिसक रही है।

आधुनिकता के विषय में

"आधुनिकता" एक दृष्टि है एक प्रक्रिया है इसलिये इसे एक निश्चित धारणा में बांधने की कोशिशें व्यर्थ साबित हुई हैं। यह प्रक्रिया, देश काल के अनुसार विविध रूपों मे दिखाई पड़ती है इससे कठिनाई और बढ़ जाती है। विकास के सोपान भिन्न होने से, एक देश मे जो आधुनिक माना जाता है उसे दूसरे देश मे गतानुगतिक मान लिया जाता है।

देश और काल के अतिरिक्त, विभिन्न ज्ञान क्षेत्र इस आधुनिकता की विशिष्ट परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिये कुछ अर्थशास्त्री समाज शास्त्री आधुनिकता का एक ही भेदक लक्षण मानते हैं—"टक्नालाजी या तंत्र कौशल। प्राचीन युग को आधुनिक युग से तंत्र कौशल के आधार पर अलग किया जा सकता है इसमें सन्देह नहीं लेकिन साहित्य और कला के क्षेत्र में केवल तंत्र कौशल तक ही आधुनिकता को सीमित नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि रचना मात्र तंत्र कौशल नहीं होती उसमे "तत्व (विचार भाव, संवेदना) का निर्णायक महत्व होता है। मसलन् स्फटिक में प्रकृति का मात्र तंत्र कौशल नहीं है। स्फटिक भौतिक तत्वों की ही एक विशेष संगति का नाम है। इसी तरह काव्य और कलाओं में सिर्फ कारीगरी नहीं होती लेखक या स्रष्टा का विश्वबोध, भाव और संवेदन का भी मूलभूत महत्व होता है।

प्रो० राजकृष्ण[1] का कथन है कि साहित्यिक कृतियों या अन्य कला कृतियों या अन्य कलाकृतियों के विषय में आधुनिकता के आधार पर निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि तंत्र कौशल की दृष्टि से बहुत विकसित युगों के "सहृदय' लोग प्राचीन कला को पसन्द कर सकते हैं और उनमे अपनी मानसिक समस्याओं का समाधान भी खोज सकते हैं। इसलिये सृजन के क्षे

---

१ 'परम्परा और आधुनिकता' पर अनुसंधान परिषद्, हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित परिसंवाद में प्रो० राजकृष्ण के विषय प्रवर्तक भाषण। (१९६८)

मे, "रुचि" के ऊपर आधुनिकता को छोड देना चाहिए। बीसवी शताब्दी का कोई आधुनिक व्यक्ति गाथिक स्थापत्य को पसन्द कर सकता है, कोई 'शास्त्रीय संगीत' को अधिक 'शुद्ध' और अमूर्त' मान सकता है कोई विगत रचनाओं का पूर्ण तिरस्कार कर, सिर्फ सामयिक कला को ही आधुनिक कह सकता है तो कोई महाभारत और रामायण, इलियड और ओडसी, युद्ध और शांति तथा हैमलिट से मानसिक खुराक पा सकता है। तन्त्र कौशल की तरह इसान जल्दी जल्दी नहीं बदलता अतएव प्रो० राजकृष्ण के मतानुसार, कला और सजन के क्षेत्र को "रुचि" के तत्व पर छोड देना चाहिए क्योंकि तन्त्र कौशल के सिवा, आधुनिकता के अन्य भेदक लक्षणों को गिनाते ही, उनका खडन हो जाता है।

लेकिन यदि "तत्व" को ध्यान मे रखकर—"आधुनिकता" पर विचार करें तो पश्चिमी देशों म यानी पू जीवादी देशों मे "मनुष्य" के विषय मे एक क्रमतपूर्व धारणा का विकास हुआ है।—मसनन एथौनी क्रोनिन का विचार है कि आधुनिकता का परम्परगत सजन से मुख्य अंतर इस प्रकार है —

"आधुनिक सजन मे जीवन की बुनावट का यथावत् अकन होता है जसाकि 'यूलिसिज' (जेम्स ज्वायस) मे हुआ है। मानव स्वभाव सकुल (काम्प्लक्स) है प्राचीन और मध्यकालीन लेखक उसे 'सरल' समझते थे। बहुत से समसामयिक स्रष्टा भी मानव स्वभाव की गूढता को नहीं समझते वे भद्रता की धुन मे आदमी की नीचता कमीनापन गन्दगी और अविश्वसनीयता को छुपाकर लिखते हैं। इसके विपरीत प्रारम्भिक "आधुनिक" लेखक जेम्स ज्वायस और बोदलेयर वगरह ने आदमी के—भ्रमो (आदर्शों मूल्यो स्वप्नो) के नीचे छिपे असली रूप को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने "काव्यभावो (Poetic emotions) के स्थान पर अर्थात् प्राचीन काव्यो म चित्रित सामान्यीकृत रति हास विस्मय ग्लानि आदि काव्यभावों क स्थान पर, असली भावो और मशाओ का, स्वार्थों और क्षुद्रताओं का वणन किया है और इनके वणन म,—'तन्त्र कौशल' से काम लिया है। इस प्रकार तत्व की दृष्टि स आधुनिकता का प्रथम लक्षण भ्रमो का ध्वस और सकुल मानव स्वाभाव का चित्रण है।"[1]

मनुष्य के मन की सच्ची तस्वीर पेश करन म, 'सपाट-बयानी' काम नहीं दे सकती यानी "सपाट-बयानी' का अथ है कि लेखक मे 'अभिधा की

---

1 द्रष्टव्य—ए डिफ़िनिशन आफ माडर्निटी—एथौनी क्रानिन,

गहराई '[२] और "ईमानदारी" का अभाव है। ईमानदारी का मतलब है कि रचनाकार "आदमी के मूल स्वरूप से परिचित होकर भी कभी-कभी, किसी बाह्य उद्देश्य से, उसे "भद्र' या "महान' या "उदात्त" रूप में चित्रित करना चाहता है—अत सच्चाई के साथ समझौता न करके सत्य को नग्न रूप में—अंकित करना ही आधुनिकता है।

आधुनिकता की इस "पश्चिमी-परिभाषा" में—परम्परागत "उदात्त", भव्य', "महान', "आदर्शवादी", 'त्यागी', "वीर" और— भद्र नायक का दूसरा ध्रुव प्रस्तुत किया गया है। परम्परा से आधुनिकता का विकास इन ध्रुवों में समझा जा सकता है —

परम्परा	आधुनिकता
१ आदर्शवादी	१ यथार्थ प्रिय
२ निश्चय	२ अनिश्चय
३ भद्रता शालीनता	३ अभद्रता अशालीनता
४ शांति	४ क्षोभ अशांति
५ पारलौकिकता	५ इहलौकिकता
६ मर्यादा	६ स्वच्छन्दता
७ सामाजिकता	७ व्यक्तिवाद तथा "असोशल" होना
८ विश्वास	८ विश्वास का सकट—अविश्वास
९ नैतिकता	९ अनैतिकता (अमारल) तथा नैतिकता विरोध
१० मानव सम्बन्धों में स्थिरता	१० सम्बन्धों का सकट, मानव सबधों के विरुद्ध विद्रोह
११ सृजन का उद्देश्य—मनोरंजन और उच्चतर मानव मूल्य, प्रकाश की खोज	११ सृजन द्वारा स्वयं प्रकाशन तथा मनुष्य का भ्रमभग, छाया या अंधकार की पहचान
१२ तन्त्र कौशल या भाषा शैली में प्रयोगों का अभाव	१२ नूतन प्रयोग, वैज्ञानिक औद्योगिक और नागरिक बिम्बविधान

---

२ डेप्थ आफ अवेयरनेस

इस मुद्दे की ओर इशारा किया जा सकता है कि आधुनिक स्रष्टा की मानसिकता, दृष्टि और परम्परा को समझने के लिए इतना काफी है। इस सन्दर्भ में एक-दो बिन्दुओं का स्पष्टीकरण आवश्यक है। "आधुनिक" लेखक "परम्परा" को एक 'स्टोर' या पुराने सामान के ढेर की तरह मानता है जिसमें कुछ तत्व परम्पराओं । समाज में जीवित रूप में भी दिखाई पड़ते हैं। सनातन धर्मी समाज में, जातियों का एक बड़ा भाग अब भी देवी-मूर्तियों, धर्म कर्म आचार रीति रिवाजों में विश्वास करता है। इन्हें भी 'आधुनिक' एक 'स्टोर' के रूप में ही देखता है और पुरानी पुराण-कथाओं, पात्रों और गाथाओं का प्रयोग भी कर सकता है। लेकिन आधुनिक उनका प्रयोग किसी 'आस्था' जगाने के लिये या किसी भी—'मूल्य-व्यवस्था" को स्वीकारने के लिए पैदा नहीं करता बल्कि उनसे एक— आधुनिक' मानसिकता उत्पन्न करने के लिये करता है। कामू ने 'सिसीफिस' जेम्स ज्वायस ने "यूलिसिस" धर्मवीर भारती ने महाभारत की कथा (अन्धायुग), कुंवर नारायण ने नचिकेता (आत्मजयी) और राजकमल चौधरी ने 'मुक्ति प्रसंग' में तांत्रिक देवी के मिथकों और प्रतीकों का प्रयोग किया है। इस तरह "आधुनिक लेखक परम्परा की सामग्री का अपने प्रयोजन के लिये प्रयोग करता है परन्तु वह दूसरे ध्रुव पर बैठकर ऐसा करता है।

दूसरा बिन्दु है स्थायीभावों की जगह—संकुलभावों का प्रश्न। आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव मन की जटिलताओं का एक विकट रूप प्रस्तुत किया है अतएव वाल्मीकि, तुलसी और हरिऔध के भावुकतावादी विवरण, कालिदास माघ और श्री हर्ष के रसात्मक चित्रण, इस भ्रम पर आधारित प्रतीत होते हैं कि मानव भाव सरल और सीधे होते हैं। जबकि "आधुनिक" तथ्य यह है कि भाव स्थायी और संचारी की कोटियों में न बंटकर एक दूसरे को काटते चलते हैं। पुराने जीवन और समाज में भावों की सरलता रहती है लेकिन संकुल समाजों में मानव सम्बन्धों की अस्थिरता और द्वन्द्व के कारण, अनेक विचारधाराओं और विज्ञान के कारण भाव सीधी रेखाओं में नहीं चलते। वे परस्पर "बाधक-बाध्य" रूप धारण करते हैं अतः "रस सिद्धान्त" के मूल आधार, भावों के साध्य साधक सम्बन्ध, का खंडन हो जाता है। प्राचीन साहित्य में, विशेषकर भारतीय साहित्य में, एक "स्थायीभाव" (रति, हास, विस्मय आदि) को अनेक संचारियों द्वारा पुष्ट किया जाता था। स्थायी भाव 'साध्य' माना जाता था, व्यभिचारी 'साधक' लेकिन यह सरलीकृत धारणा अब खंडित हो चुकी है क्योंकि कोई भी सचेत और आधुनिक

व्यक्ति आत्मनिरीक्षण की विधि से भी देख सकता है कि परिस्थिति की जटिलता के कारण, भाव, एक दूसरे के प्रति बाध्य बाधक विधि अपना लेते हैं। आधुनिक कला की अस्पष्टता या संकुलता का यह एक बहुत बड़ा कारण है और इसीलिये 'रस सिद्धान्त' की सरलीकृत व्याख्या के आधार पर इसे नहीं समझा जा सकता। कभी कभी तो 'भाव' का पता ही नहीं चलता सिर्फ सपनों, मानसिक भ्रमों, मुक्त सहचार, अवचेतन के तर्कहीन इन्द्रजालों और सनकों का ही चित्रण होता है। इस स्थिति में "भाव" को ही काव्यसर्वस्व मानने वाले शास्त्रीय सिद्धान्त "दयनीय" लगने लगते हैं।

पश्चिमी देशों और उनसे प्रभावित अन्य देशों की आधुनिक कला और और साहित्य में सामयिक 'संकट और संक्रान्ति' की गहरी छानबीन की गई है। इसीलिये 'वातायन' में "आधुनिकता और समसामयिकता" शीर्षक निबंध में मैंने, "संक्रान्तिबोध" को आधुनिकता का भेदकलक्षण स्वीकार किया था। आधुनिक सृजन में आज के जागरूक इन्सान की घबराहट उलझन, अलगाव, अप्रतिबद्धता अनिश्चय अनास्था और द्वन्द्वता की "कलात्मक" तस्वीर खींची गई है। जैसे मनुष्य अपनी सारी विचारगत और सांस्कृतिक जड़े काटकर, घटनाओं को सर्वथा अपरिहार्य समझकर और किसी भी तरह के "शुभ-परिवर्तन" के भ्रम को छोड़कर सिर्फ अपनी 'सनक' में जी रहा हो। सृजन के भ्रम का वह फिर भी नहीं छोड़ सका है। वह मूर्त-अमूर्त विधियाँ अपनाकर इस शताब्दी के खतरों और आशंकाओं को व्यक्त करके लेकिन उन्हें दूर करने का भार दूसरों पर छोड़कर आत्मलीन हो गया है। 'भ्रमों' का विरोध करते और इन्सान के अंधकार पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करते हुए यह एक विराट 'शून्य' का गवाह बनकर जी रहा है। संशय और अनिश्चय उसके साथी हैं और उग्र प्रतिक्रिया उसका अस्त्र। चिढ़ खीझ और लताड़ के अलावा वह क्या करे यह वह स्वयं नहीं समझ पाता क्योंकि प्रगति की जिन वैज्ञानिक और सामाजिक शक्तियों (जनतन्त्र तथा समाजवाद) की उसने हिमायत की थी वे ही अब मानवता की बेड़ियों में परिवर्तित हो गई हैं। एक विराट तकनीक का एक पुर्जा बनकर वह 'मुक्ति' का कोई उपाय नहीं देख पाता अतः ऐसा संवेदनशील व्यक्ति कभी तो कामू की तरह 'निरन्तर विद्रोह" ('क्रान्ति' नहीं क्योंकि क्रान्ति या रिवोल्यूशन फिर एक व्यवस्था या प्रतिष्ठान में आदमी को बाँध देता है) की बात करता है और कभी, सात्र्र की तरह आस्थाओं के भ्रम को पुनः पालने की ओर झुकता है। युद्ध का रोबस के अलावा अन्य किसी काम में 'प्रामाणिकता' का अनुभव नहीं होता।

अतीन्द्रिय स्तरो के भ्रमो को तिलाजलि देकर, वह सिर्फ इन्द्रियो के "भ्रमो" को ही विश्वसनीय पाता है। "सस्कृति" और 'मूल्य', 'राजनीति' और "प्रगति" "मानवता' और "राष्ट्रीयता' जसे शब्दो के पीछे वह कुछ स्वार्थी और मूर्ख नेताओ का छल कपट पाता है और तृतीय विश्वयुद्ध के लिए वह 'विचारधारो' और उनके 'प्रचारको" को दोषी ठहराता है।

परिवेश "असगत" होने पर, तीखे अहसास वाला व्यक्ति, 'आत्म केन्द्रित' ही हो सकता है और सार्थकता की खोज से, वह अपने पर 'प्रयोग" करने लगता है। 'खतरनाक ढग से जियो" 'समाजगत' नहीं 'जीवनगत' दृष्टि अपनाओ "अपने लिए खुद सकट खडा करो और फिर उस हालत मे आत्म साक्षात्कार करो, विवेक द्वारा परिवेश नही बदल सकता तो घृणा द्वारा उसका सम्पूर्ण निषेध करो "वशिष्ठ बनकर नही, दुर्वासा बनकर शब्द की जगह अपशब्दो का प्रयोग करो'—इस प्रकार के विचार "आधुनिक" व्यक्ति का अतिरिक्त सवेदनशीलता और उसके पीछे छिपी "मानव के लिए चिन्ता" की गवाही देते हैं।

इसे साबित करने की जरूरत नही है कि पिछले दशक म इस "आधुनिकता" का भारतीय भाषाओ पर ही नही बल्कि विश्व की अनेक भाषाओ मे साहित्य और कला पर प्रभाव है—दूसरे शब्दो म यह 'अतर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति है। क्योकि आधुनिक' किसी देश जाति, स्थान, अचल धर्म या सम्प्रदाय को "सम्बद्ध" नही होना चाहता अत वह अपनी सवेदना और अतर्दृष्टि के अतिरिक्त किसी मूल्य व्यवस्था का, किसी आग्रह और अनुरोध को स्वीकार नही करता।

"सम्पूर्ण अस्वीकृति" ही इस आधुनिकता की सर्वव्यापी पहचान है।

'अलगाव" और अस्वीकृति की मात्रा और स्वरूप के अनुसार ही ही 'विरोध" का उदय होता है। यह विरोध' किसी स्पष्ट जीवनदर्शन या 'समाजदर्शन पर आधारित नही है। यह विरोध वस्तुत असगतियों की ओर ध्यान आकर्षण के लिए है या 'आत्मप्रतिष्ठा' के लिए है। कभी ये दोनो तत्व एक साथ ही मिले जुले रहते हैं। विरोध का कोई समान आधार न रहने से, विरोध विद्रोही कलाकार प्राय सनकीपन म डूब जाते हैं। वह क्यो और 'किसलिए" प्रश्न जसे प्रश्नो अथवा वज्ञानिक की तरह कारण-कार्य विधि पर सोचने वालों से भी घृणा करने लगते हैं। इस तरह विरोध और विद्रोह एक मानसिक रुग्णता" की ओर बढ़ने लगता है और यह स्थिति पागलपन आत्महत्या, वरन, व्यभिचार आत्मपीडन, परपीडन, नग्नता क्रूर, प्र त

दम्भ और दा ये परिणित होती है। कलाकार जीवन ने या समाज म नही आत्ममथन या 'ब्रूडिंग' म जीने लगता है और इस स्थिति मे पदार्थ प्रकृति और मनुष्य जिस तरह प्रतीत होते हैं उसी तरह वह उन्हें चित्रित करता है। किसी भी प्रकार के बौद्धिक अनुशासन या भाव प्रेम से उसे चिढ हो जाती है।

आधुनिक सृजन की असामान्यता, असाधारणीकरण, उसकी 'नीरसता' और उच्छृंखलता का कारण यही है। 'परिचित' और 'सामान्य' यथार्थ से कटकर मादक द्रव्यों के सेवन से, 'नवीन यथार्थ'' की खोज का कारण भी यही है।

आधुनिक सृजन की न्यूनता बताते हुए एन्थोनी थोनिन ने भी यह स्वीकार किया है कि आधुनिक रचना जगत म समन्वय सूत्रों' का अभाव है। आधुनिक सृजन, स्वच्छन्दतावादी सृजन की तरह कोई भावात्मक या दार्शनिक समन्वय प्रस्तुत नहीं कर सका।[१]

'संक्रान्ति'' (केयोस या क्राइसिस) की प्रतिबिम्बत या ध्वनित करने वाले ''आधुनिक आन्दोलन को प्रा० राजकृष्ण की तरह मान तन्त्र कौशल के आधार पर प्राचीन से अलग नहीं किया जा सकता, यह स्पष्ट है। प्राचीन और आधुनिक सृजन के बोध और अनुभव म भी विपरीतता है।

पूंजीवादी देशों के दार्शनिक और साहित्यचिन्तक इस आधुनिक अलगाव अस्वीकृति और 'केयोस को शाश्वत मानने लगते हैं यानी वे उसे मानव जीवन का अनिवार्य दशा[२] मानते हैं। ईसाई मत जिस तरह आदिम पाप'' की धारणा को और हिन्दूमत जिस तरह मानव भाग्य या नियति के विचार को अपरिहार्य जीवन दशा मानता है उसी तरह आधुनिक अलगाव या अजनबीपन को अस्थायी नहीं, स्थायी जीवन स्थिति माना जाने लगा है। लेकिन अलगाव और केयोस' स्थायी दशाएँ नहीं हैं, वे मनुष्य के ऐतिहासिक विकास म अस्थायी सोपान मात्र हैं।

आत्मगत दृष्टि से 'अलगाव भले ही अपरिहार्य स्थिति लगे लेकिन वस्तुगत दृष्टि से वह वास्तविक जीवन विधि का ही प्रतिबिम्ब है। मानव समाजों म अलगाव' का मूलभूत कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूंजी' है जो आदमी को चीजों मे बदल देती है और कुछ थोड़े से लोगों के हाथों

---

१ It has no emotional no philosophical synthesis as did the Romantic movement वही पृष्ठ २२

२ Human condition

मे पूंजी और अधिकार केंद्रित हो जाते हैं। राज्य, नौकरशाह और कुबरपति और उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए बौद्धिक समर्थन देने वाले 'प्रबुद्ध' लोग, इस विराट शोषण और आधुनिक दास प्रथा' को चला रहे हैं। इस तरह के समाज मे चीजो तथा पद के लिए भयकर प्रतियोगिता होती है। फलत श्रमिक अपने 'श्रम' को, विद्वान अपनी विद्वत्ता को कलाकार अपनी 'कृति' और प्रतिभा को तथा वणिक अपने उत्पादन को बेचने के लिए विवश होते हैं और बेचने के लिए 'आत्मविज्ञापन' अनिवार्य हो जाता है गुटबन्दी उठाह पछाड वगरह सब व्याधियाँ बाजारू जीवन विधि से ही उत्पन्न होती हैं।

प्रतियोगिता और मुनाफे पर आधारित उत्पादन और वितरण अव्यवस्थित और अनियोजित रहता है—उत्पादन विधि में निहित यह "केयोस" ही, सृजन मे प्रतिबिम्बित और अंकित होता है और जब तक व्यक्तिगत स्वामित्व से रहित और सहयोग पर आधारित उत्पादन और वितरण विधि को नहीं अपनाया जाता तब तक अलगाव और कंयौस सत्रास और सनय "शाश्वत" प्रतीत होते रहेंगे। अतएव पूर्ण आधुनिक साहित्य और सृजन वही हो सकता है, जो इस मूल कारण के प्रति पाठक को सचेत करे। सच्चा कृतिकार मात्र फोटोग्राफर या प्रतिबिम्बक दर्पण मात्र नही होता वह यदि "परिभू स्वयभू" है तो उसे अपनी सृष्टि को 'साधक" बनाना होगा— आत्मजयी' 'आत्महत्या के विरुद्ध' अधेरे में' जसे कोशिश इसी दिशा की ओर सकेत कर रही हैं—

> अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे
> तोड़ने होंगे ही मठ और गढ सब
> पहुचना होगा दुगम पहाडो के उस पार
> तब कही देखने मिलगी बाहे जिनमे कि प्रतिपल कांपता रहता
> अरुण कमल एक
> ले आने उसको धँसना ही होगा, भील के हिम ठण्डे जल मे!
> (मुक्तिबोध)

यदि आधुनिकता' एक प्रक्रिया है तो मात्र सम्प्राप्ति और अस्वीकृति प्रतिबिम्बन से अब ऊब होने लगी है और विरोध के स्वर की मांग बढ रही है अत 'निषेध' का 'निषेध', 'गतिशील आधुनिकता' का लक्षण माना जाना चाहिए। इस गतिशील या वामपथी या प्रगतिशील आधुनिकता का केन्द्रीय तत्त्व है, 'मनुष्य मे आस्था, यह विश्वास कि इ सान र प्रय मे रव

हालात को बेहतर बना सकता है। इस बिन्दु पर, अब मात्र निराशावादी स्वर अनाधुनिक लगने लगे हैं यानी आधुनिकता को नवीन तत्व (कन्टेंट) प्रदान किया जा रहा है। पिछले दशक की 'नयी कविता' पर उक्त 'पश्चिमी आधुनिकता'' का बहुत अधिक प्रभाव था, जिससे 'मुक्तिबोध' जैसे कवि ही अपना स्वतन्त्र मार्ग बना सके थे। अब साठोत्तरी सजन में रचनाकार आक्रोश अधिक प्रकट कर रहा हैं। आक्रोश भावात्मक या पाजिटिव स्वर होता है ''ऊब'' अभावात्मक या निगेटिव मनोवृत्ति होती है अतः पिछले दशक को पछाड़ कर, प्रस्तुत दशक ''तत्व'' की दृष्टि से प्रगतिवादी दशक से हाथ मिलाने लगा है। वास्तविकता की अधिक समय तक उपेक्षा हो भी नही सकती। लेकिन, आधुनिकता की बदलती प्रक्रिया मे एक नया खतरा भी पदा हो गया है। 'अभिज्ञा की गहराई' का अभाव बढ रहा है अतएव कविता सपाट बयानी मे बदल रही है। रघुवीर सहाय के 'आत्म हत्या के विरुद्ध' मे तो यह सूत्र है लेकिन श्रीकान्त वर्मा के 'माया दपण' मे, अस्तित्ववादी स्थितियाँ भी सतही रूप लेकर व्यक्त हुई हैं। 'संकुलता' के विरुद्ध प्रतिक्रिया म ''सकुल सरलता' नही, वक्तव्यता आ रही है। 'आत्महत्या के विरुद्ध' म इस तरह की सकुल सरलता विरल ही है—

कितना आसान है पागल हो जाना
और भी जब उस पर इनाम मिलता है !

उधर 'अकवि' जगदीश चतुर्वेदी 'अनिश्चय के बीच हाहाकार मा जीवित हूँ मैं', जसी अतिरजित पक्तियाँ लिखत हैं और अज्ञेय 'कितनी नावो मे कितनी बार' म जसे अपनी आतरिकता के स्थान पर घोषणा का मार्ग अपना रहे हैं। धूमिल जगूडी, सव्यसाची, वगरह की साठोत्तरी कविताओं मे 'कथ्य का तेज' और 'कहने की होशियारी' के बावजूद, ऊपरीपन बहुत अख रता है। इस अचल के कवियों मे रणजीत वीरेन्द्र सक्सेना भारत रत्न भार्गव, विजेन्द्र बजरग विश्नोई और ऋतुराज मे यथाथ की पहचान है लेकिन ये कवि भी 'ऊपरीपन' और कलात्मक अनुशासन मे प्रति लापरवाही बरत जाते हैं।

प्रश्न होगा कि सकुलता और सक्रान्तिबोध 'महाभारत' म भी है और ग्रीक नाटको म भी तब इन्हे आधुनिक क्यो नही कहा जाता? इसका उत्तर यह है कि प्राचीन सजन में आधुनिक तत्वों का होना असम्भव नहीं है। उत्कृष्ट कोटि की कृति सवदा— त्रिविधायामी होती है अतएव

भूत समस्याओं की कुछ झलक प्राचीनों को भी मिली थी। यही कारण है कि हम "प्राचीन की वर्तमानकालीनता" में दिलचस्पी लेते हैं। रामायण में राम प्रयत्न करके भी अपना जीवन सफल नहीं बना पाते—यह 'प्रयत्नों की व्यर्थता" की झलक का सबूत है। फिर भी मनुष्य संघर्ष करता है और प्राचीन साहित्य इस प्रकार की मानववृत्तियों के कारण तथा आधुनिक सृजन का 'कंट्रास्ट' प्रस्तुत कर सकने के कारण आकर्षक लगता है। वह पूरी तरह तृप्ति इसलिए नहीं दे पाता क्योंकि वह अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति का प्रतिबिम्ब है लेकिन प्रत्येक 'विशिष्ट' में 'सार्वकालिक" छिपा रहता है, उसी का अनुसंधान प्रत्येक युग नए सिरे से करता है और इसतरह 'आधुनिक" को 'परम्परा' समृद्ध और पूर्ण बनाता है। इस प्रकार 'विरोध और स्वीकृति' के द्वन्द्व से परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध प्रमाणित होता है। आधुनिकता, परम्परा का ही एक गुणात्मक परिवर्तन प्रस्तुत करती है।

आधुनिकता के विषय में अंतिम बिन्दु यह है कि यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्रतियोगी उत्पादनविधि ही सारे संकट का कारण है तो साम्यवादी देशों के युवतुशंको जैसे कवि विद्रोही क्यों बन रहे हैं? सहयोगी समाज होने पर भी वहाँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अभाव होने से, कला और साहित्य क्या औपचारिक होता जा रहा है?

इसका जवाब यह है कि मानव के समूचे संघर्ष के इतिहास में, पहली बार साम्यवादी देशों में वर्ग वर्णहीन समाज की रचना हो रही है। हजारों वर्षों से, शोषण, प्रभुत्व और प्रतियोगिता का अभ्यस्त मनुष्य साम्यवादी समाज में एकदम नहीं बदल जाता। दूसरे पूँजीवादी देशों द्वारा घिराव के कारण शासन और दल के सम्मुख 'सामूहिक हित' प्रधान रहता है। फिर उन्हें अनेक विकास-सोपान कम से कम समय में पार करने पड़े हैं इसलिए वहाँ भी असंगतियाँ और विसंगतियाँ हैं, लेकिन गौरतलब तथ्य यह है कि पश्चिमी देशों की तरह वहाँ 'मर्यादा' और 'सद्भाव' का संकट नहीं, क्रांति से उत्पन्न समस्यायें हैं और संवेदनशील कलाकार वहाँ भी शासन दल और नौकरशाही की जड़ताओं के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। दुन्त्सेव (सिर्फ रोटी नहीं) से लेकर युव्तुशंको तक, वहाँ भी विरोध की एक शृंखला है जो सृजन के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप के विरुद्ध लड़ती है।

लेकिन एक 'जनराज्य' और 'वणिकतन्त्र' की कोई तुलना नहीं हो सकती। साम्यवादी देशों में 'आम आदमी' की कद्र होती है वहाँ आदमी का

'चीज नहा माना जाता । रूस के एकाधिकार की जगह वहाँ की जनता अपने जनतान्त्रिक अधिकारों को भी ले सकेगी लेकिन पूँजीवादी जनतन्त्रों मे तो मुक्ति का कोई उपाय ही नजर नही आ रहा है, इसलिए यहा ता अभी गतिशील आधुनिकता के अनुकूल समाज की सरचना भी शुरू नही हुई है। बूर्ज्वा शासक देश को मुक्त बाजार' बनाते चले जा रहे हैं।

इस देश मे वामपन्थी 'गतिशील' आधुनिकता का भविष्य पश्चिम की 'क्षयिष्णु आधुनिकता की नकल के साथ सम्बद्ध नही है और न वह रूस चीन की अन्धी अनुकृति के साथ जुडा हुआ है। वह हमारी 'मौलिकता' के साथ सम्बद्ध है यानी अपने देश काल के गभीर विश्लेपण और प्रतिबिम्बन तथा 'स्वतन्त्र एवम सही' निणय लेने पर निभर है। लेकिन इसका आधार, 'सहयोगी समाज की धारणा ही हो सकती है, सीढीदार (हायरार्किल) समाज के आधार पर आधुनिक मानवीय समाज और साहित्य की रचना नही हो सकती।